प्रमाणों के सन्दर्भ में वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्त्तिक का तुलनात्मक अध्ययन

(A Comparative Study of Vedanta-Paribhasa and Slokavartika with special reference to Pramanas)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

निवेदिता

निर्देशक

डा० सन्त नारायण श्रीवास्तव्य

रीडर, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

1986

निवेदनम्

मन में विश्वासपूर्वक 'असीम' के प्रति श्रद्धा प्रायः दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में पहुँचा देती है। प्रारम्भ से ही दार्शनिक संस्कार होने के कारण विशेषतः एम० ए० उत्तरार्द्ध में भारतीय दर्शन ऐच्छिक विषय के रूप में चुने जाने के कारण इन संस्कारों को प्रगाढ़ता मिली। सम्भवतः ये दार्शनिक संस्कार पितृकुलगत पूजनीय पिता जी (स्व० श्री लक्ष्मी शङ्कर) की ही देन हैं जो स्वतः एक आध्यात्मपरायण तथा 'असीम' के प्रति सदैव श्रद्धानत रहने वाले व्यक्ति थे। 'असीम' के प्रति उनकी श्रद्धा तथा आत्मविश्वास भयानक विपत्ति के समय भी बड़े सहायक होते थे। प्रारम्भ से ही नियति की व्यवस्था को देखकर मैं अनेकशः उनसे प्रश्न पूछती जो बहुधा दार्शनिक हो जाते थे। उनका उत्तर वे आत्मानुभूति से देते जो सदैव मुझे प्रभावित करते रहे। उन्हीं की अमूर्त प्रेरणा तथा आशीर्वाद से दार्शनिक विचारों के प्रति रुचि रखती हुयी मैं प्रस्तुत शोधप्रबन्ध लेखन की दिशा में अग्रसर हो सकी।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के निर्देशन में गुरुवर्य डा० सन्त नारायण श्रीवास्तव्य, रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने अपना अमूल्य समय दिया जो उनके वैदुष्य तथा सौहार्द के अनुरूप है। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। शोध विषय के चुनाव में उन्होंने मुझे पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा की ज्ञानमीमांसा पर सम्मिलित रूप से कार्य करने का सुझाव दिया। वस्तुतः भारतीय दर्शन की परम्परा में पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में पूर्वमीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय तथा उत्तरमीमांसा के अद्वैत सम्प्रदाय (धर्मराजाध्वरीन्द्र) की ज्ञान-मीमांसा का तुलनात्मक रूप से वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। कुमारिल भट्ट का ग्रन्थ 'श्लोकवार्तिक' मीमांसादर्शन को महत्वपूर्ण देन है जो दार्शनिक पाण्डित्य का परिचायक है। धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत 'वेदान्त-

परिभाषा' नैयायिक शास्त्रीय शैली में लिखा हुआ तथा अद्वैत ज्ञानमीमांसा का विवेचन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्लोकवार्तिक के मूल तथ्यों को समझने हेतु हमने पं० गङ्गा नाथ झा कृत आंग्ल अनुवाद को आधार बनाया। वस्तुतः श्लोकवार्तिक तथा वेदान्तपरिभाषा का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन ही भाट्टमीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी तथ्यों के अनुशीलन में विशेष सहायक हुआ।

पूज्य गुरुवर्य डा० बाबू राम सक्सेना (भूतपूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के असीम स्नेह तथा दिशानिर्देश के बिना यह शोधप्रबन्ध पूर्ण कर पाना मेरे लिए असम्भव था। उनकी अनुकम्पा उनके सहृदय तथा उदार व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप है। मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ।

गुरुवर्य डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने अनेकशः दार्शनिक समस्याओं के समाधान में मेरी जो सहायता की वह उनकी विद्वत्ता तथा उदारता का प्रतीक है। एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

गुरुवर्य डा० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त आशीर्वाद तथा स्नेह अनेक समस्याओं के बीच भी शोधकार्य को गति प्रदान करता रहा। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

'शोधप्रबन्धविषयक अनेक दार्शनिक गुत्थियों के स्पष्टीकरण में श्री मथुरेश ओझा, पी० डी० एफ० (शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिनके सतत सहयोग के बिना मेरे लिये यह कार्य पूर्ण कर पाना दुष्कर था।

मेरे शोधप्रबन्ध के पूर्ण होने में मेरी माता जी (स्वर्गीया श्रीमती शारदा देवी) का बहुत ही योगदान है जो अहर्निश लेखन हेतु प्रेरित किया करती थीं। आज ग्रन्थाकार में विद्यमान शोधप्रबन्ध को देखने के लिए वह भी नहीं रहीं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी प्रेरणा अब भी गूँज रही है।

आदरणीय भैया (श्री नागेश्वर सहाय) तथा आदरणीया भाभी (श्रीमती मनोरमा सहाय) एवं दिव्वी (श्रीमती शकुन्तला मोहन) तथा विनोद भैया ने शोधप्रबन्ध लेखन में आने वाले व्यवधानों में बहुविध सहायता प्रदान कर मेरे उत्साह में कभी कोई कमी नहीं आने दिया । उनके इस स्नेह से मैं आजीवन अभिभूत रहूँगी ।

मेरे छोटे भाई चि० राकेश शङ्कर (शोधछात्र, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने शोधसामग्री सङ्कलन में अनेकविध सहायता की है तथा महत्वपूर्ण सुझावों द्वारा मुझे लाभान्वित किया है -- उसकी उत्तरोत्तर प्रगति हेतु शुभकामनायें ।

अपि च, मैं उन सभी विचारकों तथा लेखकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अप्रत्यक्षरूपेण मेरे विचारों को दृढ़ता प्रदान की है ।

मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति आभार प्रकट करती हूँ । आयोग द्वारा मुझे जूनियर रिसर्च फेलोशिप प्रदान किया गया जिससे आर्थिक कठिनाइयों के इस युग में मेरी अनेक आर्थिक समस्यायें दूर हो गयीं । शोधप्रबन्ध की एक प्रति आयोग को भी प्रेषित है ।

टङ्कण कार्य हेतु पं० श्यामलाल तिवारी (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने टङ्कण की शुद्धता एवं स्पष्टता का अधिकाधिक ध्यान रखा है ।

(निवेदिता)

विषयानुक्रम

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय		पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

शब्द संक्षेप

ऋ० सं०	-	ऋग्वेद संग्रह
क० टी०	-	कर्णकोमि टीका
का०	-	कारिका
जै० सू०	-	जैमिनि सूत्र
त० कौ०	-	तत्त्व कौमुदी
त० चि०	-	तत्त्व चिन्तामणि
तै० सं०	-	तैत्तिरीय संग्रह
न्या० सू०	-	न्याय सूत्र
न्या० भा०	-	न्यायभाष्य
न्या० मं०	-	न्याय मञ्जरी
न्या० र०	-	न्याय रत्नाकर
न्या० र० मा०	-	न्याय रत्नमाला
न्या० बि०टी०	-	न्यायबिन्दु टीका
न्या० व० वा०	-	न्यायावतारवार्तिक
न्या० सि० मु०	-	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या०वा०ता०टी०	-	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
प्र० प०	-	प्रकरणपञ्चिका
प्र० सं०	-	प्रमेय संग्रह .
प्र० वा०	-	प्रमाण वार्तिक
बृ० उप०	-	बृहदारण्यक उपनिषद्

ब्र० सू० - ब्रह्म सूत्र

ब्र० सू० शां० भा० - ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य

मा० मे० - मानमेयोदय

मी० सू० - मीमांसा सूत्र

मुण्डको० - मुण्डकोपनिषद्

यो० सू० - योगसूत्र

यो० भा० - योगभाष्य

वा० प० - वाक्यपदीय

वि० प्र० सं० - विवरण प्रमेय सङ्ग्रह

वे० प० - वेदान्तपरिभाषा

वै० सू० - वैशेषिक सूत्र

व्योम० - व्योमवती

शा० दी० - शास्त्रदीपिका

शा० भा० - शाबरभाष्य

श्लोक०, श्लो० वा० - श्लोकवार्तिक

स० द० सं० - सर्वदर्शनसङ्ग्रह

सां० का० - सांख्यकारिका

सां० त० कौ० - सांख्यतत्त्वकौमुदी

सां० सू० - सांख्य सूत्र

प्रमाणों के सन्दर्भ में वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन

भूमिका

(१) पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा

(२) पूर्वमीमांसा के आचार्य तथा साहित्य

(३) कुमारिलभट्ट

(४) उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के प्रमुख आचार्य एवं साहित्य

(५) धर्मराजाध्वरीन्द्र

(६) भारतीय दर्शन में ज्ञानमीमांसा की समस्या तथा उसका समाधान

भूमिका

मनीषी जीव के रूप में सृष्ट मनुष्य में इस विविध-रूपात्मक सृष्टि को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई । इस जिज्ञासा में वह सृष्टि के परमतत्त्व के विषय में श्रद्धापूर्वक सोचने लगा — वहीं से उसमें दार्शनिकता का समावेश हो गया । आदिमानव-काल से ही वह परमतत्त्वसम्बन्धी जिज्ञासा की शान्ति के प्रयत्न में लगा रहा और आत्मविश्वास से अनेकविध चिन्तन करता रहा जिसने आगे चलकर पृथक्-पृथक् दार्शनिक सम्प्रदायों का रूप ग्रहण किया ।

दार्शनिक समस्याओं के श्रद्धापूर्वक विचार की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही दृष्टिगोचर होती है । इसीलिए दर्शन की महत्ता स्वीकार करते हुए उपनिषदीय ऋषियों ने इसे परा विद्या कहा है । भारतीय परम्परा में दर्शन को जीवन से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध माना गया है । वस्तुतः भारत में दर्शन का जन्म आध्यात्मिक जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ, इसी कारण भारतीय मनीषियों ने परमतत्त्व का ज्ञान कराने वाली सभी पद्धतियों को दर्शन कहा जबकि पाश्चात्य जगत् में 'ज्ञान के प्रति प्रेम' को ही दर्शन कहा गया । वहाँ दर्शनशास्त्र के लिए Philosophy शब्द का प्रयोग किया जाता है । अंग्रेजी का फिलासफी शब्द ग्रीकभाषा के सोफिया शब्द से जिसका अर्थ है प्रज्ञा, और फिलीन क्रिया से जिसका अर्थ है प्रेम बना है । इसे प्रज्ञा के प्रति प्रेम कहा जाता है । भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ — 'जिसके द्वारा देखा जाय' अर्थात् तत्त्वज्ञान कराने वाली विशिष्ट विद्या ही दर्शन है । दर्शन का यह लक्षण सभी भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में मान्य है — 'दृश्यते आत्मादितत्त्वमनेनेति दर्शनम्'। भारतीय दार्शनिकों के लिए दर्शन शब्द से तत्त्वदर्शन ही अभिप्रेत रहा है — चाहे वह औपनिषद ऋषियों का आत्मतत्त्व[१] का उपदेश रहा हो या बुद्ध की समाधिसिद्धि का ।

---

१. आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च मैत्रेयि ।

— बृ० उप० २।४।५

सभी भारतीय दर्शनों की यह एक आश्चर्यजनक विशेषता है कि सभी दर्शनों का उद्गम एक ही स्थान (उपनिषद्) से हुआ है तथा सभी का लक्ष्य मोक्ष है । दृष्टिभेद ने इन सभी की विचारधारा में अन्तर उत्पन्न किया जिसने पृथक् सम्प्रदाय का रूप ग्रहण किया और स्वसम्प्रदायानुयायी गुरु के शिष्यों के पारस्परिक वाग्विलास ने भारतीय दर्शनों के पारस्परिक मतभेद को पुष्ट किया । किन्तु, यदि सम्यक् विचार किया जाय तो प्राय: सभी भारतीय दर्शनों की यह मान्यता स्पष्ट दृष्टिगत होती है कि एक ऐसी अवस्था है जहाँ सांसारिक दुख, बाधा, पीड़ा, अपूर्णता आदि कुछ नहीं है । वह पूर्ण, शान्त, स्थिर, नित्य, शुद्ध, बुद्ध आनन्दस्वरूप अवस्था ही सबका लक्ष्य है, वही परम पुरुषार्थ है, वही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति हो जाने पर पुन: आवागमन रूप दु:खपूर्ण संसारचक्र में नहीं फँसना होता ।[१]

वैदिक वाङ्मय से ही सभी दर्शनों का उद्गम तथा विकास हुआ है, यह सभी विचारकों की मान्यता रही है । आगे चलकर सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक क्षेत्रों में बढ़ रहे अन्तराल ने दर्शन को वैदिक तथा अवैदिक दो विभागों में पृथक् कर दिया । वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय आस्तिक तथा वेद-विरोधी दार्शनिक सम्प्रदाय नास्तिक कहे गये । चार्वाक, जैन और बौद्धादि वेदनिन्दक होने से नास्तिक कहे गये । आस्तिकों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त की गणना की जाती है । पाशुपत माहेश्वर दर्शन, पाणिनीय दर्शन (शब्दाद्वैत) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन -- इन मतों का भी समावेश आस्तिक दर्शनों में किया जाता है ।[२] अथवा इन आस्तिक दर्शनों में न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग तथा पूर्वमीमांसा और

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थि: छिद्यन्ते सर्वसंशया: ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।
-- मुण्डको० २।२।८

२. सर्वदर्शनसंग्रह

उत्तरमीमांसा (वेदान्त) की तत्त्वगवेषणा एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध है, अतः ये समानतन्त्र कहे जाते हैं । इनमें से न्याय दर्शन के आदि आचार्य अक्षपाद गौतम हैं जिन्होंने `न्यायसूत्र` की रचना की । वैशेषिक के आदि आचार्य महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की जिन्हें `कणाद-सूत्र` भी कहा जाता है । ईश्वर-कृष्ण प्रणीत `सांख्यकारिका` सांख्य दर्शन की प्रथम मौलिक रचना मानी जाती है, यद्यपि सांख्य के प्रथम आचार्य के रूप में महर्षि कपिल की गणना होती है । योग का प्रथम ग्रन्थ आचार्यपतञ्जलिप्रणीत योगसूत्र है । पूर्वमीमांसा का आद्यग्रन्थ `मीमांसा-सूत्र` है जिसकी रचना महर्षि जैमिनि ने की है तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के आद्य आचार्य बादरायण व्यास हैं जिनकी कृति `ब्रह्मसूत्र` है तथा जो `बादरायण सूत्र` के नाम से भी जानी जाती है ।

(१) पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा –

वैदिक साहित्य भारतीय धर्म तथा दर्शन का मूलस्रोत है । इस वैदिक परम्परा के विकास के साथ ही उसके दो भाग हुए जिनमें से एक को कर्मकाण्ड और दूसरे को ज्ञानकाण्ड कहा गया । कर्मकाण्ड का पूर्णविकास ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ है जबकि ज्ञानकाण्ड का विकास उपनिषदों में । वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में निर्णय देने वाले महर्षि जैमिनि के सूत्रों को पूर्वमीमांसा कहा गया और उपनिषदों की शिक्षाओं को व्यवस्थित करने वाले महर्षि बादरायण के सूत्रों को उत्तरमीमांसा कहा गया । प्रचलित सभी दर्शनों में आधारभूत सामग्री की दृष्टि से पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त को सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता है क्योंकि वेदों से सर्वाधिक सामग्री इन्हीं दर्शनों ने ग्रहण की है । वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन करने वाले, वेदाङ्ग के रूप में प्रतिपादित किये गये कल्पसूत्र (श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र) मीमांसा दर्शन के साक्षात् आधार हैं । दूसरी ओर वैदिक ज्ञानकाण्ड जिसका आरम्भ ऋग्वेद के कुछ सूक्तों से हुआ तथा परिणति उपनिषदों में हुई, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का आधार है । इस दार्शनिक सम्प्रदाय को वेदान्त कहे जाने का

---

१. वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।

— ब्र० सू० शा० भा० १।१।२

कारण इसका वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों में निहित होना है । पूर्वमीमांसा को लोक में मीमांसा नाम से प्रसिद्धि मिली और उत्तरमीमांसा को वेदान्त नाम से । वस्तुत: दोनों दार्शनिक सम्प्रदाय मिलकर एक पूर्ण दर्शन का निर्माण करते हैं । ये दोनों मत कुछ मतभेदों को छोड़कर परस्पर सापेक्ष हैं ।

मीमांसा तथा वेदान्त में प्रमुख भेद प्रतिपाद्य विषय का है । मीमांसा में मुख्य रूप से धर्म की व्याख्या की गयी है जिसके अन्तर्गत आत्मा, अपूर्व आदि विषयों का समावेश किया गया है । वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को प्रधानता दी गयी । मीमांसा में प्रमाण जैसे विषय पर गम्भीर दार्शनिक चिन्तन किया गया जिसका अनुसरण वेदान्त ने भी व्यवहार के स्तर पर किया[1] । अद्वैतवेदान्त के आत्मसिद्धान्त ने मीमांसकों को भी प्रभावित किया[2] । अत: सूक्ष्म अध्ययन करने पर मीमांसा तथा वेदान्त एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं ।

(२) पूर्वमीमांसा के आचार्य एवं साहित्य—

मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ महर्षि जैमिनि के सूत्रों से माना जाता है किन्तु इसकी प्राचीनता को देखते हुये प्रतीत होता है कि महर्षि जैमिनि के पूर्व भी इस विषय पर विस्तृत विचार किया गया रहा होगा । जैमिनि का मीमांसासूत्र बारह अध्यायों में विभक्त है इसीलिये इसे द्वादशलक्षणीमीमांसा भी कहा जाता है । इन बारह अध्यायों में २७४५ सूत्र पाये जाते हैं । बाद में महर्षि जैमिनि ने अन्य ४ अध्यायों की भी रचना की जिन्हें संकर्षकाण्ड या देवताकाण्ड कहते हैं, जिसमें ४३६ सूत्र हैं ।

महर्षि जैमिनि ने अपने समय के या पहले के अनेक ऐसे मीमांसकों के

---

१. व्यवहारे भाट्टनय: ।

२. इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोध: प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ।।

— श्लो० वा० आत्मवाद १४८

नाम लिये हैं जिनके ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं । जैमिनि पाँच स्थानों पर बादरायण[1] का उल्लेख करते हैं । ये बादरायण ब्रह्मसूत्रों के रचयिता हैं या उनसे भिन्न— इस विषय में विवाद है । जैमिनि ने बादरि[2] नाम के भी ऋषि का उल्लेख किया है जिनका नाम ब्रह्मसूत्र[3] तथा कात्यायनश्रौतसूत्र[4] में भी आता है । डा० टी० आर० चिन्तामणि बादरि को बदर का पुत्र तथा बादरायण का पूर्वज मानते हैं[5] । इसके अतिरिक्त जैमिनि ने ऐतिशायन[6], कार्ष्णाजिनि[7], लाबुकायन[8], कामुकायन[9], आत्रेय[10] तथा आलेखन[11] का भी निर्देश किया है ।

प्रो० जैकोबी का मत है कि जैमिनि दूसरी शताब्दी ईसवी से पहले नहीं रहे होंगे क्योंकि वे बादरायण के समकालीन थे जिन्होंने दूसरी शताब्दी में वर्तमान बौद्ध विद्वान नागार्जुन के शून्यवाद से अपना परिचय दिखाया है ।[12] प्रो० कीथ का कहना है कि वे दूसरी शती ईस्वी के बाद के नहीं हैं किन्तु उससे बहुत पहले के भी नहीं हो सकते ।[13]

---

१. मी० सू० ५।२।१६ ; ६।१।८ ; १०।८।४४ ; ११।१।६४

२. मी० सू० ३।१।३ ; ६।१।२७ ; ८।३।६ ; ९।२।३३

३. ब्र० सू० १।२।३० ; ३।१।११ ; ४।३।७ ; ४।४।१०

४. का० सू० ४। ६६

५. डा० उमेश मिश्र, मीमांसा कुसुमा वलि, पृष्ठ संख्या ८

६. जै० सू० ३।२।४३ ; ३।४।२४ ; ६।१।६

७. जै० सू० ४।३।१७ ; ६।७।३६

८. जै० सू० ६।७।३८

९. जै० सू० ११।१।५७ ; ११।१।६२

१०. जै० सू० ४।३।१८ ; ६।१।२६ ; ५।२।१८

११. जै० सू० ६।५।१७

12. Jacobi — Date of Indian Philosophical system, Journal of American Oriental Society Vol.XXXIII.

13. A.B. Keith — The Karma Mimamsa, Page 5.

जैमिनिसूत्र पर उपलब्ध सबसे प्राचीन व्याख्या शबरस्वामी का भाष्य है । इसके भाष्य के कुछ सङ्केतों के आधार पर डा० गङ्गानाथ झा इन्हें कश्मीर या तक्षशिला का निवासी मानते हैं ।[१] इनका समय चौथी शती ईस्वी का पूर्वार्द्ध माना जाता है ।[२] इनका भाष्य सरल तथा शास्त्रोपयोगी है । इसी भाष्य पर कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं मुरारि मिश्र इन तीन आचार्यों ने अपने-अपने पृथक् व्याख्यान करके तीन पृथक् मतों की स्थापना की । कुमारिल के सिद्धान्त को `भाट्ट मत`, प्रभाकर के मत को `गुरु मत` तथा मुरारि मिश्र के व्याख्यान को `मिश्र मत` के नाम से जाना जाता है ।

(१) <u>कुमारिल भट्ट—</u>

शाबरभाष्य के व्याख्याकारों में कुमारिल के सिद्धान्त सर्वप्रमुख माने जाते हैं । बौद्धों के तीव्र आक्रमण से जर्जरित वैदिक परम्परा को इन्होंने अपने तर्कों से सुदृढ़ किया । इन्होंने शाबर भाष्य के विभिन्न अंशों पर तीन व्याख्यायें लिखीं । तर्कपाद पर लिखी गयी व्याख्या को `श्लोकवार्तिक` कहा गया । यह ग्रन्थ कारिकाबद्ध है । इसके आगे से लेकर तृतीय अध्याय के समस्त पादों पर लिखी गयी व्याख्या `तन्त्रवार्तिक` कहलायी । इसके आगे बारह अध्याय पर्यन्त की व्याख्या `टुप्टीका` के नाम से प्रसिद्ध है ।

कुमारिल भट्ट को कुछ विद्वान् मिथिला प्रदेश का मानते हैं और कुछ दाक्षिणात्य मानते हैं ।[३] धर्मपाल (६३५ ईस्वी) से शास्त्रार्थ होने के कारण से

---

१. श्लो० वा० अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १

२. "The form of his name and his relation to the V rttikara suggest that 400 A.D. is the earliest date to which he can be assigned.

— V.A Ramaswami, Introduction to Pūrva Mīmāṃsā Śāstra, Page 9.

३. [illegible], भूमिका, पृ० ८
— डा० वाचस्पति उपाध्याय

सातवीं शती के सिद्ध होते हैं । कन्नौज के यशोवर्मा (७३० ईसवी) के सभापण्डित भवभूति अपने को कुमारिल का शिष्य बतलाते हैं । कुमारिल ने वाक्यपदीय का भी उल्लेख किया है । डा० कुप्पुस्वामी ने इनका काल ६००-६६० ईसवी निर्धारित किया है ।[1] कुमारिल, प्रभाकर तथा मण्डन इन तीनों का काल छठी तथा सातवीं शती के मध्य ही है - ऐसा विभिन्न शोध प्रस्तुत करते हैं ।[2]

नवीं शती के पार्थसारथि मिश्र कुमारिल के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित थे । उन्होंने भाट्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन चार ग्रन्थों के माध्यम से किया है - (१) न्यायरत्नमाला, (२) शास्त्रदीपिका, (३) तन्त्ररत्न-जो टुप्टीका की व्याख्या है, तथा (४) श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' नामक टीका । पार्थसारथि मिश्र के पहले भी श्लोकवार्तिक पर टीकाएं लिखी गई हैं जिनमें मिथिला निवासी सुचरित मिश्र (१० वीं शती) की 'काशिका' टीका प्रसिद्ध है । भाट्ट सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख विद्वानों में मण्डनमिश्र, उम्बेक, नारायण पण्डित आदि का नाम आता है । प्राभाकर मत के प्रमुख विद्वानों में प्रभाकर और शालिकनाथ मिश्र के नाम का उल्लेख किया जाता है। इसके अतिरिक्त मुरारि मिश्र से लेकर मीमांसा की अविच्छिन्न परम्परा चलती रही और अनेक विद्वानों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे ।

---

१. ब्रह्मसिद्धि की भूमिका - डा० कुप्पुस्वामी ।

२. Later researches carried on at he Madras University are beginning to point to the conclusion that Prabhākara, Kumarila and Mandanaare not far removed in point of time- thah all of them lived during the sixth-seventh centuries A.D.

- Purva-Mimamsa in its Sources, P. 17.
By Ganganath Jha.

३. अर्थसंग्रह, भूमिका, पृ० १०
- डा० वाचस्पति उपाध्याय ।

(४) उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के प्रमुख आचार्य एवं साहित्य—

वेदान्त दर्शन की प्राचीन परम्परा का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि कुछ प्राचीन महर्षि अपने सिद्धान्तों में अद्वैत वेदान्त दर्शन से सामञ्जस्य रखते थे। इनमें बादरि, काष्र्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्त के आचार्यों में बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी, टङ्क द्रमिड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च, सुन्दरपाण्ड्य और गौड़पादाचार्य का उल्लेख किया जाता है। वेदान्त दर्शन की इस प्रवहमान परम्परा को सशक्त आधार दिया आचार्य शङ्कर ने। शङ्कराचार्य ने नास्तिक परम्पराओं का उन्मूलन करके मीमांसकों की वैदिक कर्मकाण्ड परम्परा को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया। शङ्कराचार्य ने बादरायण सूत्रों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके अद्वैतवाद का उपस्थापन किया। उपनिषद् तथा बादरायण सूत्रों की अनेक गुत्थियों को इन्होंने अपने भाष्य द्वारा स्पष्ट किया। आचार्य शङ्कर का समय ७८८-८२० ईस्वी माना जाता है।[1] शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने में सुरेश्वराचार्य (८०० ई०) की भूमिका उत्कृष्ट स्थान रखती है।[2] दक्षिण में चोल प्रदेश में जन्मे पद्मपादाचार्य (८२० ई०) को शङ्कराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, इनकी प्रमुख कृति पञ्चपादिका है।[3] अद्वैत मत को निरन्तर पल्लवित करने वाले विद्वानों में वाचस्पति मिश्र (८४० ईस्वी)[4] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हुये भी अपने जीवन के अन्तिम समय में वे परम अद्वैतवेदान्ती के रूप में प्रसिद्ध हुये। अद्वैत दर्शन को पल्लवित करने वाले विद्वानों में सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोधभट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मयति, विमुक्तात्मा आचार्य चित्सुख, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती का नाम बहुत आदर से लिया जाता है।

---

१. अद्वैत वेदान्त - डा० राममूर्ति शर्मा, पृ० १४५
२. वही, पृष्ठ १४७
३. वही, पृष्ठ १४८
४. वेदान्त दर्शन, अद्वैतवाद - आशुतोष शास्त्री (बंगला संस्करण)

(५) धर्मराजाध्वरीन्द्र —

अद्वैत वेदान्त में निरन्तर मौलिकता का समावेश करने वाले विवेचकों में वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र का नाम अग्रगण्य है । इनके गुरु वेदधिक्कार के लेखक नृसिंहाश्रम थे[1] । धर्मराजाध्वरीन्द्र की प्रमुख विशेषता थी कि इन्होंने साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है । ब्रह्म का साक्षात्कार अपरोक्ष ज्ञान से ही सम्भव है जिससे समस्त दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है । यह अपरोक्ष ज्ञान वाक्यजन्य होता है । इसके अतिरिक्त धर्मराज ने `मन` का अनिन्द्रियत्व, `वह्निमान् पर्वतः` में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्वव्यवस्था, ज्ञानगतप्रत्यक्षता तथा विषयगतप्रत्यक्षता के भिन्न-भिन्न प्रयोजक, शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति, स्वतः प्रामाण्यवाद, महावाक्य में लक्षणा का खण्डन, स्मृति को भी प्रमा रूप में मानना, सुरभिचन्दनज्ञान में चन्दन का अपरोक्ष तथा सुरभि का परोक्ष ज्ञान - आदि को मानकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

वेदान्त के सूत्र-भाष्य ग्रन्थों में वर्णित प्रमाण, प्रमेय और प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिये पण्डितवरेण्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने सत्रहवीं शताब्दी में इस प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ (वेदान्तपरिभाषा) की रचना की थी । धर्मराज वेदान्त तथा न्याय दोनों के ही प्रकाण्ड पण्डित थे इसीलिए उनकी वेदान्तपरिभाषा में नैयायिक शैली का पुट यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है । न्याय पर इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे थे जिनका अभी तक प्रकाशन सम्भव न हो सका है । वे (१) गङ्गेशोपाध्याय की रचना तत्त्व-चिन्तामणि की टीका `तर्कचूडामणि` (२) `युक्तिसङ्ग्रह` तथा (३) शशधर की न्यायसिद्धान्तदीप पर टीका `न्यायरत्न` अथवा `न्यायसिद्धान्तदीपिकाप्रकाश` हैं ।

वेदान्तपरिभाषा की संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं । धर्मराज के पुत्र रामकृष्ण द्वारा रचित `शिखामणि` नामक संस्कृत टीका वैदुष्यपूर्ण है जो नव्य न्यायशैली में है । शिखामणि पर अमरदास की

---

१. यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥
वे.प.२ ई.

'मणिप्रभा' नामक उप-टीका उपलब्ध है । 'प्रकाशिका' नामक एक और टीका पेद्दा दीक्षित की है । नारायण भट्ट शास्त्री की 'भूषण' नामक टीका अभी प्रकाशित नहीं हो पायी है । शिवदत्त की 'अर्थदीपिका' तथा पं० कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन की 'आशुबोधिनी' नामक टीका भी प्रसिद्ध है । शारदापीठ के शङ्कराचार्य ने भी 'पदार्थमञ्जूषा' नामक टीका लिखी है । अद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ आचार्य महामहोपाध्याय पण्डित म० म० अनन्त कृष्ण शास्त्री की 'परिभाषा' नामक प्रसिद्ध टीका प्रकाशित हो चुकी है । न्यायाचार्य पं० आनन्द झा की 'भगवती' नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है । स्वामी माधवानन्द का अंग्रेजी अनुवाद इस ग्रन्थ की उपादेयता को पुष्ट करता है । विद्यानन्दजिज्ञासु की हिन्दी व्याख्या तथा डा० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर की हिन्दी व्याख्या वेदान्तपरिभाषा को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

अद्वैत वेदान्ती परमार्थ में तो केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु व्यवहार में भाट्ट-व्यवहार की संकल्पना करते हैं । शङ्कराचार्य ने भी व्यवहार में सभी पदार्थों की सत्ता तथा उनकी उपयोगिता को स्वीकार किया है । व्यवहार में वेदान्ती भाट्ट नय को स्वीकार करते हैं । भाट्ट नय का अनुसरण करते हुये वे प्रमाण तथा प्रमेय की सिद्धि करते हैं । धर्मराजाध्वरीन्द्र के पूर्व किसी अद्वैत वेदान्त ग्रन्थ में प्रमाणों पर विस्तृत विचार नहीं किया गया है ।

वस्तुतः विचार किया जाय तो मीमांसा तथा वेदान्त एक दूसरे के बिना अपूर्ण है, इनमें अविच्छेद्य सम्बन्ध है । वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है -- ब्रह्म, जिसका आधार है वेद या शास्त्र ।[1] ब्रह्मजिज्ञासा के लिये वेद की प्रामाणिकता तथा उसके वाक्यों का अर्थज्ञान कराने वाली कुछ व्याख्या पद्धतियों का ज्ञान होना आवश्यक है । इसलिये वेदान्त इन विषयों के लिये मीमांसा दर्शन पर आश्रित है । पूर्वमीमांसा में इन विषयों का विस्तृत विवेचन वेदान्त में आत्म-तत्त्व के निरूपण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है । शङ्कराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य

---

१. शास्त्रयोनित्वात् । - ब्र० सू० १।१।३

(३।३।५३) में मीमांसा दर्शन की पूर्ववर्तिता का निर्देश करते हैं।[1] इस सूत्र से आरम्भ होने वाला अधिकरण शरीर से भिन्न आत्मा की स्थिति बताता है। शङ्कराचार्य पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनों के लिये आत्मज्ञान को आवश्यक मानते हैं। डा० गङ्गानाथ झा दोनों दर्शनों की समानतन्त्रता के पक्ष में कुछ प्रमुख तथ्य दिखाते हैं—[2] (क) दोनों दर्शन बौद्ध तथा अन्य वेदविरोधी दर्शनों से वेद की रक्षा के लिये प्रतिपन्न हुये (ख) कुमारिल ने आत्मा को वेदान्तियों के ही समान नित्य, शरीरेन्द्रियबुद्धि से भिन्न, तथा सर्वव्यापक माना। (ग) कुमारिल ने वेदान्तियों के मोक्ष को भी न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया। उन्होंने स्वीकार किया कि आत्मज्ञान से ब्रह्मलीनता के रूप में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[3] (घ) कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के आत्मवाद नामक प्रकरण के अन्त में आत्मा के विषय में सही ज्ञान के लिये वेदान्त के अध्ययन का परामर्श दिया है।[4] (ङ०) शङ्कराचार्य का कहना है कि सम्यक् ज्ञान के उदय के पूर्व में किये गये समस्त कर्म, चाहे पूर्वजन्म में सम्पादित किये गये हों या इस जन्म में, ज्ञान की प्राप्ति में आने वाली सभी बाधाओं को नष्ट कर देते हैं। इसलिये ब्रह्मज्ञान के उदय की प्राप्ति में ये कर्म भी सहायक हैं।[5] इस प्रकार कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन व्यावहारिक पक्ष का निरूपण करता है तो वेदान्त दर्शन वैदान्तिक पक्ष का।

(४) भारतीय दर्शन में ज्ञानमीमांसा की समस्या और उसका समाधान—

मनुष्य अपने बुद्धिविकास से अधिकारपूर्वक किसी वस्तु को जानता है तथा उसे ज्ञान कहता है। विभिन्न प्रकार के ज्ञानों में उसे कुछ सत्य तथा कुछ असत्य प्रतीत होता है। ऐसा होने पर उसकी सत्य ज्ञान के प्रति जिज्ञासा

---

१. ब्र० सू० शां० भा० ३।३।५३
२. Pūrva Mimāmsā In Its Sources पृ०६-6.
३. तन्त्रवार्तिक पृ० २८०-२८२। श्लोक० सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक १०३-१०४
४. श्लो० वा० आत्मवाद का अन्तिम श्लोक
५. ब्र० सू० शां० भा० ४।१।८

उत्पन्न होती है । ज्ञान के स्रोत को जानने के साधन को ज्ञानमीमांसा कहा गया तथा इस ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के साधनों पर विचार किया गया । इन ज्ञान के साधनों को प्रमाण शब्द से अभिहित किया जाता है । भारतीय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय का सुव्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम गौतमप्रणीत न्यायसूत्र में मिलता है । बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों ने भी ज्ञानमीमांसा की समस्या को पृथक् रूप से हल करने का प्रयत्न किया । भासर्वज्ञ के पहले तक के न्यायदर्शन में ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जाता था किन्तु भासर्वज्ञ (९५० ईसवी) ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ न्यायसार में केवल ज्ञान के साधन और स्रोत पर विचार किया । नव्य-न्याय के उदय के साथ गङ्गेशोपाध्याय से लेकर परवर्तीकाल में ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाणों पर विस्तृत विचार किया गया । मीमांसा दर्शन में कुमारिल तथा प्रभाकर दोनों ने ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाणों का प्रतिपादन किया । इसी प्रकार अन्य भारतीय दर्शनों में भी ज्ञानमीमांसा की चर्चा है ।

भारतीय दर्शन में प्रमाण को ज्ञान का साधन तथा प्रामाण्य का साधन स्वीकार किया जाता है । विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में भिन्न-भिन्न प्रमाणों के लक्षण दिये गये तथा उनकी संख्या निर्धारित की गयी । चार्वाक मतावलम्बियों ने प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण माना । वैशेषिक तथा बौद्धों ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान को प्रमाण माना । सांख्य-योग, माध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त तथा न्यायवैशेषिक (भासर्वज्ञ) ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया। न्याय दर्शन में चार प्रमाणों को माना गया -- प्रत्यक्ष,अनुमान, उपमान तथा शब्द। प्राभाकर मीमांसकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति, इन पाँच प्रमाणों को स्वीकार किया । भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती प्रत्यक्ष,अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं । पौराणिक सम्भव तथा ऐतिह्य नामक दो प्रमाणों को और मानकर प्रमाणों की कुल संख्या आठ स्वीकार करते हैं ।

भाट्टमीमांसा में ज्ञानमीमांसा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य कुमारिल ने ज्ञान के साधनों के रूप में छः प्रमाणों का

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह

निरूपण अपने ग्रन्थ श्लोकवार्तिक में किया है । उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में प्रमा और प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है । अद्वैत वेदान्त में ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से पृथक् कर उसका विवेचन करने वाले प्रमुख आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ वेदान्तपरिभाषा में कुमारिल द्वारा स्वीकृत छः प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन किया है । यद्यपि अद्वैतवेदान्त में प्रमाणों का तात्त्विक विवेचन सर्वप्रथम वेदान्तपरिभाषा में ही मिलता है तथापि शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में सभी प्रमाणों को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है ।

अद्वैत वेदान्त का प्रारम्भ ही ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये हुआ किन्तु वस्तु निर्देश के लिये व्यवहार में ज्ञान के साधनों का यत्किञ्चित् निर्देश मिलता है । ब्रह्मसूत्र एवं शाङ्करभाष्य में भाट्ट सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों के सङ्केत प्राप्त होते हैं । ब्रह्मसूत्रकार के अनुसार योगी लोग उस आत्मा को ध्यान के समय देखते हैं — ऐसा प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जाता है[1] । अनुमान प्रमाण का भी निर्देश ब्रह्मसूत्र और शाङ्करभाष्य में किया गया है[2] । ब्रह्मसूत्र में प्रधान की जगत्-कारणता का निराकरण अनुमान द्वारा ही किया गया है[3] । भाष्यकार ने भी अनुमान के द्वारा प्रधान की जगत्कारणता का निराकरण किया है[4] । अन्य

---

१. अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । - ब्र० सू० ३।२।२४

२. कामाच्च नानुमानापेक्षा - ब्र० सू० १।१।१८

कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्द-मयत्वेन कारणत्वेन वा वेदितव्यम् ।

- ब्र० सू० शां० भा० १।१।१८

३. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।

- ब्र० सू० २।२।१

४. अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति ।

- ब्र० सू० शां० भा० २।२।१

प्रकार से भी सूत्रकार तथा भाष्यकार अनुमान प्रमाण के प्रयोग की पुष्टि करते हैं[1]। उपमा शब्द के प्रयोग से ब्रह्मसूत्र में उपमान प्रमाण के भी अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है[2]।

शब्द प्रमाण पर विचार करने की परम्परा अद्वैत वेदान्त में अति प्राचीन है। वेदान्त, श्रुति को शब्द प्रमाण के रूप में ही मानता है। सूत्रकार ब्रह्म को शब्दमूलक मानते हैं क्योंकि श्रुति को शब्द कहा गया है[3]। अद्वैत वेदान्त में अर्थापत्ति प्रमाण के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है[4]। भामती[5] और वेदान्तकल्पतरु[6] में भी इसके संकेत प्राप्त होते हैं। अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा भी सिद्धान्तों का विवेचन सूत्रकार ने किया है[7]।

उपर्युक्त विवेचन अद्वैत वेदान्त में प्रमाणों की अभिमान्यता को सिद्ध करता है। भाट्टमत का अनुसरण करते हुये भी परवर्तीकाल में अद्वैत मत में कुछ विशिष्टता आ गयी जिसकी सुसंगत व्याख्या वेदान्तपरिभाषाकार ने की। वेदान्तपरिभाषा में सर्वथा मौलिक रूप देते हुये ज्ञानमीमांसा की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है। प्रमाणों का सर्वाङ्गीण विवेचन करने वाले सत्रहवीं शती के इस अद्वैत वेदान्त ग्रन्थ में उन्हीं छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है जिन्हें सातवीं शती के मीमांसाचार्य कुमारिल भट्ट की रचना श्लोकवार्तिक

---

1. अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् - ब्र० सू० शां० भा० २।२।९
   अन्यथा यदनुमिमीमहे - ब्र० सू० शां० भा० २।२।९
2. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् - ब्र० सू० ३।२।१८
3. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् - ब्र० सू० २।१।२७
   शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्।
   - ब्र० सू० शां० भा० २।१।२७
4. न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न चाधिष्ठान-मन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। - ब्र० सू० शां० भा० (अध्यास भाष्य)
5. व्यवहार क्रिया च व्यवहार्य-आरोपात् - - भामती
6. व्यवहारिणं आरोपात् — वेदान्तकल्पतरु
7. न भावोऽनुपलब्धेः — ब्र० सू० २।२।३०

में स्वीकार किया गया है । वेदान्तसिद्धान्त के प्रमाणों को भाट्ट सम्प्रदाय के प्रमाणों पर आधारित मानकर 'व्यवहारे भाट्टनय:' - यह कह दिया जाता है । किन्तु, दोनों कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन, प्रमाणविषयक उनके साम्य तथा वैषम्य का अवलोकन इस कथन के औचित्य का निर्धारण करेगा । इस दृष्टि से प्रमाणों के सन्दर्भ में दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है ।

भारतीय दर्शनों के विभिन्न प्रस्थानों की ज्ञानमीमांसा के संक्षिप्त परिचय के बाद आगामी अध्यायों में श्लोकवार्तिककार कुमारिल तथा वेदान्त-परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र के परिप्रेक्ष्य में ज्ञानमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा जो इन दोनों महान् दार्शनिकों की प्रमाण-सम्बन्धी धारणा के साम्य तथा वैषम्य को प्रकाशित करेगा तथा उनकी ज्ञानमीमांसा को समझने में सहायक होगा ।

प्रथम अध्याय

ज्ञान का स्वरूप, वर्गीकरण तथा साधन

१.१ (क) ज्ञान का स्वरूप

१.२ (ख) ज्ञान का वर्गीकरण

१.२.१ प्रमा

१.२.२ धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व निरूपण

१.२.३ अप्रमा

(i) आत्मख्याति

(ii) असत्ख्याति

(iii) अख्याति

(iv) अन्यथाख्याति

(v) सत्ख्याति

(vi) अनिर्वचनीयख्याति

(vii) विपरीतख्याति

१.३ (ग) ज्ञान के साधन

१.३.१ प्रमाण

१.३.२ प्रमाण का महत्त्व

१.३.३ प्रमाण का स्वरूप

ज्ञान का स्वरूप, वर्गीकरण तथा साधन

प्रत्येक विचारक के समक्ष ज्ञान की समस्या कुछ आधारभूत प्रश्नों को लेकर उपस्थित होती है, जिनके उत्तर में वह ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की प्राप्ति के साधन तथा ज्ञान के प्रामाण्य के आधार की विस्तृत व्याख्या करता है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय ज्ञान की इस समस्या के समाधान में पृथक् पृथक् मत रखते हुए ज्ञान के साधनों का ऐसा विश्लेषण करते हैं जो उनके सिद्धान्तों को पुष्ट कर सके। समस्त मानसिक कृत्यों के मूल में ज्ञान ही होता है तथा वस्तुगत भेद का निर्धारण भी ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय वस्तु का प्रकाशन होता है तथा उसके विषय में धारणायें बनती हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेय वस्तु के बिना ज्ञान की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः ज्ञाता एवं ज्ञेय वस्तु दोनों ही ज्ञान में हेतु हैं।

१.१ (क) ज्ञान का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्त-मतानुसार ज्ञान आत्मा का एक गुण है। गौतम ज्ञान को बुद्धि कहते हैं, तथा उपलब्धि और बुद्धि को ज्ञान का पर्याय मानते हैं।[1] कणाद बुद्धि की गुणों के अन्दर गणना करते हैं।[2] सांख्य मतावलम्बी ज्ञान को केवल बुद्धि की वृत्ति मानते हैं अतः उनके यहाँ ज्ञान, उपलब्धि तथा बुद्धि तीनों पद भिन्न अर्थों के बोधक हैं। परवर्ती नैयायिकों ने ज्ञान को करण मानने का बहुत विरोध किया है, वे बुद्धि को स्वयं ज्ञानस्वरूप मानते हैं।[3]

---

१. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।
   - न्या० सू० १।१।१५

२. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।
   - वै० सू० १।१।६

३. तर्कसंग्रह - अन्नंभट्ट, पृ० २९

उन्होंने ज्ञान को आत्मा का एक कादाचित्क गुण माना है तथा आत्मा को द्रव्य । प्रभाकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं । उनके अनुसार, यह ज्ञान आत्मा को बिना प्रभावित किये हुये आता जाता रहता है ।

अद्वैत वेदान्त में समस्त व्यवहार मिथ्या अध्यारोपण पर आधारित माना जाता है क्योंकि वहाँ एक ही सत्ता स्वीकृत है । सत्ता ही ज्ञान है तथा ज्ञान ही सत्ता है -- इन दोनों में परस्पर कोई भेद नहीं है ।[1] अद्वैत मत में मान्य पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताओं में से व्यावहारिक सत्ता में ही ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता का व्यवहार होता है, परमार्थ में इनमें कोई भेद नहीं है । प्रभाकर तथा शङ्कर का मत है कि ज्ञान स्वतः प्रकाशित है । वेदान्तपरिभाषा में पृथक् रूप से कहीं भी ज्ञान की विस्तृत व्याख्या नहीं प्राप्त होती है ।

आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान आत्मा की क्रिया है जिसकी उत्पत्ति होने पर आत्मा का विषय के साथ सम्बन्ध होता है । ज्ञेय वस्तु के अभाव में ज्ञान नहीं हो सकता है और आत्मा की ज्ञाता बनने की क्षमता को उससे दूर नहीं किया जा सकता है । इन्द्रियों के सक्रिय होने पर ज्ञान होता है तथा जब इन्द्रियाँ निद्रादि में निष्क्रिय होती हैं तब ज्ञान नहीं होता है । कुमारिल आत्मा को प्रत्येक स्थिति में चैतन्य से युक्त मानते हैं[2] तथा आत्मा को चैतन्यस्वभाव वाला कहते हैं ।[3] कुमारिल का 'ज्ञानशक्तिस्वभाव' पद आत्मा में स्वभावतः विद्यमान चैतन्य या ज्ञान की शक्ति को व्यक्त करता है । प्रभाकर के मत में आत्मा ज्ञान

---

१. सत्तैव बोधः बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति ।

- बृ० सू० शां० भा० ३।२।२१

२. सुषुप्तावात्मनस्तावत् गच्छन्नापि नरो मम ।
चैतन्यद्रव्यतायोगित्वं नैव विमु यति ॥

- श्लो० वा० आत्म० २६

३. ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगः पुमान् ।
देहान्तरागमः कल्प्यः सो गच्छन्नेव बोध्यते ॥

- श्लो० वा० आत्म० ७४

का विषय नहीं बनता क्योंकि उनके सिद्धान्त में आत्मा तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है । आत्मचैतन्य ही ज्ञान है या ज्ञान ही आत्मा है । जब आत्मा तथा ज्ञान में भेद ही नहीं है तब इन दोनों में ज्ञातत्व तथा ज्ञेयत्व की संकल्पना भी नहीं की जा सकती । प्रभाकर के इस मत की भाट्ट सम्प्रदाय में बहुत आलोचना की गयी । सुचरित मिश्र ने इस बात पर टिप्पणी करते हुये लिखा -- 'ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा देह अथवा ज्ञान ज्ञाता नहीं है, यह आत्मा है जिसे ज्ञाता कहा जा सकता है और यह किसी भी स्थिति में ज्ञातृत्व से रहित नहीं हो सकता है ।'[1]

भाट्ट सम्प्रदाय के सभी आचार्य ज्ञान को आत्मा की क्रिया मानते हैं । कुमारिल ने ज्ञान को आत्मा का धर्म भी बतलाया है ।[2] ज्ञान को आत्मा की क्रिया बतलाने के साथ ही ज्ञान को आत्मा का धर्म कहना कहाँ तक समीचीन है ? जिस प्रकार 'दाह' अग्नि का धर्म भी है तथा अग्नि की क्रिया भी है उसी प्रकार ज्ञान को भी समझना चाहिये । प्रभाकर के मत में ज्ञान को ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों रूपों में माना जाता है । इसी के खण्डनार्थ कुमारिल का कहना है कि एक ही वस्तु को एक साथ दो रूपों में नहीं देखा जा सकता है अतएव ज्ञान को ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों ही रूपों में एक साथ कल्पित करना सर्वथा असङ्गत है । अतः ज्ञान तथा विषय दोनों परस्पर भिन्न हैं, एक नहीं । ज्ञान तथा अर्थ की अभिन्नता स्वीकार करने पर तो घट ग्रहण के साथ-साथ घट से अभिन्न घटज्ञान का भी ग्रहण अवश्य होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है अतः ज्ञान तथा अर्थ में भिन्नता है । इस प्रकार श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल को प्रभाकर का त्रिपुटी प्रत्यक्ष का सिद्धान्त मान्य नहीं है । बौद्ध स्मृतिपूर्वक अनुमान से घट तथा घटज्ञान के एकत्व का निरूपण करते हैं कि घटविषयक प्रथम ज्ञान केवल ग्राह्यस्वरूप घटविषयक 'घटः' इस आकार का होता है एवं तदुपरि उसी घटविषयक ज्ञान का 'घटं जानामि' इस आकार का होता है तत्पश्चात् घट तथा घटज्ञान दोनों की स्मृतियाँ होती हैं । इस स्मृति से

---

1. श्लोकवार्तिक पर काशिका टीका - शून्यवाद ७०
2. श्लो॰ वा॰ निरालम्बनवाद ६७

यह अनुमान होता है कि घट तथा घटज्ञान एक है।[1] बौद्धों का यह मत भी दोषपूर्ण है क्योंकि यदि प्रथमोत्पन्न `घट :` इस आकार के ज्ञान को तथा एतज्ज्ञानविषयक दूसरे ज्ञान को भी तद्विषयक ही माना जाय तो यह दूसरा ज्ञान भी `तद्रूप` होगा अर्थात् `घट:` एतदाकारक ही होगा, `घटं जानामि` एतदाकारक नहीं । इसके पश्चात् जो `मम घटज्ञानमासीत्` इस आकार की घटज्ञानविषयक स्मृति होती है उसका भी `घट:` यही आकार मानना होगा । फलत: `घट:` इस आकार के ज्ञान के पश्चात् जो `घटं जानामि`, `मम घटज्ञानमासीत्` इत्यादि ज्ञानों की परम्परा में `विशेष` अर्थात् अन्तर की उपलब्धि होती है वह न हो सकेगी,[2] अत: इस ज्ञान और अर्थ को भिन्न मानना होगा । ज्ञान और अर्थ को भिन्न मानने पर ही `ग्राहकाकारक` अर्थात् घट के ग्राहक ज्ञान के आकार के `घटमहं जानामि` इस ज्ञान में `आकारग्रहण` की उत्पत्ति होती है।[3] इसलिये `ज्ञान` तथा `अर्थ` में भिन्नता माननी चाहिये ।

बौद्ध विद्वान् उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान का ग्रहण स्वीकार करते हैं किन्तु स्व के द्वारा स्व का ग्रहण नहीं होता और उस क्षण में किसी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है जिसके द्वारा वह गृहीत हो सके, इसलिये उत्पत्ति क्षण में ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता।[4] ज्ञान का ग्राहक अर्थापत्ति प्रमाण है जो उसके

---

१. उत्तरोत्तरविज्ञानविशेषाद् वा प्रकल्प्यते ।
ग्राहकाकारसंवित्तिः स्मरणाच्चानुमानिकी ॥— श्लो० वा० शून्य० ११०

२. स्वाकारं किल ज्ञानं प्रथमं यदि कल्प्यते ।
ततस्तद्विषयाप्यन्या तद्रूपैव मतिर्भवेत् ॥ - श्लो० वा० शून्य० १११

३. घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽतो न सिध्यति ।
ग्राहकाकारसंवित्तौ त्वाकारग्रहणो भवेत् ॥
— श्लो० वा० शून्य० ११२ तथा ११३-११४

४. यदप्यप्रतिबद्धत्वादुत्पत्तौ गृह्यतामिति ॥
तदात्मना न ग्रहणं अन्यान्योत्पत्तिरस्ति वा ।
नैवतद् कारणाभावात् तदानीं नानुभूयते ॥
- श्लो० वा० शून्य० १८०-१८१

उत्पत्ति क्षण में नहीं रहता है वरन् उसके बाद ही उत्पन्न होता है । ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् ही 'ज्ञातो मयार्थः' यह प्रतीति होती है । प्रतीत इस 'ज्ञातत्व' की उपपत्ति पूर्व में उत्पन्न अर्थज्ञान के बिना सम्भव नहीं है । घटादि अर्थों के ज्ञातत्व की यह 'अन्यथानुपपत्ति' ही ज्ञान का ग्राहक है ।[1] अतएव ज्ञान का ग्रहण उत्पत्ति क्षण में नहीं वरन् बाद के क्षणों में होता है । यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि ज्ञान में अर्थ को प्रकाशित करने का सामर्थ्य है तो 'स्व' स्वरूपज्ञान को प्रकाशित करने का सामर्थ्य क्यों नहीं है ? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार चक्षु में रूप प्रकाशन का सामर्थ्य व्यवस्थित रहता है उसी प्रकार ज्ञान में भी विषयमात्र के प्रकाशन की व्यवस्था है । इस व्यवस्था के अनुसार कहा जा सकता है कि ज्ञान में बाह्य विषयों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य है, स्व को प्रकाशित करने का नहीं ।[2]

कुमारिल का यह सिद्धान्त 'ज्ञाततावाद' के नाम से प्रसिद्ध है । इन्होंने प्रभाकर की भाँति ज्ञान को 'स्वयं प्रकाश' नहीं माना है । कुमारिल ज्ञान को आत्मा का व्यापार मानते हैं, यह एक प्रकार की क्रिया है । यह ज्ञान न तो स्वतः प्रकाशित है और न ही दूसरों द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है । 'अन्यथानुपपत्ति' ही इस ज्ञान का ग्राहक है । प्रभाकर का ज्ञान सिद्धान्त 'त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद' के नाम से प्रसिद्ध है । प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं । स्वप्रकाश होने पर भी इसकी उत्पत्ति होती है तथा विनाश भी । प्रत्येक ज्ञान में तीन तत्वों -- ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का रहना अनिवार्य है । आत्मा ज्ञाता है तथा जिस विषय का ज्ञान

---

१. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ॥
- श्लो० वा० शून्य १८२

अपि च,
न्याय० र० ।

२. शक्तिः प्रकाशकत्वे च व्यवस्था दृश्यते यथा ।
रूपादौ चक्षुरादीनां तथाभावि भविष्यति ॥
प्रकाशकत्वं बाह्येऽर्थे ज्ञानस्याभावात् तु नात्मनि ।
- श्लो० वा० शून्य० १८६-८७

होता है उसे ज्ञेय कहते हैं । प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान— इनकी त्रिपुटी विद्यमान होती है । ज्ञान तो स्वप्रकाश है किन्तु आत्मा तथा विषय प्रकाशित होने के लिये ज्ञान पर निर्भर करते हैं ।

अद्वैत वेदान्त में तो ज्ञान को ही सत्ता तथा सत्ता को ही ज्ञान बतलाते हुये ज्ञान को स्वप्रकाश्य माना गया है जबकि कुमारिल के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश नहीं वरन् आत्मा का व्यापार है । ज्ञान के स्वरूप के विषय में दोनों की भिन्नता स्पष्ट लक्षित है । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषा ने ज्ञानसिद्धान्त को पृथक् रूप से विवेचित नहीं किया गया है ।

१.२ (ख) ज्ञान का वर्गीकरण

'ज्ञान' शब्द व्यापक होने के कारण विभिन्न दृष्टियों से प्रयुक्त होता है । न्यायशास्त्र में अनुभव तथा स्मृति के भेद से ज्ञान के दो भेद किये गए हैं । अज्ञातविषयक ज्ञान को अनुभव तथा ज्ञातविषयक ज्ञान को स्मृति कहा जाता है । अनुभव के प्रमा तथा अप्रमा -- ये दो भेद सामान्यतया भारतीय दार्शनिकों को मान्य हैं । प्रमा का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के लिये तथा अप्रमा का प्रयोग मिथ्या ज्ञान के लिये किया जाता है ।

१.२.१ प्रमा —

ज्ञान में सत्यता तथा असत्यता दोनों ही हो सकती है । सत्य ज्ञान को 'प्रमा' शब्द से अभिहित किया जाता है । अर्थविषयक यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है । जैसे — रजत को देखकर रजत का ही ज्ञान होना रजत रूप अर्थ की यथार्थ प्रतीति है । किन्तु यदि शुक्ति को देखते हैं तथा उसे रजत समझ लेते हैं तो यह अयथार्थ ज्ञान हुआ क्योंकि शुक्ति को देखकर शुक्ति का ही ज्ञान होना यथार्थ ज्ञान है । न्यायदर्शन में यथार्थानुभव को प्रमा बतलाया गया है । प्रमा के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिकों ने पृथक्-पृथक् विवेचनायें की हैं । वेदान्तपरिभाषा तथा

श्लोकवार्तिक से सम्बद्ध प्रमाविषयक वर्णन यहाँ अपेक्षित है अत: उसी का वर्णन किया जा रहा है ।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार प्रमा का लक्षण है - `अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्` तथा `अबाधितविषयज्ञानत्वम्`[1]। यथार्थ ज्ञान दो प्रकार का होता है - अनुभव तथा स्मृति । कुछ लोगों ने स्मृति को प्रमा नहीं माना है किन्तु धर्मराजाध्वरीन्द्र का मत विलक्षण है क्योंकि वे स्मृति के प्रमात्व का भी निरूपण करते हैं । स्मृति, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जन्य संस्कारों से उत्पन्न होती है । संस्कारों में प्रमाणत्व अनभिप्रेत होने के कारण कुछ लोगों ने स्मृति को प्रमा नहीं माना है अतएव प्रमा के लक्षण में स्मृति का व्यावर्तन करने के लिये `अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्` यह लक्षण किया गया है अर्थात् पूर्व से अज्ञात दूसरे प्रमाण से बाधित न होने वाला जो विषय है, उसका ज्ञान ही प्रमा है । स्मृति में तो ज्ञान का विषय है, उसका ज्ञान ही प्रमा है । स्मृति में तो ज्ञान का विषय पहले से ही अधिगत हुआ रहता है इसलिये स्मृति को प्रमा नहीं कहा जा सकता है ।`अनधिगत` विशेषण स्मृति के विषय का व्यावर्तन करता है । बाधित विषयों की निवृत्ति करने के लिये लक्षण में `अबाधित` विशेषण प्रयुक्त किया गया है । लक्षण में प्रयुक्त विषयज्ञानत्व में `ज्ञानत्व` पद `प्रमा` का स्वरूप बतलाने के लिये है । `अनधिगत` विशेषण इच्छा का जो कि अन्त:करणवृत्तिरूप ज्ञान है, निरसन करता है क्योंकि इच्छा ज्ञात विषयों से उत्पन्न होती है । इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा द्वारा किये गये लक्षणों में प्रथम लक्षण स्मृति व्यावृत्त प्रमा का लक्षण है तथा द्वितीय लक्षण स्मृतिसाधारण प्रमा का लक्षण है अर्थात् स्मृति का भी प्रमात्व वेदान्तपरिभाषाकार को अभीष्ट है ।

---

१. तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, `अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्` । स्मृतिसाधारणं तु अबाधितविषयज्ञानत्वम् ।

- वे० प० पृ० १६

कुछ लोगों को स्मृति में भी प्रमात्व अभिप्रेत है इसलिये `अबाधित-विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्` --ऐसा दूसरा स्मृतिसाधारण लक्षण किया गया है । बाधित विषय की कालान्तर में होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं है । इसलिये स्मृति तथा अनुभव इन दोनों प्रमाओं का `अबाधितविषयज्ञानत्वम्` -- यह साधारण लक्षण है । कुमारिल ने स्मृति को प्रमा नहीं माना है, उनके अनुसार स्मृति सदैव अबाधितविषया नहीं होती है[1] । अब श्लोकवार्तिककृत प्रमाविषयक वर्णन विवेचनीय है ।

`प्रमा` शब्द का प्रयोग भाट्ट सम्प्रदाय के सभी आचार्य करते हैं किन्तु आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में यथार्थज्ञान के लिए `प्रमा` शब्द का प्रयोग नहीं किया है । वे यथार्थ ज्ञान के लिये `प्रमाण` या `प्रामाण्य` शब्दों का प्रयोग करते हैं जो `प्रमा` के लक्षणविषयक वार्तिक से स्पष्ट है । `प्रमाण` शब्द यद्यपि `ज्ञान का साधन` अर्थ का बोधक है तथापि वह `प्रमा` का भी आशय प्रकट करता है। कुमारिल भट्ट अपने विवेचन में सन्देह तथा बाध से रहित पूर्व में अज्ञात अर्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं --

तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति ।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम् ॥[2] अर्थात्

कोई भी संशयभिन्न ज्ञान यदि आगे या पीछे के दूसरे ज्ञान से विसंवाद अर्थात् बाध को नहीं प्राप्त होता है तो वह ज्ञान अवश्य ही `प्रमा` है । अतः संशयात्मक या विपर्ययात्मक न होना ही प्रमा ज्ञान का लक्षण है । वार्तिक में `प्रमा` शब्द का उल्लेख न होने पर भी `प्रमाण` शब्द के उल्लेख से प्रमा का आशय समझना चाहिए क्योंकि वार्तिककार प्रमाण तथा फलभाव को इच्छा के अनुसार कल्पनीय मानते हैं[3] ।

---

१. तुलनीय श्लो० वा० चोदना ८०

२. श्लो० वा० चोदना ८०

३. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यताम् ।
 - श्लो० वा० पृ० ११

पार्थसारथि मिश्र ने कारणदोषरहित, बाधकज्ञानरहित, अगृहीतग्राहि[1] अर्थात् अज्ञात अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है।

वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक के उक्त प्रमा लक्षण तथा उसके स्वरूप से उनका साम्य तथा वैषम्य स्पष्ट है। कालक्रम को ध्यान में रखते हुये यदि यह कहा जाय कि वेदान्तपरिभाषाकार श्लोकवार्तिककार से अवश्य ही प्रभावित हैं तथा प्रमालक्षण में उन्हीं का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं - तो अत्युक्ति नहीं। प्रमा के लक्षण के विषय में धर्मराजाध्वरीन्द्र कुमारिल से `अबाधितत्व` के विषय में साम्य रखते हुये एक कदम आगे ही बढ़ जाते हैं तथा स्मृति के प्रमात्व को भी स्वीकार करके अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। इस प्रकार धर्मराजा-ध्वरीन्द्र के मत में स्मृति का भी प्रमात्व है जबकि कुमारिल ने स्मृति के प्रमात्व का निराकरण किया है।[2] वेदान्ती प्रातिभासिक सत्य, व्यावहारिक सत्य तथा पारमार्थिक सत्य के रूप में सत्य के तीन भेद स्वीकार करते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक सत्य को केवल ही पारमार्थिक मानते हैं जो पारमार्थिक नहीं है वह सत्य भी नहीं है। वेदान्तियों के अनुसार बाधित न होने वाला प्रयोगसिद्ध ज्ञान सत्य है। वे कुछ काल के लिये स्वप्न के ज्ञान को भी सत्य मानते हैं जिसके लिये वे `प्रातिभासिक सत्य` पद का प्रयोग करते हैं किन्तु, भाट्ट मीमांसक स्वप्न के ज्ञान की पूर्ण, असत्यता प्रतिपादित करते हैं। भाट्ट तथा वेदान्तियों के इस मतभेद का कारण वेदान्तियों का परमार्थ तथा व्यवहार में अलग-अलग सत्ता मानना है। कुमारिल का कहना है कि सत्य के साथ विशेषणात्मक संवृति शब्द का अभेदान्वय नहीं हो सकता क्योंकि जो सत्य है वह संवृति अर्थात्

---

1. कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्।
   - शा० दी० पृ० ४५
2. अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्। वे० प० पृ० १६
   श्लो० वा० चोदना ८० में `ज्ञानान्तरेण विज्ञानम्` पद से स्मरणात्मक ज्ञान का व्यवच्छेद किया गया है।

मिथ्या नहीं हो सकता और जो मिथ्या है वह सत्य नहीं हो सकता ।[1]

१.२.२ धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व निरूपण—

धर्मराजाध्वरीन्द्र तथा कुमारिल दोनों ने ही अज्ञातविषयक ज्ञान को प्रमा माना है अतएव दोनों ही मतों में धारावाहिक प्रमा ज्ञानों में द्वितीयादि क्षणों के ज्ञान को प्रमा मानने में सैद्धान्तिक कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि वे अज्ञातविषयक ज्ञान न होकर ज्ञातविषयक ज्ञान कहे जा सकते हैं । किन्तु, दोनों ने ही इसका समुचित समाधान करके स्वमत को पुष्ट किया है ।

वेदान्तपरिभाषा में इस समस्या के समाधान के लिये काल का प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है । कोई भी ज्ञान क्षणविशिष्ट ही होता है अतः इससे धाराविक प्रमा में शङ्का की सम्भावना नहीं है । यहाँ पर मुख्यरूपेण नैयायिक ही पूर्वपक्षी बनते हैं जिन्हें काल का प्रत्यक्ष ज्ञान अभीष्ट नहीं है । नैयायिकों का कहना है कि काल के नीरूप होने के कारण कालविशिष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है । उनका यह कथन उनके इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्त्व परिमाण तथा उद्भूत रूप कारण होता है । चूंकि काल में न तो महत्त्व परिमाण होता है और न उद्भूत रूप ही, अतः काल नामक द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । वेदान्तियों का कथन है कि यदि महत्त्व परिमाण तथा उद्भूत रूप ही द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के प्रतिमान स्वीकार किये जायें तो रूप का भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये क्योंकि नैयायिक महत्त्व परिमाण तथा उद्भूत रूप से रहित रूप का प्रत्यक्ष मानते हैं । इसी न्याय से कालद्रव्य भी प्रत्यक्ष के योग्य है । वेदान्ती रूपरहित काल का इन्द्रियविषयत्व मानते हैं अर्थात्

---

१. संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्यथा ।
सत्या चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥ -श्लो० वा० निरालम्बन० ६
तस्मात् यन्नास्ति नास्त्येव, यत्त्वस्ति परमार्थतः ।
तत् सत्यमन्यन्मिथ्यैवेति न सत्यद्वयकल्पना ॥
वही १०

चक्षुरादीन्द्रिय से काल का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण धारावाहिक बुद्धि को भी पूर्व-पूर्व ज्ञान का विषय न होने वाला उत्तरोत्तर द्वितीय, तृतीयादि क्षण तद्विषयकत्व है, अतः धारावाहिक बुद्धि में भी प्रथम लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।[1]

किन्तु, नैयायिकों का आक्षेप हो सकता है कि यदि काल को 'इस समय घट देख रहा हूँ' कह कर प्रत्यक्ष का विषय माना जाय तो 'इस समय आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं' -- ऐसा कहकर आकाश का भी प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष स्वीकार करना वेदान्तियों को अभीष्ट न होगा क्योंकि ऐसा मानने पर तो श्री शङ्कराचार्य जी के वचनों से विरोध होगा[2] जिन्होंने आकाश का प्रत्यक्ष नहीं माना है। जिस तरह आकाश का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसी तरह काल का भी प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है - वेदान्तियों को ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

धारावाहिक ज्ञान के प्रमात्व का निरूपण काल को प्रत्यक्ष मानने से ही हो जाता है किन्तु काल के प्रत्यक्षत्व को नैयायिकों द्वारा अस्वीकार किये जाने पर ज्ञान में अभेदता के सिद्धान्त के आधार पर वेदान्तपरिभाषाकार ने चरम समाधान किया है। वेदान्त मत में धारावाहिक ज्ञान में ज्ञानभेद को स्वीकार नहीं किया गया है। पूर्वपक्षी यदि काल का प्रत्यक्ष न भी माने तो धारावाहिक ज्ञान स्थल में अव्याप्ति दोष नहीं आता क्योंकि जब तक एक ही विषय प्रतीत होता रहता है तब तक तदाकार अन्तःकरण की वृत्ति भी एक ही रहती है। बिना वृत्तिभेद के ज्ञानभेद भी नहीं होता है। अतः सिद्धान्ततः धारावाहिक बुद्धिस्थल पर

---

१. सिद्धान्ते कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञाना-विषयतत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः।

- वे० प०, पृ० १६-२०

२. अप्रत्यक्षे ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति - अध्यासभाष्य

- ब्र० सू० शां० भा०।

ज्ञान का भेद नहीं है। जब तक घट का स्फुरण होता रहता है तब तक अन्तःकरण की एक ही वृत्ति मानी जाती है क्योंकि एक वृत्ति की विरोधिनी दूसरी वृत्ति जब तक उत्पन्न न होगी तब तक पूर्ववृत्ति ही चलती रहेगी और ऐसी स्थिति में ज्ञानभेद नहीं माना जा सकता है। इसलिये धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व निराकृत नहीं किया जा सकता है।[1] किं च, घटाकार वृत्ति बनने के पूर्व तो घट अनधिगत था ही, उसी का घटाकारवृत्ति दशा में ज्ञान हो रहा है अतः 'अनधिगत-अबाधित-विषय-ज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह लक्षण पूर्णतया दोषमुक्त है।

अद्वैत वेदान्तानुसार अबाधितविषयक ज्ञान को प्रमा कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उसका व्यावहारिक दशा में ही बाध हो जाय तो उस ज्ञान को प्रमा नहीं मानना चाहिये। व्यावहारिक दशा में घटादि का बाध तो किसी को भी इष्ट नहीं है, अतः 'अयं घटः' यह लौकिक ज्ञान भी व्यावहारिक रूप से ही प्रमा होगा। इसीलिये ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् घटादि सभी विषय बाधित हो जाते हैं क्योंकि पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है। अतः वेदान्त मत की समीक्षा में व्यवहार तथा परमार्थ के भेद का सदैव ध्यान रखना चाहिये। परमार्थ में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या है[2] किन्तु व्यवहार में इसकी सत्यता स्वीकृत है। वेदान्त सिद्धान्त में व्यावहारिक दशा में घटादि बाधित नहीं है, पारमार्थिक दशा में ही उनका बाध होता है अतः उनके ज्ञान को प्रमा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। व्यावहारिक विषयों का बाध ब्रह्मसाक्षात्कार से ही सम्भव है क्योंकि उस समय सभी कुछ आत्मरूप हो जाता है तथा आत्मरूप (ब्रह्मरूप) हो जाने पर द्वैत का

---

1. किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावद् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्ति-पर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि।

   - वे० प० पृ० २३

2. तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

   - अध्यासभाष्य
   ब्र० सू० शां० भा०

भान तक नहीं होता है। अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार के पूर्व तो प्रमाण-प्रमेय व्यवहार होता ही रहता है। इसी को दृष्टि में रखकर बाह्य व्यवहार के लिए[1] प्रमा का लक्षण किया गया है जिसकी अव्याप्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए -- वेदान्तपरिभाषाकार इस प्रकार तर्क से स्वमतपुष्टि करते हैं।

भाट्ट मीमांसकों ने भी धारावाहिक ज्ञान के प्रमात्व को सिद्ध किया है। प्राभाकर मीमांसक भाट्ट मत के प्रमा के उक्त लक्षण में दोष दिखलाते हैं। अज्ञात अर्थ के ज्ञान को प्रमा मानने पर द्वितीयादि क्षणों के ज्ञान अप्रमा हो जायेंगे अतः यह लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त है। इस लक्षण को यदि मान लिया जाय तो धारावाहिक ज्ञानस्थल में द्वितीयादि ज्ञानों में पूर्वगृहीतार्थविषयक होने से अप्रामाण्य होगा। जैसे -- घट को लगातार देखने पर `अयं घटः, अयं घटः` इस धारावाहिक ज्ञान में परवर्ती ज्ञान पूर्वज्ञान की अपेक्षा अधिगतार्थविषयक ही होता है। अतः `अनुभूति ही प्रमाण है`- ऐसा लक्षण करना चाहिए।[2] स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभूति है तथा संस्कारमात्र जन्य ज्ञान स्मृति है। इस प्रकार प्राभाकर मतावलम्बियों को भाट्टों का धारावाहिक ज्ञान में प्रमात्व अनभीष्ट है।

वार्तिककार कुमारिल ने इस समस्या को विशेष महत्त्व नहीं दिया है

----

१. ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः, `यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्` (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः, न च संसार-दशायां बाधः, `यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति` (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः।

— वे० प० पृ० २६

२. अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ॥
न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्।

— प्र० प० ५।१।२

किन्तु अन्य भाट्ट मीमांसकों ने इसका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है । यद्यपि धारावाहिक ज्ञानों के `अयम् अयम्` - इत्यादि आकारों में समानता है तथापि `अयम्` शब्द से उल्लिख्यमान प्रत्येक क्षण की विषयवस्तु में भिन्नता होती है । प्रथम ज्ञान का विषय द्वितीय ज्ञान के विषय से भिन्न है क्योंकि प्रथम ज्ञान का विषय प्रथम क्षणावच्छिन्न होता है तथा द्वितीय ज्ञान का विषय द्वितीय-क्षणावच्छिन्न । इस प्रकार द्वितीय ज्ञान भी अगृहीत द्वितीयक्षणावच्छिन्न घट को विषय करने के कारण `प्रमा` है ।[1] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि काल का स्वत: भेद न होकर औपाधिक भेद होता है अत: धारावाहिक ज्ञानों के विषयीभूत क्षणभेदों की नियामिका उपाधि क्या मानी जाय ? मानमेयोदयकार ने इस समस्या को प्रस्तुत करके इसका सम्यक् समाधान किया है । प्रथम ज्ञान से जनित `विषयगत प्राकट्य` या `ज्ञातताख्य धर्म` द्वितीय ज्ञानपर्यन्त तथा उत्तरोत्तर ज्ञानों के होने तक अवस्थित रहते हैं, उन्हीं प्रत्यक्षभूत प्राकट्यरूप (ज्ञातता रूप) उपाधियों से अवच्छिन्न कालखण्ड धारावाहिक ज्ञानों द्वारा गृहीत होते हैं । प्राकट्यरूप धर्म के सूक्ष्म होने के कारण उनसे अवच्छिन्न कालखण्ड (क्षण) भी सूक्ष्मतावश धारावाहिक ज्ञानों द्वारा गृहीत नहीं होंगे, ऐसा सन्देह करना युक्त नहीं है क्योंकि प्राकट्यात्मक धर्मों एवं उनसे अवच्छिन्न कालखण्डों को सूक्ष्म मानने पर अनेक क्षणों में `अयम् अयम्`-- इस प्रकार अनेककालवर्तित्व का भान न होकर ऐककालिकत्व (यौगपद्य) की उसी प्रकार प्रतीति होगी जैसे कमल दल की सैकड़ों पत्तों को सूई के द्वारा भेदन करने पर काल के एकत्व का भान होता है, अनेकत्व का नहीं । चूँकि धारावाहिक ज्ञान स्थल पर क्रमिकत्व का भान होता है अत: प्राकट्य धर्म तथा उनसे अवच्छिन्न कालखण्ड को सूक्ष्म नहीं कहा जा सकता है ।[2] इस प्रकार अर्थ के साथ प्रत्येक क्षण नया ज्ञान होने से अर्थ में अनधिगतत्व होने और उसके प्रमा होने में कोई आपत्ति नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाट्टमीमांसा में कालखण्ड के प्रत्यक्ष को ही धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्यनिरूपण में मुख्य हेतु माना गया है तथा प्रत्येक क्षण

---

१. धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्याग्रहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् ।
- शा० दी० पृ० ७५

२. मा० मे० पृ० ४-५

में होने वाले ज्ञान की नवीनता प्रतिपादित की गयी है । वेदान्तपरिभाषा में भी कालखण्ड के प्रत्यक्ष द्वारा धारावाहिक ज्ञान के प्रमात्व का निरूपण किया गया है किन्तु यदि किसी (नैयायिकादि) को कालखण्ड के प्रत्यक्षत्व के विषय में आपत्ति हो तो वेदान्तपरिभाषाकार ने धारावाहिक ज्ञान के प्रमात्व की इस समस्या का परम समाधान वेदान्तियों के सर्वसम्मत सिद्धान्त -- ज्ञान की अभेदता के माध्यम से किया है । इस प्रकार दोनो ही मतों में धारावाहिक ज्ञान में नवीन ज्ञान का होना स्वीकृत है । अद्वैत मत में अनेक क्षणों से होने वाला घट का ज्ञान एक ही ज्ञान है, ज्ञानों की शृङ्खला नहीं क्योंकि इस ज्ञान में एक ही अन्तःकरण की वृत्ति रहती है और जब तक उसका नाश न हो जाय ज्ञान भी एक ही रहेगा । जैसे -- किसी घट को दस क्षण निरन्तर देखने पर भी ज्ञान एक ही होगा, दस नहीं क्योंकि दस क्षण तक अन्तःकरण की एक ही वृत्ति काम कर रही है । इसी प्रकार यदि पाँच क्षण तक घट देखें तदुपरान्त पाँच क्षण तक पट देखें तो ऐसी स्थिति में दो ही ज्ञान होंगे, दस नहीं । भाट्ट मीमांसक प्रत्येक क्षण के प्रत्येक ज्ञान की नवीनता स्वीकार करते हैं, भाट्ट मीमांसकों से वेदान्तपरिभाषाकार की यही विशिष्टता है ।

१.२.३ अप्रमा --

किन्हीं कारणों से कभी-कभी वस्तु का अन्यथाज्ञान भी हो जाता है जो परीक्षा करने पर असत्य सिद्ध होता है । ऐसे अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' या 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है । यदि कोई ज्ञान बाधित है तो वह अयथार्थ होगा । कुमारिल का कथन है कि मिथ्यात्व (विपर्यय), अज्ञान तथा संशय ज्ञान के भेद से तीन प्रकार का अयथार्थ ज्ञान होता है । इनमें विपर्यय तथा संशय ये दोनों[1] ही भावस्वरूप है अतः इनकी उत्पत्ति दोषयुक्त ज्ञानोत्पादक सामग्री से होती है । यहाँ पर

---

१. अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः । .
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात् ॥
- श्लो० वा० चोदना० ५४

उन्होंने स्मृति का उल्लेख नहीं किया है जो कि उनके अनुसार अप्रमा ही है । अन्य स्थानों पर उन्होंने कहा कि प्रमा सदैव नवीन ज्ञान देती है और यदि इसमें कोई नवीन ज्ञान नहीं होता[1] वरन् पूर्वोपलब्ध का ही ज्ञान होता है तो यह ज्ञान स्मृति रूप ही होता है । यथार्थ तथा अयथार्थ ये दो ज्ञान के भेद हैं अतः अयथार्थता ज्ञान का अभाव नहीं है । सुचरित मिश्र ने अप्रमा को भ्रम, सन्देह, स्मृति तथा[2] संवाद इन चार भागों में बाँटा है । प्रमा को लेकर ये पाँच प्रकार का ज्ञान हुआ ।

एक प्रमाण से प्रमित अर्थ का दूसरे प्रमाण से उतना ही ज्ञान होना 'संवाद' है । उदाहरणार्थ किसी आप्त पुरुष के द्वारा पर्वत पर वह्नि के अस्तित्व को बतलाने पर कोई पुरुष पर्वत पर धुआँ उठते देखता है और वह्नि से धूम का अनुमान करता है, अथवा वहाँ जाकर वस्तुतः वह्नि को पाता है तो उसके ज्ञान में कोई नवीनता नहीं होती है क्योंकि प्रत्येक दशा में उसे वह्नि का ज्ञान होता है । इसमें प्रथम प्रकार से वह्नि का ज्ञान होना ही वस्तुतः प्रमा ज्ञान है अन्य सभी अप्रमा है । सुचरित मिश्र ने यद्यपि इसको अप्रमा बतलाया है जबकि कुमारिल ने इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं की ।

स्मृति सदैव संस्कारजन्य होती है, स्मृति में भी कोई नवीन ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अतः वह भी अप्रमा ही है । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषा में स्मृति को प्रमा ज्ञान माना गया है । इस विषय में दोनों ही ग्रन्थों का मतवैभिन्न्य स्पष्ट लक्षित है ।

---

1. सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ।

   - श्लो० वा० औ० सू० ११

2. प्रमार्थं भ्रमः संशयः स्मरणं संवाद इति पञ्चधा ज्ञानं विभजामहे ।

   - काशिका श्लो० वा० २-२०

संशय ज्ञान अनवधारणात्मक प्रत्यय रूप होता है जिसमें किसी पुरुष की आकृति की वस्तु के विषय में सदैव सन्देह बना रहता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष ।[1] कुमारिल संशय के तीन कारण बतलाते हैं - (१) कुछ वस्तुओं में कुछ समान गुणों का होना, (२) किसी असामान्य गुण का उन वस्तुओं में होना और (३) स्पष्टतया परस्पर विरुद्ध दो गुणों का उनमें रखना ।[2] संशय को सभी दार्शनिकों ने अप्रमा माना है ।

भ्रम ज्ञान में अन्यथास्थित वस्तु में अन्यथा ज्ञान होता है ।[3] जैसे - शुक्ति में रजत का । भ्रमज्ञान के विषय में दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं तथा स्वसिद्धान्तों की पुष्टि में उन्होंने अपने-अपने तर्कों को प्रस्तुत किया है । भ्रम में होने वाला ज्ञान सर्वदा मिथ्या होता है क्योंकि भ्रम में सही रूप का भान नहीं होने वाला है । भारतीय दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के अन्तर्गत भ्रम का विवेचन किया है क्योंकि शुक्ति में प्रतीत होने वाला रजत का ज्ञान प्रत्यक्ष जन्य है तथापि प्रत्यक्ष प्रमा नहीं । शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान अथवा रज्जु में सर्प की प्रतीति का होना 'ख्याति' शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है क्योंकि 'ख्याति' शब्द की निष्पत्ति √ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर होती है और दर्शन में इसका अर्थ 'ज्ञान' किया जाता है । ख्यातिविषयक सात मत दृष्टिगत होते हैं जिनका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है ।

(i) आत्मख्यातिवाद --

योगाचार बौद्ध भ्रम के आत्मख्यातिवाद में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार आन्तरिक, मानसिक संस्कार ही स्वप्न वस्तु के समान बाह्य वस्तु के रूप में दिखाई पड़ते हैं (यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते) । विज्ञानवादी बौद्धों ने

---

१. संशयो नाम स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः ।
 - न्याय० र० पृ० ९६

२. श्लो० वा० अनु० ८४

३. अन्यथासंस्थितस्यान्यथा प्रतिपत्तिः । - न्याय० र० पृ० १७६

न तो बाह्य पदार्थ को माना है और न ही किसी आत्मतत्त्व को । उनके मत में विज्ञान से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं होती अत: भ्रान्ति का कारण विषयगत नहीं वरन् ज्ञानगत होता है । शुक्ति में रजत दिखाई पड़ने का कारण विज्ञान है जो बाहर रजताकार में प्रतीत होता है । विज्ञानशृंखला की एक कड़ी जिसे दूसरी कड़ियों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है रजत के रूप में अवभासित होने लगती है, रजत का कोई दूसरा आधार नहीं होता । इस सिद्धान्तानुसार भ्रम का विषय नितान्त असत् नहीं बतलाया गया जैसा कि शून्यवादी मानते हैं ।

(ii) असत्ख्यातिवाद —

बौद्ध सम्प्रदाय के माध्यमिक शून्यवादी सांसारिक समस्त वस्तुओं को `असत्` या `शून्य` मानते हैं इसीलिये वे असत्ख्यातिवादी कहे जाते हैं । जिस शुक्ति में रजत का अध्यास है उसी शुक्ति में विपरीत धर्म-अत्यन्त असत् रजत की रजत रूप से प्रतीति -- को असत्ख्याति कहते हैं । बौद्ध सम्प्रदाय का माध्यमिक शून्यवाद संसार की वस्तुओं को असत् या शून्य मानता है । माध्यमिक सम्प्रदाय में `शून्य` का वास्तविक तात्पर्य जगत् की स्वभावशून्यता व तत्त्व की प्रपञ्चशून्यता से है ।

(iii) अख्यातिवाद—

प्रभाकर ने भ्रम की वस्तुवादी व्याख्या की है । शुक्ति-रजत के ज्ञान में वस्तुत: दो ज्ञान सम्मिलित हैं -- रजत का ज्ञान स्मृतिरूप होता है तथा शुक्ति का ज्ञान अनुभव रूप । `इदं रजतम्` में दो ज्ञान उपस्थित हैं । `इदम्` इस ज्ञान में शुक्ति के द्रव्य का तो ज्ञान है परन्तु किसी दोष के कारण उसके गुण `शुक्तित्व` का ज्ञान नहीं है । इसी प्रकार रजत के ज्ञान में रजत के गुण का तो ज्ञान है परन्तु उसके `द्रव्य` के ज्ञान का सर्वथा अभाव है । शुक्ति के द्रव्य का ज्ञान सादृश्य के कारण रजत की स्मृति को जागृत कर देता है जिसे किसी दोष के कारण स्मृति रूप में न ग्रहण कर प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा स्मृति तथा उनके विषयों के मध्य विवेकख्याति,भेदाग्रह या असंसर्गाग्रह के

कारण ही भ्रमोत्पत्ति होती है । भ्रम के इस सिद्धान्त को अख्यातिवाद इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष तथा स्मृति और उनके विभिन्न विषयों का अज्ञान रहता है । भ्रम में दो ज्ञानों के अस्तित्व की उपेक्षा की जाती है जिससे उनके पृथक्त्व का ज्ञान नहीं होने पाता है । यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में भी प्रत्यक्ष तथा स्मृति दोनों ही अंश रहते हैं तथापि उसमें स्मृतिमूलक अंश का ज्ञाता को बोध रहता है । अतः प्रत्यभिज्ञा शुक्ति-रजतज्ञान से भिन्न है ।

(iv) अन्यथाख्यातिवाद—

न्याय के भ्रम विचार को 'अन्यथाख्यातिवाद' की संज्ञा दी गयी है । यहाँ दो सत् पदार्थों का असम्भव सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इसी कारण इसे अयथार्थ ज्ञान कहते हैं । जैसे ही द्रष्टा की आँखों का सम्बन्ध सामने पड़ी हुयी रस्सी से होता है वैसे ही वह अन्यत्र स्थित सर्प के स्मरणात्मक ज्ञान के साथ इन्द्रिय (आँखों) का संयोग कर लेता है । नैयायिक मत में सर्प स्मृतिमात्र नहीं है वरन् सत्य है । सर्प का प्रत्यक्षीकरण साधारण ढंग से नहीं अपितु 'ज्ञान लक्षणा' नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है । यह सिद्धान्त ज्ञान की एकता में विश्वास करता है ।

(V) सत्ख्यातिवाद —

रामानुज द्वारा प्रस्थापित भ्रम विचार 'सत्ख्यातिवाद' कहलाता है । यह सिद्धान्त सभी ज्ञान को यथार्थ मानता है । रामानुज ने मिथ्याज्ञान को स्वीकार ही नहीं किया । उनके अनुसार अनुभव में सदैव किसी वस्तु सत् का ज्ञान होता है [(म) प्रकाशमानत्वाभावे सत्त्वम्] इस दृष्टि से सत्ख्यातिवाद तथा अख्यातिवाद यहाँ भी एकता है । रामानुज के अनुसार सांसारिक प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक अन्य वस्तु के तत्त्व पाये जाते हैं । यदि शुक्ति में रजत तथा रेत में जलांश विद्यमान न होता तो हमें शुक्ति में रजत तथा रेत में जल का भ्रम कदापि नहीं हो सकता था । अपितु ज्ञान में कोई भी आत्मनिष्ठ तत्त्व नहीं पाया जाता । हमारा सभी ज्ञान यथार्थ ही होता है तथा सदैव किसी सत् व सविशेष वस्तु की ओर संकेत करता है — अतः 'सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयकञ्च' (यतीन्द्रमत दीपिका) । भ्रमात्मक ज्ञान इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें प्रवृत्तिविसंवाद पाया जाता है ।

(vi) अनिर्वचनीयख्यातिवाद—

वेदान्त सिद्धान्त में यह स्वीकृत है कि भ्रम का विषय न तो पूर्णतया सत् होता है और न ही पूर्णतया असत् वरन् सदसत् विलक्षण होता है । बाद में बाध हो जाने के कारण ही भ्रम का विषय सत् नहीं होता है । भ्रम के विषय की प्रतीति होती है अतः वह पूर्णतया असत् भी नहीं कहा जा सकता है और असत् पदार्थ तो शशविषाण की भाँति प्राप्त नहीं हो सकते । भ्रम का विषय न तो पूर्णतया सत् है तथा न ही पूर्णतया असत्, इसी कारण इसे सदसद्विलक्षण अथवा अनिर्वचनीय कहते हैं । वेदान्तपरिभाषाकार ने इस अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाया है कि काच, कामला आदि नेत्रदोषों से दूषित नेत्र वाले व्यक्ति के नेत्रेन्द्रिय का पुरोऽवस्थित द्रव्य के साथ संयोग सन्निकर्ष हो जाने से 'इदमाकार'— 'यह' इत्याकारक की चाकचिक्याकार की कोई सी विशिष्ट अन्तःकरण की वृत्ति उदित होती है और उस वृत्ति में 'इदम्' — यह (इस विषय) से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है । इस प्रकार उस उत्पन्न हुयी वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर (उपर्युक्त) 'तडागोदक' न्याय से वृत्ति बाहर निकलती है । जिससे इदमवच्छिन्न चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य - यह त्रिविध चैतन्य अभिन्न हो जाता है । त्रिविध चेतना का अभेद हो जाने पर प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषयचैतन्य तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वही रजतरूप अर्थाकार से तथा रजतज्ञानाकार से परिणत होती है और चाकचिक्यादि सादृश्य के दर्शन से जागृत होने वाले रजत-संस्कार-रूप सामग्री का भी उस अविद्या को सहयोग रहता है और काच कामलादि दोष भी उस अविद्या में होते हैं जिससे वह रजत (अविद्या) रूप अर्थाकार से रजतज्ञानाभासाकार से परिणत होती है[1] । इस प्रकार अनिर्वचनीय

---

१. तथा हि काचकामलादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति । तस्यां च वृत्ताविदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते । तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेनेदमवच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति । ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते । — वे० प० पृ० ११०

रजत की उत्पत्ति होती है । 'शुक्तिरजत' आदि भ्रान्ति ज्ञान का विषय 'तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय रजत' होता है ।

अद्वैत मत में त्रिकालाबाधित ब्रह्म ही एकमात्र सत् स्वीकृत है । किन्तु, भ्रम का विषय सदसत् से विलक्षण होता है, उसके भीतर कुछ न कुछ सत्ता अवश्यमेव रहती है । इसी कारण वेदान्त मत में पारमार्थिक व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक-त्रिविध सत्तायें स्वीकृत हैं । प्रातिभासिक रजत को उत्पन्न करने वाली रजत सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण अविद्यारूप होती है । यह अविद्या (तूलाऽविद्या) आकाशादि-भूतों की उपादानभूत-अविद्या (मूलाऽविद्या) से विलक्षण है । वेदान्त-परिभाषाकार भ्रम की व्याख्या करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि जो ज्ञान सत्य तथा मिथ्या वस्तुओं में तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसे भ्रम के रूप में स्वीकार किया जाता है।[1] 'यह रजत है' इस वाक्य में इदमंश शुक्ति व्यावहारिक दृष्टि से सत्य वस्तु है किन्तु रजत-जिसका शुक्ति के ऊपर आरोपण किया जाता है केवल एक मिथ्या वस्तु ही है । यह सत्य तथा मिथ्या वस्तु का तादात्म्य ही अध्यास (भ्रम) कहा जाता है । स्वप्न में उपलब्ध वे होने वाले रथादिक भी शुक्तिरूप्य की तरह प्रातिभासिक हैं । जब तक प्रतिभास रहता है तब तक वे प्रातिभासिक रथादि भी अवस्थित रहते हैं।[2] इस प्रकार यद्यपि स्वप्न में रथादि नहीं होते तथापि उनकी प्रातिभासिक सत्यता अवश्यमेव रहती है । वेदान्तपरिभाषाकार अनिर्वचनीयख्यातिवाद वहीं स्वीकार करते हैं जहाँ आरोप्य अर्थ इन्द्रिय से असन्निकृष्ट होता है । इन्द्रिय से सन्निकृष्ट आरोप्य के होने पर वे अन्यथाख्यातिवाद को ही मानते हैं -- यह मत उनकी मौलिकता का परिचायक है जो वेदान्त सिद्धान्त में विलक्षण सिद्धान्त को व्यक्त करता है । उनके अनुसार, जहाँ पर आरोप्य सन्निकृष्ट न होकर इन्द्रिय से

----

१. सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात् ।

- वे० प० पृ० १२६

२. ...... शुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिका: यावत्प्रतिभास-मवतिष्ठन्ते ।

- वे० प० पृ० १३३

असन्निकृष्ट होता है वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति को हम मानते हैं। इसी कारण जपा पुष्प की लालिमा स्फटिक में भासित होती है। अत: उस स्फटिक में उसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है।[1] वेदान्त-परिभाषा के अनुपलब्धि परिच्छेद से भी अन्यथाख्याति को स्वीकार किये जाने की पुष्टि होती है।[2]

(vii) विपरीतख्यातिवाद—

भाट्ट मीमांसक अपने भ्रम सिद्धान्त की व्याख्या के लिए विपरीतख्याति का प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्तानुसार भ्रम में एक वास्तविक विषय दूसरे वास्तविक विषय के रूप में प्रकाशित होता है।[3] सभी स्थलों में विद्यमान पदार्थों का सम्बन्धमात्र ही अविद्यमान होकर भासता है। संसर्गी पदार्थ तो विद्यमान है ही। इसी को मीमांसकों ने विपरीतख्याति कहा है।[4] कुमारिल ने भ्रम की विस्तृत व्याख्या नहीं की। विपरीतख्यातिवाद का यह सिद्धान्त वस्तुत: अन्यथाख्यातिवाद ही है। दोनों में केवल यही भिन्नता है कि भाट्ट मीमांसक शुक्तिरजत भ्रम में रजत को स्मृत मानते हैं जबकि नैयायिक रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष करते हैं।

भाट्ट मतानुसार ज्ञान सदैव अपने से बाहर किसी चीज की ओर संकेत करता है। 'इदं रजतम्' में 'इदम्' बाह्य वस्तु का संकेत करता है जहाँ रजत का अभाव होता है। प्रतीति होने के कारण रजत को काल्पनिक या असत् नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि वह रजतविचार पूर्वानुभव पर आधारित होता है जो किसी बाह्य अर्थ से सम्बन्धित होता है।

---

१. यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिक वस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात्। अत एवेन्द्रिय-सन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसंभवात् न स्फटिके निर्वच-नीयलौहित्योत्पत्ति:।

— वे० प० पृ० १४६-१४७

२. आरोप्यसन्निकर्षस्थले अपि अन्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात्। —वे०प०पृ० ३०५

३. न्या० र० पृ० १०६

४. सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेवाभासते। संसर्गिणस्तु सन्त एव। सेयं विपरीतख्याति-रित्युच्यते मीमांसकै:। — शा० दी० पृ० १०४

अख्याति से यहाँ इस बात की समानता है कि (१) यह भी भ्रम को दो भागों में बाँटता है जिसमें से 'यह' (विषय) एक है तथा दूसरा उसके अस्तित्व का प्रकार है, (२) यहाँ पर भी भ्रम के दूर होने पर 'इदम्' का बाध नहीं माना गया है । यद्यपि रजत भ्रमस्थल पर नहीं है (भ्रमकाल में) तथापि वह पूर्वानुभूत है अन्यथा शुक्ति में उसका आरोप नहीं किया जा सकता है । अख्यातिवाद तथा विपरीतख्यातिवाद में भिन्नता यह है कि अख्यातिवाद भ्रम का कारण अनुभूत्यंश तथा स्मृत्यंश में पृथकता का ज्ञान न होना (असंसर्गाग्रह) बतलाता है तो विपरीतख्यातिवाद में भ्रम का कारण अनुभूत्यंश तथा स्मृत्यंश का परस्पर मिश्रित हो जाना है (संसर्गाग्रह) । अख्यातिवाद में भ्रम का कारण अज्ञान माना गया है क्योंकि उसमें प्रस्तुत विषय की कोई विशेषता नहीं ज्ञात हो पाती जबकि विपरीतख्यातिवाद में भ्रम का कारण विपरीत ज्ञान है क्योंकि इसमें उन अतिरिक्त बातों का भी ज्ञान होता है जिसका वस्तु में अभाव होता है । यहाँ भ्रम में दो ज्ञानों के स्थान पर एक ही ज्ञान माना गया है जिसमें उद्देश्य तथा विधेय परस्पर सम्बन्धित प्रतीत होते हैं जबकि वस्तुत: वे असम्बन्धित होते हैं । लाल स्फटिक के उदाहरण में भी दो सम्बन्धी -- स्फटिक तथा लाल रंग - प्रस्तुत हैं जो संयुक्त न होने पर भी भ्रमकाल में संयुक्त प्रतीत होते हैं । परिणामस्वरूप पुष्प का लाल रंग स्फटिक से अलग न रहकर स्फटिक में दिखलायी पड़ता है, जैसा वह है उससे विपरीत दिखलायी पड़ता है । यहाँ 'विपरीतख्याति' इस नाम की यथार्थता भी पुष्ट होती है ।

विभिन्न ख्यातियों का उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि भाट्ट मीमांसकों ने विपरीतख्यातिवाद को स्वीकार किया है जो नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद से अधिक साम्य रखता है, भिन्नता केवल यही है कि भाट्ट ज्ञानलक्षणा को नहीं स्वीकार करते । इधर वेदान्तपरिभाषा में आरोप्य के सन्निकृष्ट होने पर अन्यथा ख्याति को स्वीकार किया है । अत: कहा जा सकता है कि इस सन्दर्भ में भाट्ट मीमांसकों तथा वेदान्तपरिभाषाकार का साम्य है क्योंकि अन्यथाख्याति विपरीतख्याति से साम्य रखती है और वेदान्तपरिभाषा में विपरीतख्याति (अन्यथाख्याति) को स्वीकार किया गया है ।असन्निकृष्ट आरोप्य के होने पर

वेदान्तपरिभाषा अनिर्वचनीयख्याति को स्वीकार करती है जो वेदान्तियों को सिद्धान्ततः मान्य है । किन्तु, भाट्ट मीमांसक अनिर्वचनीयख्याति को नहीं स्वीकार करते ।

१.३ (ग) ज्ञान के साधन

सत्य तथा मिथ्या ज्ञानों को ही सामान्यतया प्रमा और अप्रमा कहा जाता है । प्रमा के पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि अनधिगत तथा अबाधित ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं जो यथार्थ होती है । प्रमा का करण होना ही प्रमाण है[१] ।

१.३.१ प्रमाण —

प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक √मा धातु से करणे ल्युट् करके निष्पन्न होता है जो उपलब्धि के साधन अर्थ का बोध कराता है अर्थात् प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा उपलब्धि (सम्यग्ज्ञान) हो[२] । तात्पर्य यह है कि प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा प्रमाता प्रमेय अर्थ की प्रमिति प्राप्त करता है । वेदान्तपरिभाषा में भी प्रमा का करण होना ही प्रमाण बतलाया गया है[३] । श्लोकवार्तिक में भी प्रकृष्ट साधन को करण तथा प्रमा का करण होना ही प्रमाण

---

१. प्रमाकरणं प्रमाणम् ।

- तर्कभाषा पृ० १३

२. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यम् ।

- न्या० भा० पृ० १६

३. तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् ।

- वे० प० पृ० १६

बतलाया गया है।[1] मानमेयोदयकार का भी यही मत है।[2] प्रमाण के विषय में वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों ही ग्रन्थों ने समान परिभाषायें की हैं।

भारतीय दर्शन के आस्तिक तथा नास्तिक सभी प्रस्थानों में प्रमाणों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है यद्यपि प्रमाणों के स्वरूप के विषय में उनमें पर्याप्त भिन्नता है। यही कारण है कि इनमें प्रमाण संख्या के विषय में भी मतभेद है। यह संख्या एक से लेकर नौ तक पहुंचती है। मानसोल्लास में इन सभी प्रमाणों को संगृहीत करने का प्रयास किया गया है।[3] चार्वाक दार्शनिकों ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को माना है।[4] वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान - इन दोनों प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[5] जैनियों ने भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रमाणों को माना है।[6] सांख्य मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के अन्तर्गत अन्य

---

१. प्रकृष्टसाधनत्वाच्च प्रत्यासत्तेः स एव नः ।
करणं तेन नान्यत्र कारके स्यात् प्रमाणता ॥
- श्लो० वा० पृ० ६८

२. मा० मे० पृ० 2

३. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दस्तेऽपि च ॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥ - मानसोल्लास

४. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह ५। ३३

५. प्रत्यक्षमनुमानं चेति । न्या० बि० टी० १।३

६. प्रमाणमीमांसा ।

सभी प्रमाणों के अस्तित्व को सिद्ध किया है।[1] योगसूत्रकार को भी यही अभीष्ट है।[2] महर्षि गौतम तथा उनके सभी व्याख्याकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द -- ये चार प्रमाण स्वीकार करते हैं।[3] माध्व वेदान्ती तथा रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द-- ये तीन ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।[4] प्रभाकर ने न्यायसम्मत चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी स्वीकार किया।[5] भाट्ट मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन छः प्रमाणों को मान्यता दी है।[6] प्राभाकर मीमांसक अभाव को पदार्थ नहीं मानते इसीलिये वे अनुपलब्धि का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते किन्तु कुमारिल अभाव पदार्थ को मानने के कारण उसके ज्ञान के लिए पृथक् रूप से अनुपलब्धि प्रमाण को मानते हैं। वे पौराणिकों द्वारा स्वीकृत सम्भव तथा ऐतिह्य प्रमाणों का क्रमशः अनुमान तथा शब्द में अन्तर्भाव करते हैं।[7] इस प्रकार भाट्ट मतावलम्बियों ने इन्हीं छः प्रमाणों से अपने पदार्थों की सिद्धि की है। पार्थसारथि मिश्र ने भी छः प्रमाणों को ही स्वीकृति दी है।[8] वेदान्तपरिभाषाकार भी व्यवहार में इन्हीं छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[9] इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक का प्रमाण संख्या के विषय में भी साम्य स्पष्ट है।

---

१. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। - सां० का० ४

२. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। - यो० सू० १।७

३. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। - न्या० सू० १।१।३

४. Philosophy Of Dwait Vedant by T.P. Ramachandran

५. शाबरभाष्य १।१।५ पर बृहती एवं प्रकरणपञ्चिका।

६. श्लो० वा० प्र० प० से अभाव प० तक।

७. श्लो० वा० अभाव ५७-५८

८. तस्मात् षडेव प्रमाणानि न न्यूनानि नाधिकानि वेति।
- न्या० र० पृ० ३४६

९. तानि च प्रमाणानि षड् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्।
- वे० प० पृ० ३०

१.३.२ प्रमाण का महत्त्व —

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करते हैं कि दार्शनिक जगत् के सभी प्रस्थानों ने चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक, प्रमाणों को अवश्य स्वीकृति प्रदान की है। भारतीय विचारधारा में ज्ञान ही मुक्ति का कारण माना गया है। सम्यक् ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है जो धर्म, अर्थ तथा काम से परे है तथा दुःख का आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक विनाश है। इस परमानन्द अवस्था की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान से हो सकती है तथा सम्यक् ज्ञान बिना सदसद्-विवेक के नहीं हो सकता और इसी विवेक की प्राप्ति होती है प्रमाणों से। भ्रम या विपर्यय से रहित वस्तुओं का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। कभी-कभी भ्रमपूर्ण ज्ञान भी कार्य के प्रारम्भ में हेतु बनता है किन्तु उत्तरकाल में उसका बाध हो जाने से उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। जैसे-- रज्जु में सर्प का भ्रम ज्ञाता में भय को उत्पन्न कर देता है किन्तु उत्तरकाल में रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प ज्ञान का बाध होता है अतः प्रवृत्ति का कारण मिथ्याज्ञान भी हो सकता है। यही प्रवृत्ति भारतीय दर्शनों में दुःख का हेतु बतलायी गयी है। प्रमाणों के द्वारा सम्यक् ज्ञान होने पर दोषयुक्त प्रवृत्ति नहीं होगी जिससे तज्जन्य जन्म तथा दुःख भी नहीं होंगे। दुःख का ऐकान्तिक[१] तथा आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है जो परम पुरुषार्थ माना जाता है। यही कारण है कि परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में प्रमाणों को साधन माना गया है। अतः लोकव्यवहार तथा परम-पुरुषार्थप्राप्ति-- दोनों में प्रमाणों की उपयोगिता है।

दर्शनशास्त्र में स्वपक्षरक्षण, प्रमेयसिद्धि तथा स्वसिद्धान्तों की पुष्टि प्रमाणों के बिना नहीं हो सकती है। इसी कारण दर्शनशास्त्र में प्रमेयशास्त्र

---

१. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

— न्या० सू० १।१।२

अपि च,

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

— न्या० सू० १।१।२२

या तत्त्वमीमांसा से प्रमाणशास्त्र या ज्ञानमीमांसा का कम महत्त्व नहीं है। प्रत्येक दर्शन ने अपने सिद्धान्तों के अनुकूल अपनी ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाणशास्त्र को अपनाया है।[1] वस्तुत: देखा जाय तो प्रमेयशास्त्र बिना प्रमाणों के निरर्थक है क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है।[2] दर्शनशास्त्र में प्रमेयों के कथन तथा लक्षण के साथ-साथ उनकी परीक्षा भी की जाती है तथा प्रमाणों की सहायता से स्वसिद्धान्त की स्थापना की जाती है। प्रत्येक दर्शन में प्रमाणों के विवेचन का यही हेतु है। यही कारण है कि भाट्ट मीमांसा तथा वेदान्त ने छ: प्रमाणों से अपने प्रमेयों की पुष्टि की है। प्रमाणों के द्वारा ही प्रतिपक्षी के आघातों से अपने सिद्धान्तों का रक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार प्रमाण शास्त्र अर्थ की परीक्षा तथा तत्त्व का संरक्षण दोनों ही कार्य करता है। प्रमाणों के आधार पर ही जहाँ आस्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं वहीं प्रमाणों से बौद्ध आत्मवाद का निराकरण करते हैं। किन्तु इससे प्रमाणों को विरोधात्मक नहीं समझना चाहिये क्योंकि विश्वक्षेत्र में विद्यमान अनेक तत्त्वों में से उस दर्शन के अनुरूप तत्त्वों का संग्रह करके प्रमाणशास्त्र उस दर्शन के सिद्धान्त को पुष्ट करता है। प्रमाणशास्त्र की यही आवश्यकता उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है।

वेदान्तसिद्धान्त में आनन्दात्मक ब्रह्मप्राप्ति तथा समस्त शोक निवृत्ति ही मोक्ष है। 'ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म ही हो जाता है', 'आत्मवेत्ता शोक-सागर को पार करता है' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं है।[3] वह मोक्ष ज्ञान से ही साध्य है क्योंकि 'उसी को

---

१. बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ५१६

२. प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि। - सां० का० ४

३. आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्ष: शोकनिवृत्तिश्च। 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७-१-३) इत्यादिश्रुते:। न तु लोकान्तरावाप्ति:, - - - - -- - ।

- वे० प०, पृ० ५९३

जानकर (मनुष्य) मृत्यु से पार हो जाता है, उसके पार जाने का दूसरा मार्ग नहीं है `-- यह श्रुति है । `ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है ` -- यह नियम है ।[1] उस ज्ञान का विषय-ब्रह्म तथा आत्मा दोनों का ऐक्य है ।[2] वह ज्ञान अपरोक्ष रूप है ।[3] इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के लिये प्रमाणों की आवश्यकता स्पष्ट ही है । अद्वैत वेदान्त मत में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, अतः यह सभी व्यवहार असङ्गत है तो फिर क्यों शास्त्र द्वारा प्रमाणों की विवेचना की जाय ? इस प्रश्न का समाधान वेदान्त परिभाषा की टीका शिखामणि ने किया है । उसके अनुसार शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म, उसका प्रयोजन, मोक्षसाधन, ब्रह्मज्ञान सभी प्रमाणाधीन हैं अतः परम्परया प्रमाण निःश्रेयस की प्राप्ति में उपयोगी होने के कारण विवेचनीय है ।[4]

मीमांसा शास्त्र के प्रतिपाद्य `विषय` तथा इस शास्त्र के अध्ययन का `प्रयोजन` समझाने के लिये ही महर्षि जैमिनि ने `अथातो धर्मजिज्ञासा`[5] इस प्रथम सूत्र की रचना की है । धर्म के प्रतिपादनार्थ ही इस शास्त्र की रचना हुयी है । फलतः `धर्म ही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है` -- यह सूचित होता है । शास्त्र का जो विषय प्रतिपाद्य होता है उस विषय का ज्ञान ही शास्त्र का प्रयोजन होता है । इस प्रकार `अज्ञात धर्म` ही इस शास्त्र का `विषय` तथा

---

1. स च ज्ञानैकसाध्यः । - वे० प० पृ० ४१५
2. तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम् । - वे० प० पृ० ४१५
3. तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम् । - वे० प० पृ० ४१७
4. नन्वस्तु वेदान्तविचारस्य ब्रह्मज्ञानद्वारा निःश्रेयसहेतुत्वं तथापि प्रमाण-निरूपणस्य तदुपयोगाभावान्न शास्त्रसंगतिरित्याशङ्क्य यतः शास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म तत्प्रयोजनं च मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानं च प्रमाणाधीनमतः परम्परया निःश्रेय-सोपयोगीति प्रमाणनिरूपणं शास्त्रसंगतम् ।

   - शिखामणि, पृ० १४-१५

5. जैमिनि सूत्र १।१।१

'ज्ञात धर्म' ही इस शास्त्र का[1] 'प्रयोजन' है । इस धर्म का ज्ञान केवल शब्द प्रमाण से ही हो सकता है । अतः धर्म के ज्ञापनार्थ शब्दप्रमाण की आवश्यकता है साथ ही अन्य पाँचों प्रमाण धर्म का ज्ञान नहीं करा पाते -- यह बतलाने के लिये अन्य प्रमाणों का निरूपण किया गया है । धर्म का ज्ञान अन्य प्रमाणों से इसलिये नहीं हो पाता क्योंकि, अन्य प्रमाणों से विद्यमान वस्तुओं का ही ग्रहण होता है जबकि शास्त्र प्रमाण द्वारा ही असन्निकृष्ट धर्म का ज्ञान हो पाता है । इस दृष्टि से मीमांसाशास्त्र में भी प्रमाणों का महत्त्व स्पष्ट है ।

१.३.३ प्रमाण का स्वरूप —

सभी दार्शनिक प्रमाण के स्वरूप के विषय में पृथक्-पृथक् मत रखते हैं । बौद्ध अविसंवादिविज्ञान को प्रमाण मानते हैं । नैयायिक सम्यक् अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं । भाट्ट मीमांसक अविसंवादि तथा अज्ञात अर्थ के ग्राहक को[2] प्रमाण मानते हैं और प्राभाकर मीमांसक के अनुसार अनुभूति ही प्रमाण है ।

मीमांसक बोध को ही प्रमाण मानते हैं । इनके मत में 'ज्ञातता' को प्रमा माना गया है । चूँकि इस ज्ञातता का कारण बोध होता है अतः वही प्रमाण है । कुमारिल के सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य मीमांसक ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञान का अनुमान करते हैं । इस अनुमान में ज्ञातता लिङ्ग होता है । अतः प्रमाण वही हुआ जो ज्ञान का कारण है । शबरस्वामी के अनुसार ज्ञानरूप केवल

---

१. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।

— मी० सू० १।१।२

२. प्रमाणस्वरूपे तावदविसंवादि विज्ञानं प्रमाणमिति बौद्धाः । सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणमिति नैयायिकाः । दृढमविसंवाद्यगृहीतार्थग्राहकं प्रमाणमिति भाट्टाः । अनुभूतिः प्रमाणमिति प्राभाकराः ।

— पु० पं० न्या० सि० पृ० ११२

क्रिया का ज्ञातता रूप फल से अनुमान होता है[1] क्योंकि ज्ञान एक क्रिया है और क्रिया का अनुमान सदैव फल से किया जाता है । आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ और इनके सन्निकर्ष -- इन सभी के द्वारा मिलकर ज्ञान नामक व्यापार उत्पन्न होता है ।[2] यही ज्ञान व्यापार प्रमाण कहा जाता है । अन्य मीमांसक ज्ञातता को अन्यथानुपपत्ति से ज्ञातता के कारण के रूप में ज्ञान का अनुमान करते हैं किन्तु कुमारिल का मत है कि ज्ञातता के द्वारा प्रमाण का ज्ञान अनुमान से नहीं होता वरन् उसका ग्रहण अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है ।[3] प्रकरणपञ्चिका के अनुसार जो ज्ञान कारण के दोषों से रहित हो तथा पूर्व में गृहीत वस्तु का न हो वह प्रमाण है । कुमारिल का कथन है कि अविसंवादी, अगृहीत अर्थ का ग्राहक प्रमाण होता है अर्थात् जिस ज्ञान का ज्ञानान्तर से बाध नहीं होता और जो सन्दिग्ध अर्थ का बोधक नहीं है वही ज्ञान प्रमाण है ।[4]

प्रमा की विस्तृत विवेचना करते हुये वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमा के करण को ही प्रमाण माना है ।[5] कुमारिल `प्रमाण` शब्द के द्वारा `प्रमा` तथा `प्रमाण` दोनों को स्पष्ट करते हैं जबकि वेदान्तपरिभाषाकार दोनों को

---

१. न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति ।
   - शा० भा० १।१।५ पर

२. यदेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन सङ्गतिः ।
   मनसो वेन्द्रियैर्वापि आत्मना सर्व एव वा ॥
   तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् प्रमाणता ।
   व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ॥
   - श्लो० वा० पृ० ६०-६१

३. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
   ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ॥- श्लो० वा० शून्य० १८२

४. तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति ।
   ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम् ॥ .
   - श्लो० वा० चोदना ८०

५. तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् । - वे० प० पृ० १९

पृथक् करके बतलाते हैं। कुमारिलकृत विवेचन वस्तुत: यथार्थ ज्ञान या प्रमा के स्वरूप को ही स्पष्ट करता है क्योंकि प्रमा का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर उसके करण को प्रमाण मानने में किसी को आपत्ति नहीं है।

प्रमाण के स्वरूप के विवेचन के उपरान्त आगामी अध्यायों में वेदान्त-परिभाषा तथा श्लोकवार्तिक सम्मत प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन करते हुये उनके साम्य एवं वैधर्म्य का वर्णन किया जाएगा।

द्वितीय अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण

२.१ (क) प्रत्यक्ष की परिभाषा

२.२ प्रत्यक्षज्ञान के लिये आवश्यक घटक

२.३ प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमा

- २.३.१ वेदान्तपरिभाषासम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमा का निरूपण
- २.३.२ श्लोकवार्तिक में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमा की व्यवस्था
- २.३.३ प्रमाण तथा फल में विषय की एकता का प्रतिपादन

२.४ (ख) इन्द्रिय निरूपण

- २.४.१ इन्द्रियाँ
- २.४.२ मन के इन्द्रियत्व के विषय में दोनों का मत
- २.४.३ इन्द्रियों की सत्ता में प्रमाण
- २.४.४ इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व
- २.४.५ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

२.५ (ग) प्रत्यक्ष के भेद

- २.५.१ निर्विकल्पक तथा सविकल्पक
- २.५.२ जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी
- २.५.३ ज्ञेयगत तथा ज्ञप्तिगत
- २.५.४ इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञानप्राप्ति के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण अपनी उपयोगिता तथा उत्कृष्टता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । समस्त दार्शनिक प्रस्थानों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के महत्त्व के आधार पर उसे प्रधान प्रमाण माना तथा चार्वाक दर्शन ने तो `प्रत्यक्ष` को ही ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में एकमात्र प्रमाण घोषित किया । सातवीं शती के जयराशिभट्ट ने प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणों के विषय में प्रश्नचिह्न लगाकर समस्त प्रमाणों में साधकत्व का निराकरण किया ।[1] अधिकांश दार्शनिकों ने प्रमाणों का विवेचन प्रस्तुत कर प्रत्यक्ष प्रमाण को आधारभूत प्रमाण माना है । न्यायदर्शन में अनुमानादि को प्रत्यक्षपूर्वक बतलाया गया है ।[2] न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है । मीमांसासूत्र १.१.४ पर भाष्य करते हुए शबरस्वामी ने भी अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि का आधार प्रत्यक्ष को ही माना है ।[3] श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल इसी मत से सहमत हैं । तभी तो उन्होंने विद्यमान वस्तुओं का ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण को भविष्यत् (साध्य) धर्म के ज्ञापन में असमर्थ बतलाकर अनुमानोपमानादि प्रमाणों को भी धर्म का निमित्त (ज्ञापक) नहीं माना, क्योंकि अनुमानोपमानादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा लिङ्ग और सादृश्यादि में से किसी एक को ग्रहण करके ही पदार्थ-अवबोधार्थ प्रवृत्त होते हैं ।[4] स्पष्ट है कि वार्तिककार ने लिङ्गसादृश्यादि का प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञान होने से अनुमानोपमानादि को प्रत्यक्ष पर आधारित मानकर

---

1. Epistemology of The Bhatta School of Purvamimāṃsā. Page 146.
२. तत्पूर्वकत्वात् त्रिविधमनुमानम् । - न्या० सू० १.१.५
३. प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वम् ।-शा०भा० १.१.४
४. प्रत्यक्षेण गृहीत्वा च लिङ्गसादृश्यादिकं पुनः ।
प्रवृत्तेरनुमानादेर्न च धर्मेऽस्ति कारणम् ॥ -श्लो० वा० पृ० ६६

उसकी उपजीव्यता को स्वीकार किया है। वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमाणों के गणनास्थल पर प्रत्यक्ष को ही प्राथमिकता दी है।[1] प्रत्यक्ष के निर्वारण में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न होने से तथा प्रमाणान्तरों के प्रत्यक्ष पर ही आधारित होने के कारण उसकी उपजीव्यता स्वयमेव ही सिद्ध होती है। अनुमान प्रमाण में अनुमिति के आधारभूत साध्य-साधन के साहचर्य रूप व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ही सम्भव है। उपमान प्रमाण भी सादृश्य का प्रत्यक्ष होने के पश्चात् ही उपमेय पदार्थ का बोध करा पाता है। शब्दप्रत्यक्ष के बिना शब्दप्रमाण की प्रवृत्ति न होने से शाब्दबोध भी नहीं हो सकता है और यही कारण है कि शब्दप्रमाण की ज्येष्ठता को स्वीकार करने वाले वेदान्त तथा मीमांसा दर्शन प्रत्यक्ष को ही प्राथमिक प्रमाण मानते हैं। अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों को भी प्रत्यक्ष की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है क्योंकि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य के श्रावणप्रत्यक्षोपरान्त ही उसके रात्रिभोजन की कल्पना की जा सकती है। तथा 'अत्र घटो नास्ति' इस स्थल पर घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। घटाभाव की निश्चायक घट की अनुपलब्धि का आधार प्रत्यक्ष ही है क्योंकि घट का प्रत्यक्ष न होने पर ही अनुपलब्धि प्रमाण प्रवृत्त होता है। अतः अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों के प्रत्यक्ष पर आधारित होने के कारण उसकी उपजीव्यता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, सामान्यविशेषात्मक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान कराने के कारण प्रमाणान्तरों से इसकी विशिष्टता है, जिसके कारण ही इसे प्राथमिक तथा उपजीव्य प्रमाण माना गया है। वेदान्तपरिभाषाकार तथा श्लोकवार्तिककार दोनों ने ही इसकी उपजीव्यता तथा प्राथमिकता को स्वीकार किया है अतः इस विषय में उनका साम्य स्पष्ट लक्षित होता है।

---

1. तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात् ।

— वे० प०, पृ० ३०

(क) प्रत्यक्ष की परिभाषा

विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की परिभाषाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग बौद्धों का है, जो प्रत्यक्ष को नामजात्यादिविरहित कल्पनापोढ मानता है। दूसरे वर्ग में नैयायिक तथा भाट्टमतावलम्बी आते हैं जो इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। तीसरा वर्ग प्रत्यक्षज्ञान को अपरोक्ष, साक्षात्प्रतीति के रूप में स्वीकार करता है जिसके समर्थक वेदान्ती, प्रभाकरमतावलम्बी तथा नव्य नैयायिक हैं।

बौद्धों द्वारा[1] स्वीकृत प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, जो नामजात्यादि बुद्धि-विकल्पों से असम्पृक्त है। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण होता है, जिसके विषय में विधान नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष बुद्धि-विकल्पों के उद्भव की पूर्वावस्था है और बुद्धिविकल्प कल्पनाजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष में अन्तर्भुत नहीं किए जा सकते। प्रत्यक्ष की इस परिभाषा के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि सामान्यविशेषात्मक ज्ञेय वस्तु के सामान्यमात्र का ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान का एक प्रकार तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं।[2] इस परिभाषा से असन्तुष्ट होकर ही न्यायसूत्रकार गौतम,[3] वैशेषिकसूत्रकार कणाद तथा श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल[4] ने इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना। परन्तु, प्राभाकर मीमांसकों, वेदान्तियों तथा नव्य-

---

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ।
— प्र० स० १, ३

२. The Six ways of knowing - Dr. D.M.Dutta, Page 35-36.

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।
— न्या० सू० ४

४. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।
— मी० सू० ४

नैयायिकों ने इस लक्षण को अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त बतलाकर विरोध प्रकट किया । नव्य नैयायिकों का आक्षेप है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाने वाली यह परिभाषा अनुमान तथा स्मृति में भी व्याप्त हो जाने के कारण दूषित हो जाती है क्योंकि अनुमितिस्थल पर भी अन्तरिन्द्रिय मन तथा विषय का संयोग होता है तथा स्मृति में भी मन तथा स्मृत विषय का सन्निकर्ष होता है । इसी कारण प्रत्यक्ष को साक्षात् तथा अपरोक्ष ज्ञान के रूप में स्वीकार कर प्रभाकर ने 'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'[1] यह लक्षण दिया है तथा वेदान्तपरिभाषाकार ने 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव'[2] कहकर चैतन्य को ही प्रत्यक्षप्रमा माना है । प्रत्यक्षप्रमा के करण को प्रत्यक्षप्रमाण स्वीकार कर वेदान्तपरिभाषाकार ने चैतन्य तथा प्रत्यक्षप्रमा में अभेद स्थापित किया है । वेदान्तसिद्धान्तसम्मत चैतन्य के प्रत्यक्षप्रमात्व का निरूपण 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३-४-१) श्रुति भी करती है ।

'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' प्रत्यक्षप्रमाण के इस लक्षण के स्थान पर केवल 'प्रमायाः करणम्' इतना कहने पर 'प्रमा का करण ही प्रत्यक्षप्रमाण है' यह अर्थ प्राप्त होता तथा अनुमानोपमानादि में भी व्याप्त हो जाने के कारण दोषयुक्त हो जाता, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में यथार्थ ज्ञानरूप छः प्रकार की प्रमाओं का निरूपण किया गया है । अतः अतिव्याप्ति दोष के परिहारार्थ ही 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्' इस निर्दुष्ट लक्षण को दिया गया है । प्रत्यक्ष की इस परिभाषा में 'प्रत्यक्ष' शब्द का व्यवहार 'प्रमा' तथा 'प्रमाण' दोनों के लिए किया गया है । यथा- घट से नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष के अनन्तर 'अयं घटः' इत्याकारक प्रमाज्ञान तो प्रत्यक्ष कहलाता

---

१. भा० मे०, पृ० ३८

२. तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म (बृ० ३-४-१) इति श्रुतेः ।

— वे० प०, पृ० ११

ही है, इस प्रमाज्ञान का करण भी 'प्रत्यक्ष' शब्द से ही अभिहित किया जाता है।

प्रत्यक्षेतर पाँच प्रमाणों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही 'प्रमायाः करणम्' न कहकर 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' कहा गया है। इसी प्रकार 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' के स्थान पर 'प्रत्यक्षज्ञानस्य करणम्' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शुक्ति में रजत का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष से उद्भूत है तथापि भ्रमज्ञान होने से यथार्थ नहीं है अतः 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' इन शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रत्यक्षलक्षण की शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् की 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य द्वारा इस प्रत्यक्षलक्षण की प्रामाणिकता भी मतलाई गई है। मूल श्रुतिवाक्य में 'अपरोक्षाद्' इस पञ्चम्यन्त पद के स्थान पर प्रथमान्त 'अपरोक्षम्' समझना आवश्यक है क्योंकि 'साक्षाद्' शब्द अव्यय होने के कारण अपरिवर्तित है परन्तु 'ब्रह्म' पद का विशेषण होने के कारण 'अपरोक्षाद्' के स्थान पर 'अपरोक्षम्' ही उपयुक्त बैठता है[1] श्रुतिप्राप्त 'साक्षाद्' पद का निवेश 'इन्द्रियादि प्रमाणों से ब्रह्म का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है' इस अर्थ के ज्ञापनार्थ किया गया है। इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्त में चैतन्य को ही प्रत्यक्षप्रमा माना गया है और प्रत्यक्षप्रमा चैतन्य ब्रह्म ही है इसलिए वेदान्ती प्रत्यक्षप्रमा, चैतन्य तथा ब्रह्म इन तीनों को पर्याय रूप में मानते हैं। इस विषय में यहाँ यह शङ्का उठती है कि प्रत्यक्षप्रमारूप चैतन्य में चक्षुः आदि इन्द्रियाँ करण कैसे हो सकती हैं, क्योंकि चैतन्य तो अनादि होने के कारण अनुत्पन्न है अतः उसके करण (विशिष्ट कारण) का प्रश्न ही नहीं उठता। वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि यद्यपि साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप चैतन्य अनादि होने के कारण अनुत्पन्न है तथापि उसकी अभिव्यक्ति अन्तःकरणवृत्ति के द्वारा ही होती है। अन्तःकरण की यह वृत्ति

---

१. अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः।

— वे० प०, पृ० ३१

इन्द्रियसन्निकर्षादि के कारण निरन्तर उत्पन्न होती रहती है अर्थात् स्वभावतः जन्य है और इसी वृत्ति से विशिष्ट होने के कारण चैतन्य में भी उपचार से आदिमत्त्व है इसी कारण इन्द्रियों में करणत्व अभिप्रेत है।[1]

अन्तःकरण की 'वृत्ति' तथा 'ज्ञान' शब्द के प्रायः पर्यायरूप में व्यवहृत होने तथा उसके इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने के कारण वृत्ति को ही प्रत्यक्षप्रमा मानने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि अन्तःकरण अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का कार्य होने के कारण जड़ है और जड़ अन्तःकरण की वृत्ति चेतन नहीं हो सकती। उसमें चैतन्यरूप ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने के कारण ही ज्ञानत्व उपचरित होता है। इस विषय में प्रकाशात्मा ने 'विवरण' में 'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इस वाक्य के द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति में औपचारिक दृष्टि से ज्ञान शब्द का प्रयोग बतलाया है।[2] इसके अतिरिक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में चैतन्यरूप ब्रह्म में ही ज्ञान शब्द का प्रयोग करने से ब्रह्मचैतन्य ही प्रत्यक्षप्रमा है जिसकी अभिव्यक्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा अन्तःकरण के परिणाम (वृत्ति) द्वारा होती है और चैतन्याभिव्यञ्जक अन्तःकरण की वृत्ति के कारण इन्द्रियों में भी प्रत्यक्ष प्रमाणत्व अभिप्रेत है। परन्तु, यहाँ ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषाकार इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को न तो प्रत्यक्षप्रमा मानते हैं और न ही इन्द्रियों में प्रत्यक्षप्रमा के प्रयोजकत्व को ही स्वीकार करते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा मानने पर 'मानस प्रत्यक्ष' सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि जहाँ वेदान्तसिद्धान्त में मानस प्रत्यक्ष स्वीकृत है वहीं 'मन' के इन्द्रियत्व का निराकरण भी किया गया है। नैयायिकों से इनका इस

---

१. चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते।

– वे० प०, पृ० ३४

२. ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे —'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति।

– वही, पृ० ३४

विषय में पूर्णतया मतभेद है क्योंकि वे 'मन' को इन्द्रिय मानते हैं। इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अन्तःकरण की वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य को प्रमा के रूप में स्वीकार किया है जबकि वार्तिककार आचार्य कुमारिल नैयायिकों से साम्य रखते हुए इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को ही प्रमा मानते हैं।

श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल का प्रत्यक्षसिद्धान्त महर्षि जैमिनिकृत 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'[1] सूत्र पर आधारित है। यद्यपि यह सूत्र धर्मज्ञापन में प्रत्यक्ष प्रमाण की अक्षमता को ही प्रतिपादित करता है तथापि इस मुख्य लक्ष्य के प्रतिपादनार्थ लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्षलक्षण का अनुवाद सूत्र के 'तत्प्रत्यक्षम्' अंश द्वारा हो जाता है। महर्षि जैमिनि के प्रकृत सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं से प्राप्त विरोधों के परिहारपूर्वक यह जानना आवश्यक है कि वार्तिककार ने इस सूत्र में उपलब्ध प्रत्यक्षप्रमाण को भविष्यत्कालीन धर्मज्ञापन में अक्षम बतलाकर 'प्रत्यक्ष' लक्षक सूत्रांश की व्याख्या किस प्रकार की है।

वार्तिककार के अनुसार, यदि अविद्यमान विषयों के साथ सम्प्रयोग से कहीं प्रत्यक्ष का होना सम्भव हो तब तो भविष्यद्रूप धर्म का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। फलतः धर्म में प्रत्यक्षावेद्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः महर्षि जैमिनि ने सूत्र में 'सत्' शब्द का उपादान किया है।[2] इसके अतिरिक्त कुमारिल योगज प्रत्यक्ष का भी खण्डन करते हैं अतएव यदि 'सत्' शब्द का उपादान न किया जाय तब तो योगियों को भी अविद्यमान वस्तुओं का प्रत्यक्ष

---

१. मी० सू० १/१/४, पृ० १७

२. अविद्यमानसंयोगात् स्याच्चेत् प्रत्यक्षधीः क्वचित् ।
भविष्यत्यपि धर्मे स्यात् [illegible] ॥

— श्लो० वा०, पृ० ३३

होने लगेगा । योगज प्रत्यक्ष के निराकरण हेतु भी 'सत्' शब्द का उपपादन किया गया है ।[1] सूत्रघटक 'सम्प्रयोग' का उपसर्ग 'सम्' 'सम्यक्' अर्थ का बोधक है । अतः 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ हुआ 'सम्यक् प्रयोग' अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ 'सम्यक् प्रयोग' ही प्रत्यक्षलक्षणघटक है, 'दुष्प्रयोग' नहीं ; और इसी दुष्प्रयोग के वारणार्थ 'सम्' उपसर्ग का विधान किया गया है । 'प्रयोग' शब्द 'इन्द्रियों का विषयों के साथ व्यापार' इस अर्थ में प्रयुक्त है । शुक्तिका में जो रजतप्रत्यक्ष का प्रयोजक शुक्तिका और चक्षु का सन्निकर्षरूप व्यापार या प्रयोग है वह भ्रान्तिज्ञान का उत्पादक होने के कारण दुष्प्रयोग है अतः उसका वारण किया गया है ।[2] इसप्रकार 'सत्सम्प्रयोग' शब्द के स्थान पर केवल 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग इस लक्षण को 'शुक्तिकेदं रजतम्' रूप भ्रान्तिज्ञान में व्याप्त करा देगा । अतः वार्तिककार का मत है कि विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्यक् व्यापार से जन्य ज्ञान का साधन ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । इसप्रकार कुमारिल ने विषय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा माना है ।

जैमिनि ने शब्दप्रमाण को ही धर्म के ज्ञापक के रूप में स्वीकार किया है ।[3] इसी सूत्र से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण में धर्म की

---

१. अविद्यमानसंयोगात् प्रत्यक्षात्वनिराकृतिः ।
योगिनां केन लभ्येत नेष्टं तद्ग्रहणं यदि ॥
— श्लो० वा०, पृ० ३६

२. सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥ — वही ३८
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात् ।
एवं सत्यनुवादत्वं लक्षणस्यापि सम्भवेत् ॥
— वही ३९

३. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।
— मी० सू० १, १, २, पृ० ८

ज्ञापकता का सर्वथा अभाव है क्योंकि विद्यमान विषयों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष से पुरुष में उत्पन्न ज्ञान का साधन ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । यह धर्मविषयकज्ञान का अनुत्पादक है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्तमान वस्तुओं का ही ग्रहण हो पाता है और धर्म भविष्यत् है ।

पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में कहा है कि व्याख्याकार भवदास ने प्रकृत सूत्र को दो भागों में विभक्त किया है जिसमें 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' यह अंश प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत करता है और 'अनिमित्तम्' पद से सूत्रान्त तक प्रत्यक्ष प्रमाण की धर्मज्ञान के प्रति अनिमित्तता को प्रतिपादित किया गया है । किन्तु, वार्तिककार आचार्य कुमारिल का कथन है कि 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' एवं 'चोदना प्रमाणमेव' इन दोनों पूर्ववर्णित प्रतिज्ञाओं के साथ इस विवक्त सूत्र के सम्बन्ध की व्याख्या करनी चाहिए[1] क्योंकि सूत्र की इस व्याख्या के साथ इन दोनों प्रतिज्ञाओं की सङ्गति ही नहीं बैठती है । अतः कुमारिल के अनुसार यह सूत्र प्रत्यक्षलक्षणपरक नहीं है । यदि सूत्रकार को स्वतन्त्ररूपेण प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण बतलाना ही अभिप्रेत था तो उनके द्वारा प्रमा के अन्य साधन अनुमानादि अन्य प्रमाणों का भी लक्षण किया जाना चाहिए था । अनुमानादि का न तो अप्रामाण्य है और न ही प्रत्यक्षप्रमाण में उनको अन्तर्भूत ही[2] किया जा सकता है । किञ्च, इन प्रमाणों की सुलक्षणता भी नहीं है । इस

---

1. वर्ण्यते सूत्रेणैव येन प्रत्यक्षलक्षणम् ।
   तेन सूत्रस्य सम्बन्धो वाच्यः पूर्वप्रतिज्ञया ।।

   — श्लो० वा०, प्र० १

2. लक्षणस्याभिधानं तु येनाशेषेऽपि कुर्वते ।
   किमर्थं वानुमानादेर्लक्षणं नात्र कथ्यते ।। — वही २
   न चाप्रमाणता तेषां नाध्यक्षान्तर्गतिर्भवेत् ।
   इष्यतेऽन्यत्र सिद्धत्वं न च लक्षणतुल्यता ।।

   — वही ३

प्रकार, अनेक प्रमाणों में से किसी एक का लक्षण करना बुद्धिमत्ता का बोधक नहीं है। सूत्र में एकवाक्यता सम्भव होने पर वाक्यभेद की कल्पना करना भी अभीष्ट नहीं है[1] और सूत्र की एकवाक्यता ही वार्त्तिककार को अभीष्ट है। अतः कुमारिल का मत है कि धर्म के ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण की असमर्थता बतलाना ही इस सूत्र का लक्ष्य है। यद्यपि प्रधान रूप से प्रकृत सूत्र धर्म ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण को असमर्थ ही बतलाता है तथापि सूत्र द्वारा गौणरूपेण प्रत्यक्ष का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। प्रत्यक्षलक्षण के स्पष्टीकरण हेतु यह सूत्र निर्मित नहीं है वरन् धर्मज्ञान में प्रत्यक्षप्रमाण की अनिमित्तता बतलाना ही सूत्र का प्रयोजन है — इस बात की पुष्टि करते हुए वार्त्तिककार का कथन है कि 'जन में' अर्थात् साधारण जन में 'प्रत्यक्ष' शब्द से प्रसिद्ध वस्तु 'एवंधर्मकं' अर्थात् सत्सम्प्रयोगजन्यत्व से युक्त है। इसी 'सत्सम्प्रयोगजन्यत्व' स्वरूप हेतु से प्रत्यक्ष को 'विद्यमानोपलम्भक' अर्थात् वर्तमानवस्तु-विषयक समझना चाहिए। प्रत्यक्ष में रहने वाले इसी 'विद्यमानोपलम्भकत्व' हेतु से प्रत्यक्ष में धर्म के प्रति 'अनिमित्तता' अर्थात् धर्मज्ञापन में अक्षमता झलकती जाती है।[2] इस कारण, प्रत्यक्षलक्षण के स्पष्टीकरण हेतु यह सूत्र निर्मित नहीं है। इस प्रकार, श्लोकवार्त्तिककार ने प्रत्यक्षप्रमाण धर्मज्ञापक नहीं है— इस मुख्यार्थ वाले सूत्र से प्रत्यक्ष का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके मत में, विद्यमान वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्यक् प्रयोग से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है — ऐसा प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि वेदान्तपरिभाषाकार ने

---

१. न त्वेकं लक्षयित्वेष्टं बुद्धिपूर्वं कथञ्चन।
सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते॥

— श्लो० वा०, पृ० ६

२. प्रत्यक्षं जने सिद्धं सत्संप्रयोगजत्वतः।
विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मेऽनिमित्तता॥

— वही, पृ० १८

प्रत्यक्षप्रमा के रूप में चैतन्य को स्वीकार किया है जिसकी अभिव्यक्ति अन्तः-करणवृत्ति द्वारा ही सम्भव है। परन्तु, श्लोकवार्त्तिककार इन्द्रियों का विद्यमान विषयों के साथ सम्यक् व्यापार से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमा मानने के कारण न्यायमत के अधिक समीप दृष्टिगत होते हैं। वेदान्तमत में इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान के प्रत्यक्षप्रमात्व का निराकरण किया गया है क्योंकि वेदान्तपरिभाषाकार ने मन को इन्द्रिय नहीं माना है। अतः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षज ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने तथा मन को इन्द्रिय न मानने पर तो मानस प्रत्यक्ष ही असम्भव हो जाएगा जबकि वेदान्तपरिभाषाकार सुखादिकों का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में यह भिन्नता दोनों सिद्धान्तों की मौलिकता को स्पष्ट करती है। यहाँ ध्यातव्य है कि वेदान्त मत में नेत्रादि इन्द्रियाँ चैतन्य की अभिव्यक्ति करने के कारण करण रूप में स्वीकृत तो हैं किन्तु उनमें शुद्ध चैतन्य के प्रति करणत्व सम्भव नहीं क्योंकि शुद्ध चैतन्य तो स्वयंप्रकाश है तथा स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाणव्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यावहारिक स्तर पर ही प्रमाणव्यापार सम्भव है अतः अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा विषयचैतन्य अभिव्यक्त होता है और इस प्रकार विषय का ज्ञान होता है।

२.२ प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक पक्ष :—

वेदान्त सिद्धान्त में चैतन्य की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत है जो निरुपाधिक, एक होने पर भी उपाधिभेद से प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य—तीन प्रकार का हो जाता है। उनमें घटादि विषयों की उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य विषयचैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न

---

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

— न्या० सू० १. १. ४

चैतन्य प्रमाणचैतन्य तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्य कहा जाता है।[१] इनमें से किसी एक के अभाव में प्रत्यक्षज्ञान सम्भव नहीं है। वेदान्त-परिभाषाकार ने चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा माना है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण की सत्ता आवश्यक है।

वार्तिककार ने ज्ञान के इन घटकों का पृथक् निरूपण नहीं किया है। उनके वार्तिकों का आधार जैमिनिकृत मीमांसासूत्र का 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्ये-न्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'[२] यह सूत्र है जिसके सम्यक् विश्लेषण से प्रत्यक्षप्रमा के लिए आवश्यक घटकों का स्पष्टतः कथन सिद्ध होता है। (१) विद्यमान विषय (सत्) (२) इन्द्रियाँ, जिनके साथ विषय-सन्निकर्ष अपेक्षित है तथा (३) पुरुष, जिसको ज्ञान हो सके—प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता— सूत्र में अन्तर्निविष्ट इन तीनों आवश्यक तत्त्वों के कथन के कारण ही वार्तिककार ने इनका पृथक् विवेचन करना उपयुक्त न समझा। यहाँ प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्यक् व्यापार आवश्यक होने के कारण ही इन्द्रियव्यापार में प्रमाणता होती है।

वेदान्तसिद्धान्त में चैतन्य की ही एकमात्र सत्ता होने के कारण विषयावच्छिन्न चैतन्य ही व्यवहारतः विषय अथवा प्रमेय के रूप में व्यवहृत होता है। मीमांसापद्धति के अनुसार इस विषय को वर्तमानविषयक होना ही चाहिए क्योंकि सभी प्रत्यक्षप्रमाण भविष्यत्कालीन पदार्थों में अनुपपन्न हो

---

१. त्रिविधं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति। तत्र घटावच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यं, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्।

– वे० प०, पृ० ४६

२. मी० सू० १. १. ४

सकता है । वेदान्तसिद्धान्त अन्त:करणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रमाणत्व स्वीकार करता है अत: अन्त:करण की वृत्ति ही उनके यहाँ प्रमाण बनती है जबकि सूत्रकार तथा वार्त्तिककार `इन्द्रियव्यापार` को प्रमाण मानते हैं । वेदान्तपरिभाषाकार ने अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता बतलाया है और वार्त्तिककार ने `पुरुष` को प्रमाता बतलाया है जिसको ज्ञान होता है । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषा में तो चैतन्य की ही पारमार्थिक सत्ता है । व्यवहार में ही प्रमाण-प्रमेय आदि सम्भव होते हैं ।

२.३ प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमा :-

प्राय: समस्त दर्शन प्रमाण तथा तज्जन्य फल रूप प्रमा के ऐक्य तथा पार्थक्य का निरूपण स्वाभिमत प्रमेयव्यवस्थानुसार ही किया करते हैं । बाह्यार्थवादी समस्त बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करने के कारण प्रमाण तथा प्रमिति को पृथक्-पृथक् मानते हैं । न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य योग-- इन समस्त दर्शनों की दृष्टि प्रमाण तथा प्रमिति की पृथक्ता निरूपण करने में है । बौद्ध क्षणभङ्गवाद तथा विज्ञानवाद के कारण प्रमाण तथा प्रमा दोनों को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं । जैनदर्शन अनेकान्त-वादी दृष्टि अपनाने के कारण प्रमाण तथा प्रमिति को भिन्न भी मानता है तथा अभिन्न भी । वेदान्त ब्रह्म की एकमात्र सत्यता को स्वीकार करने पर भी व्यावहारिक सत्ता के रूप में समस्त जागतिक पदार्थों का निरूपण करने के कारण प्रमाण तथा प्रमा के भेद की व्यवस्था करता है ।

२.३.१ वेदान्तपरिभाषासम्मत प्रत्यक्षप्रमाण तथा प्रत्यक्षप्रमा का निरूपण :-

वेदान्तसिद्धान्त में अन्त:करणवृत्ति को ही प्रमाण माना गया है जबकि वार्त्तिककार `इन्द्रिय व्यापार` में प्रमाणत्व का निरूपण करते हैं । नैयायिकादि अधिकांश दार्शनिक मन के इन्द्रियत्व को स्वीकार कर ज्ञानेन्द्रियों की कुल संख्या छ: मानते हैं । नैयायिकों का मत है कि इन्द्रिय तथा विषय

के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । न्यायसूत्र ने भी इसी परिभाषा के अनुरूप प्रत्यक्ष की दूसरी परिभाषा दिया है ।[1] नैयायिक मत में प्रत्यक्ष के लिए आत्मा का मन से, मन का नेत्रेन्द्रिय से तथा नेत्रेन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होना आवश्यक माना गया है । वेदान्तपरिभाषा-कार न्याय के उक्त मत का खण्डन करते हुए न्यायमत को अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा अन्योन्याश्रय दोषों से ग्रस्त बतलाते हैं । (१) अतिव्याप्ति— न्यायसिद्धान्त ने मन को पृथक् इन्द्रिय माना है । प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष के साथ आत्मा तथा मन का: और मन तथा इन्द्रिय का संयोग भी आवश्यक है । इन्द्रियसन्निकृष्ट मन का विषय के साथ संयोग न केवल प्रत्यक्ष में ही प्रत्युत अनुमानादि में भी आवश्यक है । यदि प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकृष्ट मन के साथ विषय का सम्बन्ध आवश्यक है तो वस्तु के साथ मन का यह सम्बन्ध तो अनुमानादि में भी पाया जाता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष के इस लक्षण के अनुमानादि में भी चले जाने के कारण अतिव्याप्तिग्रस्तता आ जाती है अत: इन्द्रियजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है ।[2] यह आपत्ति न केवल न्यायसिद्धान्त में वरन् उन सभी सिद्धान्तों में पाई जाती है जिन्होंने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है तथा मन के इन्द्रियत्व का प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि कुमारिल के प्रत्यक्षसिद्धान्त को भी अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त कहा जा सकता है । (२) अव्याप्ति— न्यायदर्शन ने इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है । साथ ही, न्यायदर्शन ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानता है जन्य नहीं क्योंकि ईश्वर को तो इन्द्रिय के बिना ही प्रत्यक्ष होता रहता है । इन्द्रियाभाव में विषय के साथ सम्बन्ध न बन सकने के कारण

---

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।

— न्या० सू० ४

२. न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः ।

— वे० प०, पृ० ५७

सम्बन्धाभाव में प्रत्यक्ष असम्भव हो जाएगा।[1] इसप्रकार, न्याय की प्रत्यक्ष-विषयक परिभाषा के अनुसार या तो ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा और यदि होता है तो लक्षण ठीक नहीं है। अतः प्रत्यक्ष का प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व मानने पर अव्याप्तिदोषग्रस्तता आ जाती है। (3) अन्योन्याश्रय— इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं? नैयायिकों का कथन है - जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पुनः प्रश्न करने पर कि प्रत्यक्ष किसे कहते हैं? नैयायिकों का उत्तर होगा— जो इन्द्रिय द्वारा होता है। प्रत्यक्षज्ञान के लिए इन्द्रिय आवश्यक है तथा इन्द्रियसिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आवश्यक है। यह आपत्ति मीमांसा सिद्धान्त में भी उपपन्न होती है।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार इन्द्रियाँ प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक हैं किन्तु वे ज्ञान का प्रयोजक कदापि नहीं हो सकतीं। वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्षज्ञान में अन्तःकरण की वृत्ति की प्रमाणता को स्वीकार किया है जिसके अभाव में प्रत्यक्षज्ञान सम्भव नहीं है। तैजस अन्तःकरण चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वार से निकलकर घटादिविषयदेश में जाकर घटादि के आकार में परिणत हो जाता है इसी परिणाम को अन्तःकरण की वृत्ति कहते हैं। यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है जैसे तालाब का जल छिद्र से निकलकर कुल्याकार बहता हुआ खेत में जाता है तथा खेत के त्रिकोण अथवा चतुष्कोणादि आकार को धारण कर लेता है।[2] यह अन्तःकरण प्रत्यक्ष में ही विषय को प्राप्त

---

1. ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यत्वेन साक्षात्त्वाभावप्रसंगेन।

 - वे० प०, पृ० [illegible]

2. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।

 - वही, पृ० [illegible]

कर विषयाकाराकारित हो जाता है[1] अनुमानोपमानादि में नहीं। अनुमिति-स्थल पर धूम को देखकर जिस पर्वत में वह्निज्ञान होता है वह परोक्ष ही है क्योंकि वह्नि के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध तो हुआ नहीं और इसी कारण वह्निरूप अन्तःकरण की वृत्ति भी नहीं बनी[2]। इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्त में अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रत्यक्षप्रमाण है तथा तज्जन्य ज्ञान प्रमा। परन्तु, ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषाकार ने ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष का भेद स्वीकार कर दोनों के पृथक्-पृथक् प्रयोजक माने हैं[3]। यद्यपि एकमात्र चैतन्य ही सत् है जो साक्षात् तथा अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है, वही ज्ञानस्वरूप है, वही ब्रह्म है तथापि भ्रम के कारण विषय तथा तज्जन्य ज्ञान की भेदप्रतीति होती है[4]। इस कारण 'प्रमाता', 'विषय' तथा 'विषय के ज्ञान' को एक ही चैतन्य की भिन्न-भिन्न प्रतीतियाँ[5] कहना असंगत नहीं है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्ष [illegible] का ज्ञानगतप्रत्यक्ष तथा विषयगतप्रत्यक्ष के रूप में भेद प्रदर्शित कर अपनी मौलिकता तथा विलक्षणता का परिचय दिया है। प्रत्यक्ष के द्वारा व्यावहारिक जगत् में 'ज्ञानं प्रत्यक्षम्' (मुझको ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है) तथा 'विषयः प्रत्यक्षः' रूप से दो प्रकार का ज्ञान होता है। प्रथम में 'घटविषयकज्ञानवानहम्' अर्थात् मैं घट-विषयक ज्ञानवान् हूँ— ऐसी प्रतीति होती है। दूसरे में केवल घटादि विषयों का प्रत्यक्ष होता है। इन दो प्रक्रियाओं का निर्वाह किसी भी मत में नहीं

---

1. Theories of Perception - Dr. Jwala Prasad, Page 129.
2. अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्।
   — वे० प०, पृ० ५७
3. सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य।
   — वही, पृ० ५६.
4. The Six Ways of Knowing- Dr.D.M.Dutta, Page 87.
5. The Six Ways of Knowing- Dr.D.M.Dutta, Page 85.

हो जाता । इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार 'विषय' तथा 'विषय के ज्ञान' दोनों के लिए किया जाता है । 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान भी प्रत्यक्ष है साथ ही उसका विषय 'घट' भी प्रत्यक्ष है जिसका 'घट का ज्ञान प्रत्यक्ष है' तथा 'घट प्रत्यक्ष है' इन वाक्यों द्वारा निर्देश किया जाता है ; और इन्हीं के पृथक् प्रयोजकों का निरूपण वेदान्तपरिभाषा में प्राप्त होता है ।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक 'प्रमाणचैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद है'[1]। ज्ञात है कि चैतन्य के अद्वितीय होने पर भी उपाधिभेद से उसके त्रिविधभेद—विषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य— माने गए हैं जिनमें से प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य का अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है । 'अयं घटः' इत्याकारक प्रमा स्थल पर घटादि विषय तथा तदाकार वृत्ति का देह के अतिरिक्त एक ही स्थान पर अवस्थान होने से उभया-वच्छिन्न चैतन्य एक ही है क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति तथा घटादिविषय रूप उपाधियों द्वारा भिन्नता होने पर भी दोनों चैतन्यों के एक ही स्थान पर अवस्थित होने के कारण उपाधियों द्वारा भेद सम्भव नहीं है ।[2] 'अयं घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान में तैजस अन्तःकरण के नेत्रेन्द्रिय द्वारा घटस्थल पर पहुँचकर तदाकाराकारित हो जाने पर बनी घटाकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य तथा घटावच्छिन्न चैतन्य दोनों के एक ही स्थल पर होने के कारण उनका अभेद हो जाता है तथा उपाधियां घट तथा घटाकारवृत्ति, घटावच्छिन्न चैतन्य तथा घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य में भेद नहीं कर पाती । जिस प्रकार मठान्तरवर्ती

---

१. तत्र प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः ।
 — वे० प०, पृ० ४६

२. प्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात् ।
 — वही, पृ० ५०

घटावच्छिन्न आकाश महाकाश से किमपि भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों की विद्यमानता समानदेश में ही है उसी प्रकार घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाणचैतन्य तथा घटावच्छिन्नचैतन्यरूप विषयचैतन्य का अभिन्नत्व ही घट-ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रयोजक है।

ज्ञानगतप्रत्यक्ष का प्रयोजक प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य का अभेद है— इस मत की स्थापना करके परिभाषाकार ने विषयगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक के रूप में घटादि विषय का प्रमाता के साथ अभेद बतलाया है[1]। विषयगत प्रत्यक्ष में प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य के अभेद के साथ ही प्रमाणचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य के अभेद की भी अपेक्षा है क्योंकि इन्हीं शर्तों के पूर्ण होने पर ही विषय तथा प्रमाता का अभिन्नत्व उपपन्न होता है। विषयचैतन्य तथा प्रमाणचैतन्य की अभिन्नता विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य की अभिन्नता का द्योतन स्वयमेव करती है क्योंकि प्रमाणचैतन्य का तात्पर्य अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से है और अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य से किमपि भेद नहीं है। इस प्रकार, किसी भी विषय का 'विषयरूप' से प्रत्यक्ष होने में विषयचैतन्य का प्रमाणचैतन्य से, प्रमाणचैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद अत्यन्तावश्यक है। इसी को 'विषय का प्रमाता से अभेद होना' कहा जाता है। अतः 'अहमिमं पश्यामि' इस भेदानुभव की प्रतीति में अहम् (प्रमाता) तथा इदम् (विषय) के अभिन्न होने में कोई दोष नहीं है क्योंकि विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य के अभेद होने का तात्पर्य दोनों का ऐक्य नहीं वरन् प्रमाता की सत्ता से भिन्न विषय की सत्ता का अभाव ही है[2]। इसप्रकार, विषय की सत्ता प्रमाता की सत्ता से न तो

---

1. घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।

   - वे० प०, पृ० ७३

2. प्रमात्रभेदो नाम न तावदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः।

   - वही, पृ० ७४

स्वतन्त्र ही है और न ही पृथक्[1] यही अभेद शब्द का लक्ष्य है। 'अहं घटं पश्यामि' इस स्थल पर यद्यपि अहम् (प्रमाता) तथा घटम् (विषय) की भेदप्रतीति होती है परन्तु घटसत्ता प्रमातृसत्ता से न तो स्वतन्त्र है और न ही पृथक्। अधिष्ठान की सत्ता से भिन्न आरोपित वस्तु की सत्ता न माने जाने के कारण घटावच्छिन्न चैतन्य में घट के आरोपित होने के कारण घटावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता ही घटसत्ता है। अतः आरोपित विषयचैतन्य की अधिष्ठानविषयचैतन्य से पृथक् सत्ता नहीं। उपर्युक्त स्पष्टीकरण को ध्यान में रखने से विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य के अभेद में संशय का स्थान नहीं रह जाता क्योंकि अन्तःकरण के विषयाकार परिणत हो जाने से बनी वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य तथा विषय से अवच्छिन्न चैतन्य में अभेद होने के कारण प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य की अभिन्नता हुई जो प्रमातृचैतन्य से भी किसीप्रकार भिन्न नहीं है क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति तथा अन्तःकरण में वास्तविक भेद के न रहने से अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य (प्रमाणचैतन्य) तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (प्रमातृचैतन्य) भी अभिन्न हुए। इसप्रकार विषयचैतन्य के प्रमाणचैतन्य से अभिन्न होने पर और प्रमाणचैतन्य के प्रमातृचैतन्य से अभिन्न होने के कारण विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य भी अभिन्न हुए— यही विषय का प्रमाता से अभेद होने का तात्पर्य है। प्रमाता को प्रत्यक्ष होने का अर्थ है इन तीनों की अभिन्नता।[2] इसी बात को समीकरणों के माध्यम से इसप्रकार कहा जा सकता है --

(i) ∵ विषयचैतन्य = अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अथवा प्रमाणचैतन्य

और, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य = अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अथवा प्रमातृचैतन्य

∴ विषयचैतन्य = प्रमातृचैतन्य (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य)

---

१. Indian Psychology Cognition Vol I - Dr. J.N.Sinha, Page 130.

२. वे० प०, पृ० ५६ तथा पृ० ७४

(ii) विषयसत्ता = विषयाधिष्ठानसत्ता अथवा विषयचैतन्यसत्ता,

और, विषयचैतन्यसत्ता = प्रमातृचैतन्यसत्ता[1]

∴ विषयसत्ता = प्रमातृसत्ता ।

आन्तर तथा बाह्य दोनों प्रत्यक्षों में विषयचैतन्य की प्रमाणचैतन्य से अभिन्नता तथा विषयचैतन्य की प्रमातृचैतन्य से अभिन्नता अपेक्षित है । सुखादि के आन्तर-प्रत्यक्ष स्थल पर सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य तथा सुखाद्याकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य इन दोनों के एक ही देश अन्तःकरण में स्थित उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने के कारण सुखादि ज्ञान में सदैव प्रत्यक्षत्व ही होता है परोक्षत्व नहीं । सुखादि विषय तथा उसकी स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति इन दोनों के एक ही स्थल (अन्तःकरण) में होने पर भी सुखादि के स्मरण में प्रत्यक्षत्व नहीं माना जा सकता है क्योंकि विषय तथा विषयाकारवृत्ति रूप उपाधिद्वय को एकदेशस्थ होने के साथ ही साथ एककालीन भी होना चाहिए । तभी उन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो सकेगा, अन्यथा नहीं । सुखादि के स्मरण में तो स्मृति का विषय सुख अतीतकालीन है तथा स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति वर्तमानकालीन है । अतः भिन्नकालीन एकदेशस्थित उपाधिद्वय के अभेद को प्रयोजक मानने से 'अहं पूर्वं सुखी' इस स्मृति में अतिव्याप्ति का प्रसंग उपस्थित होगा, अतः उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ विषय में वर्तमानत्व विशेषण भी अवश्य देना चाहिए[2] । यहाँ यह

---

१. Indian Psychology Cognition Vol. I- Dr. J.N.Sinha, Page 131.

२. सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकदेशस्थोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् । नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेन्न । तत्र स्मर्यमाण-सुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात् । उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येककालीनत्वस्याभेदप्रयोजकत्वात् ।

- वे० प०, पृ० ५२-५३

नहीं कहना चाहिए कि धर्माधर्म भी अन्तःकरणरूप होने के कारण प्रत्यक्षवेद्य है क्योंकि धर्माधर्म में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है। धर्माधर्म का ज्ञान तो शब्दप्रमाण द्वारा होता है अतः उनके अन्तःकरणस्थ होने पर भी उनमें प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि धर्माधर्म में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है जबकि सुखादि प्रत्यक्षयोग्य हैं। इस योग्यत्व का निर्धारण फल द्वारा होता है अर्थात् वही प्रत्यक्षयोग्य है जिसका प्रत्यक्ष होता है तथा वह प्रत्यक्ष के अयोग्य है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता।[1] फलबल से कल्पित होने के कारण ही धर्माधर्म प्रत्यक्ष के अयोग्य हुआ।

इस प्रकार प्रत्यक्षयोग्य विषयाकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद होना ही 'ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व' में प्रयोजक है।[2] 'विषयज्ञान प्रत्यक्ष है' इत्याकारक ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का व्यपदेश होता है। प्रत्यक्षयोग्य विषय का विषयाकारवृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्यरूप सत्ता से भिन्न सत्ता का न रहना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है[3] जिसका व्यपदेश 'घटः प्रत्यक्षः' - घट प्रत्यक्ष है — इत्याकारक होता है।

यहाँ पूर्वपक्षी यह शंका प्रस्तुत करता है कि 'रूपीघटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटगत परिमाणादि का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। क्योंकि रूपाव-च्छिन्न चैतन्य तथा परिमाणावच्छिन्न चैतन्य के एक होने से रूपावच्छिन्न चैतन्य

---

१. अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेऽपि किञ्चिद्योग्यं किञ्चिदयोग्यमित्यत्र फल-बलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्।
— वे० प०, पृ० ५४

२. तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकार-वृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्।
— वही, पृ० ७२

३. अयं निर्गलितोऽर्थः, स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्व-शून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्।
— वही, पृ० ८४

जैसे प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है वैसे ही परिमाणाद्यवच्छिन्न चैतन्य भी प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है ही। अतः परिमाण आदि की सत्ता प्रमाता की सत्ता से अभिन्न है। किन्तु, परिमाणाकार इसका खण्डन करते हैं। ध्यातव्य है कि अन्तःकरण की वृत्ति जब रूपाकार होती है तब परिमाणादि के आकार की नहीं होती अतः रूपाकारवृत्ति के समय परिमाणाकारवृत्ति का अभाव होने से परिमाणाकारवृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य से परिमाणादि विषय की सत्ता अभिन्न नहीं होती। इसप्रकार विषयों में प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्व के न रहने के कारण 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष के समान परिमाणादि विषयों का प्रत्यक्ष न प्राप्त होने के कारण विषयगत प्रत्यक्ष के पूर्वोक्त का लक्षण अतिव्याप्त नहीं है।[1] इस पर यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि परिमाणादि में प्रत्यक्षत्वापत्ति के वारणार्थ प्रमाता में तत्तद् विषयाकारवृत्ति उपहितत्व विशेषण देने पर भी वृत्ति के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती है क्योंकि अनवस्था के भय से घट को विषय करने वाली घटाकार वृत्ति की भाँति वृत्ति को विषय करने वाली अन्य वृत्ति नहीं मानी जा सकती, और यदि ऐसा नहीं मानते तब तो वृत्ति प्रत्यक्ष स्थल में विषयाकार वृत्ति उपहितत्व घटित पूर्वोक्त लक्षण का अभाव होने लगेगा और इसप्रकार लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। इसके समाधान में धर्मराज का कथन है कि घटाकार वृत्ति को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति के न मानने पर भी स्वाविषयत्व की मान्यता है अर्थात् विषय के प्रत्यक्ष के लिए वृत्ति होनी चाहिए। किन्तु, वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्त्यन्तर की

---

१. नन्वेवमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले महत्त्वपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिविषयस्य प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावादिति चेत्। न। तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात्।

— वे० प०, पृ० ५८

आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसी वृत्ति से उसका प्रकाश होना माना गया है । अतएव स्वविषयवृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाने के कारण चैतन्य की सत्ता से अभिन्न वृत्ति की सत्ता हो ही जाती है । इस प्रकार अन्तः-करण और अन्तःकरण के धर्म सुख दुःखादि केवल साक्षी के विषय माने जाते हैं तथापि तत्तदाकारा वृत्ति भी सिद्धान्त में मान्य है । अतः विषय प्रत्यक्षत्व के लक्षण की वृत्ति के प्रत्यक्ष में विद्यमान होने के कारण अव्याप्ति नहीं है । इस प्रकार अन्तःकरण तथा उसके धर्म सुख दुःखादि को केवल साक्षी विषयत्व मानने पर भी तदाकार वृत्ति मानी ही गयी है । इसप्रकार, विषयगत प्रत्यक्ष के लक्षण की वृत्ति प्रत्यक्ष में विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं है ।[1] अतएव विषयों के प्रत्यक्ष में वृत्ति की अपेक्षा है किन्तु वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्त्यन्तर की आवश्यकता मानने पर तो अनवस्था प्रसक्त होगी । अन्तःकरण तथा उसके सुख दुःख का ज्ञान साक्षी को वृत्ति के माध्यम से ही होता है किन्तु वृत्ति का ज्ञान अन्य वृत्ति से नहीं वरन् साक्षी द्वारा ही होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से वेदान्तपरिभाषासम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण तथा फल की व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है जहां सामान्यरूपेण अन्तःकरणवृत्ति ही प्रमाण बनती है तथा विषयज्ञान प्रमा । ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष के भिन्न-भिन्न प्रयोजकों की मान्यता परिभाषाकार की मौलिकता की परिचायक है । ज्ञानगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक के रूप में प्रमाणचैतन्य तथा विषयचैतन्य का अभेद ही स्वीकृत है जिसका समदेशत्व, एककालीनत्व भी

---

1. नन्वेवं सुखाद्यव्याप्तिः, अनवस्थाभिया वृत्तिविषयवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणाभावादिति चेत् । न । अनवस्था-भिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषय-वृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात् । एवं चान्तः-करणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्त-लक्षणस्य तत्रापि सत्त्वान्नाव्याप्तिः ।

— वे० प०, पृ० ६८

अपेक्षित के साथ ही विषय में योग्यता का भी होना आवश्यक माना गया है । इसीप्रकार, विषयगत प्रत्यक्ष में विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य का अभेद होना ही विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है जिसके अभेद के लिए भी समानकालिकत्व तथा समानदेशत्व और साथ ही विषय में प्रत्यक्ष की योग्यता का होना अनिवार्य है । परिभाषाकार ने इन दो प्रयोजकों की सत्ता के माध्यम से न्यायसम्मत इन्द्रियों में प्रमाणता अथवा वार्तिककार सम्मत इन्द्रिय-व्यापार में प्रमाणता का परोक्षत: निराकरण किया है । नैयायिक मत में तो कभी इन्द्रियाँ प्रमाण बनती हैं तो कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान । नैयायिकों की फलव्यवस्था भी इन त्रिविध करणों के अनुसार है अत: त्रिविध करण के साथ ही साथ त्रिविध फल भी माना गया है । निर्विकल्पक ज्ञान रूप फल के होने पर इन्द्रियाँ प्रमाण बनती हैं तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अवान्तर-व्यापार । सविकल्पक ज्ञानरूप फल में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष की प्रमाणता होती है तथा निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है । हानोपादानोपेक्षाबुद्धि के फल होने पर निर्विकल्पकज्ञान करण होता है तथा सविकल्पक ज्ञान अवान्तर-व्यापार ।[1] इस प्रकार, न्यायसि-द्धान्त में त्रिविध करण (प्रमाण), त्रिविध फल (प्रमा) के साथ ही त्रिविध अवान्तर-व्यापार की भी कल्पना है । वेदान्तपरिभाषाकार ने इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोषों की सिद्ध्यु-परान्त इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना है अत: त्रिविध करण, त्रिविध अवान्तर-व्यापार तथा त्रिविध फल भी उसके मत में अभीष्ट नहीं है । श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं । उनके मत में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा फल की व्यवस्था विचारणीय है ।

२.१.२ श्लोकवार्तिक में प्रत्यक्षप्रमाण तथा प्रत्यक्षप्रमा की व्यवस्था :-

वाह्यार्थवादी आचार्य कुमारिल प्रमाण तथा प्रमिति दोनों की

---

१. तर्कभाषा, पृ० ४६-५०

भिन्नता का निरूपण करते हैं। महर्षि जैमिनि ने `सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्` इस सूत्र की रचना प्रत्यक्षलक्षणार्थ नहीं की है, इसका अनुसरण शाबरभाष्य भी करता है। इन दोनों आचार्यों ने केवल इतना ही सूचित करना चाहा है कि `धर्म केवल चोदनास्वरूप शब्दप्रमाण से ही ज्ञापनीय है अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं`। इस मान्यता की स्थापना के लिए यह बतलाना भी आवश्यक है कि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। विद्यमान विषयों का बोधक प्रमाण प्रत्यक्ष, भविष्यत् धर्म का ज्ञापक नहीं हो सकता है इसीलिए सूत्र `विद्यमानोपलम्भनत्वात्` पद का प्रयोग करता है। अतः प्रमाण तथा फल की व्यवस्था भी ऐसी होनी चाहिए जिससे वर्तमानविषयक प्रमिति ही उत्पन्न हो तथा धर्म में प्रत्यक्षगम्यत्व की प्राप्ति न हो सके।[1] वार्तिककार ने प्रमाण तथा फल के सम्बन्ध में `यथेष्ट परिकल्पना` को उद्धृत किया है। प्रमाण चाहे (१) इन्द्रिय हो या (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (३) अथवा, मन का इन्द्रियों से संयोग (४) अथवा मन-आत्मसंयोग (५) अथवा, इन पाँचों को एक साथ प्रमाण माना जाय[2]— सर्वत्र ज्ञान ही फल होगा तथा उनमें व्यापार से ही प्रमाणता उपपन्न होगी। व्यापार के अभाव में उनमें ज्ञानरूप फलोत्पत्ति सम्भव नहीं है।[3] उनके अनुसार, इन्द्रिय का अभाव होने पर ज्ञान की उत्पत्ति

---

१. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यताम् ।
सर्वथाप्यनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात् ।।
- श्लो० वा०, पृ० ९५

२. यदीन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन सङ्गतिः ।
मनसो वेन्द्रियैर्वापि आत्मना सर्व एव वा ।।
- वही, पृ० ९०

३. तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता ।
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ।।
- वही, पृ० ९९

नहीं होती अत: इन्द्रिय प्रमाण है। एवं इन्द्रिय के रहने पर भी इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने पर ज्ञान उत्पन्न नहीं होता अत: इन्द्रिय तथा अर्थ का सम्बन्ध प्रमाण है। अर्थ के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय के द्वारा भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता अत: इन्द्रिय का मन के साथ सम्बन्ध प्रमाण है। पूर्वोक्त सभी के रहने पर भी यदि आत्मा का मन से योग नहीं है तो भी ज्ञान नहीं हो पाता अत: आत्म-मनोयोग प्रमाण है। अथवा इन सभी संयोगों में से एक का भी अभाव होने पर ज्ञान उत्पन्न नहीं होता अत: पूर्वोक्त सभी प्रमाण है। पूर्वोक्त इन्द्रियादि के प्रमाण मानने पर ज्ञान फल होगा। यदि यह शंका की जाय कि कभी-कभी तो इन्द्रिय के रहने पर भी ज्ञान रूप फल की उत्पत्ति नहीं होती है, तो यह उचित नहीं है क्योंकि नेत्रे-न्द्रिय के रहने पर भी जहाँ विषयज्ञान नहीं होता वहाँ व्यापार का अभाव पाया जाता है। ज्ञानरूप फल से ही `व्यापार` का निश्चय होता है। इन्द्रियादि का व्यापारयुक्त होना ज्ञानोत्पत्ति की आवश्यक शर्त है। यही कारण है कि सुषुप्ति[1] की अवस्था में इन्द्रियादि व्यापार का अभाव होने के कारण ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती है। केवल प्राप्तिमात्र इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु योग्यतावाहित प्राप्तिसम्बन्ध है। यदि प्राप्तिमात्र सम्बन्ध होता तो त्वचा से रूप का ग्रहण होना चाहिए था क्योंकि स्पर्श के समान रूप भी इन्द्रियसंयुक्त अर्थ में विद्यमान है। किन्तु, त्वचा से रूप का ग्रहण नहीं होता अत: योग्यताविशिष्ट प्राप्ति सम्बन्ध है।[2] यह योग्यता कार्यदर्शन से अनुमेय है। चक्षुरादि का रसादि के साथ योग्यताविशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। इसलिए चक्षु से रसादि का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान की

---

१. न्या० र०, पृ० ११०

२. प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो नेन्द्रियस्याभ्युपेयते ।
मा भूद् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम् ॥
— श्लो० वा०, पृ० ५

उत्पत्ति नहीं होगी । जिस प्रकार प्रमाण की सिद्धि में योग्यताविशिष्ट प्राप्ति अपेक्षित है उसी प्रकार फल की सिद्धि में भी योग्यताविशिष्ट प्राप्ति अपेक्षित है । अर्थात् जिस प्रकार प्रमाण की निष्पत्ति में इन्द्रिय का अर्थ के साथ योग्यतायुक्त सम्बन्ध ही कारण बनता है, सम्बन्धमात्र नहीं, उसी प्रकार फल की निष्पत्ति में भी इन्द्रिय तथा अर्थ का योग्य सम्बन्ध ही अपेक्षित होता है । अतः एक इन्द्रिय से सर्वार्थोपलब्धि के अतिप्रसङ्ग की सम्भावना नहीं है ।[1]

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा विशेषण ज्ञानरूप जो अनिश्चयात्मक आलोचनमात्र ज्ञान होता है उसके पश्चात् ही निश्चयात्मक ज्ञानोत्पत्ति होती है । अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य विशेषणज्ञानरूप आलोचनमात्र अनिश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ तथा तज्जन्य निश्चयात्मक ज्ञान फल । इस प्रकार, नामजात्यादिविरहित निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमाण होने पर तज्जन्य सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमा होती है । इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा विशेषण का निर्विकल्पक ज्ञान तभी प्रमाण कहा जायगा जब उससे निश्चयात्मक ज्ञानरूप प्रमा की उत्पत्ति होगी । विशेषण का आलोचनमात्र ज्ञान उत्पन्न होने पर भी यदि विशेष्य-विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तो अर्थावधारण के न होने से निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता है ।[2]

---

१. यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वादिन्द्रियार्थयोः ।
नियता सङ्गतिस्तद्वत् फलेऽप्येवं भविष्यति ॥
– श्लो० वा०, पृ० 64

२. विशेषणे तु बोद्धव्ये यदालोचनमात्रकम् ।
प्रवृत्तं निश्चयं पश्चात् तस्य प्रामाण्यकल्पना ॥ – वही, पृ० ७२
निश्चयस्तु फलं तत्र नाभावश्चोदिते तदा ।
तदा नैव प्रमाणत्वं स्यादर्थानवधारणात् ॥
– वही, पृ० ७२

विशेष्यज्ञानरूप निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण मानने पर हानादि बुद्धि में फलता उपपन्न होती है इस प्रकार हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूप फल का प्रमाण सविकल्पक ज्ञान ही होता है। इस पर यदि किसी को यह आपत्ति हो कि फल को करण के अव्यवहित उत्तरकाल में ही होना चाहिए तथा सविकल्पक ज्ञान के अव्यवहित उत्तरकाल में तो विषयों से होने वाले अपकार अथवा उपकार अथवा इन दोनों के अभाव की स्मृति होती है तत्पश्चात् हेयत्व अथवा उपादेयत्व अथवा उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। अतः सविकल्पक ज्ञान के पश्चात् उपकारादि की स्मृति का व्यवधान होने से हेयत्वादि बुद्धि को सविकल्पकज्ञानरूप प्रत्यक्षप्रमाण का फल नहीं माना जा सकता है। इस आक्षेप के निराकरणार्थ वार्त्तिककार का कथन है कि सविकल्पक ज्ञान और हेयत्वादिबुद्धि के मध्य उपकारादि स्मृति के उत्पन्न होने पर सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उपकारादि स्मृति को ही उसका फल स्वीकार कर लेना चाहिए, इसमें हमारा कोई दुराग्रह नहीं है।[1]

प्रमाण तथा फल के विषय में यथेष्ट परिकल्पना को कुमारिल ने स्वीकार किया है। जहाँ विशेषणज्ञानरूप निर्विकल्पकज्ञान प्रमा होती है वहाँ इन्द्रियादि प्रमाण बनते हैं। जब विशेषण का ज्ञान फल होता है तब आलोचन ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण होता है। आलोचना का अभाव होने पर प्रामाण्य नहीं होता क्योंकि अर्थ का निश्चय ही नहीं होता। जब विशेष्यज्ञान प्रमाण होता है तब हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि फल होती है। हानादि बुद्धि के उपकारादि स्मृति से व्यवहित होने पर उपकारादि स्मरण को ही फल मान लेने पर कोई आपत्ति नहीं है। वार्त्तिककार का यह मत न्यायदर्शन का स्मरण दिलाता है जहाँ इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा

---

1. हानादिबुद्धिफलता प्रमाणे चेद् विशेष्यधीः।
   उपकारादिसंस्मृत्या व्यवायश्चेदिदं फलम्॥

   — श्लो० वा०, पृ० ७३

निर्विकल्पक ज्ञान रूप त्रिविध करण तथा निर्विकल्पक ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान तथा हानोपादानोपेक्षाबुद्धि रूप त्रिविध प्रमाओं का निरूपण किया गया है।[1] तीन प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमाओं के विषय में न्याय मत का वार्तिककार से साम्य है। त्रिविध प्रमारूप समानता होने पर भी न्यायदर्शन जहाँ इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान में करणत्व बतलाता है वहाँ वार्तिककार इन्द्रियव्यापार, निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान में प्रमाणत्व का प्रतिपादन करते हैं। न्याय मत में सविकल्पक ज्ञान कदापि करण नहीं बनता। न्याय इन्द्रिय रूप करण तथा निर्विकल्पक ज्ञान रूप फल के मध्य इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष रूप अवान्तर-व्यापार को भी स्वीकार करता है तथा त्रिविध फलानुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान को अवान्तर व्यापार मानता है परन्तु वार्तिककार ने फल को करण का अव्यवहित उत्तरवर्ती स्वीकार कर अवान्तर-व्यापार रूप अर्थात कल्पना ही नहीं की है। इन भेदों के होने पर भी वार्तिककार का मत न्यायदर्शन के अधिक निकट प्रतीत होता है।

इस प्रकार वार्तिककार ने प्रत्यक्ष प्रमाण से पुरुष को होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा माना है जबकि परिभाषाकार चैतन्य को प्रमा मानते हैं। परमार्थ रूप में वह चैतन्य ब्रह्म ही है। प्रमाण के विषय में दोनों की भिन्नता उदित होती है क्योंकि वार्तिककार ने सामान्यतः 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाण माना है तथा परिभाषाकार अन्तःकरण की वृत्ति को प्रमाण मानते हैं। ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष के भिन्न-भिन्न प्रयोजकों को धर्मराज ने स्वीकार किया तो त्रिविध करण का प्रमाणत्व तथा त्रिविध फल का निरूपण वार्तिककार ने किया। वेदान्तपरिभाषा में तो वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य के प्रत्यक्ष प्रमात्व का निरूपण प्राप्त होता है जबकि श्लोकवार्तिक में इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमा बतलाया गया है। धर्मराज तथा कुमारिल दोनों के मतों में प्रत्यक्ष का स्वरूप विभिन्न है, साम्य

---

१. तर्कभाषा, प्रत्यक्ष प्रमाण।

है तो इतना कि दोनों ने प्रत्यक्ष का निरूपण प्राथमिक प्रमाण के रूप में किया है तथा प्रत्यक्ष की उपजीव्यता की मान्यता को सुरक्षित रखा है ।

२.३.३ प्रमाण तथा फल में विषय की एकता का प्रतिपादन —

वार्तिककार ने प्रमाण तथा तज्जन्य फल दोनों को एकविषयक स्वीकार किया है क्योंकि नेत्रादि इन्द्रिय तथा घटादि अर्थ के संयोग को मानने पर उक्त संयोग अर्थ में रहता है तथा तज्जनित प्रमिति भी अर्थविषयक ही होती है । इस प्रकार सम्बन्ध अर्थ के आश्रित है तथा ज्ञान अर्थविषयक होता है । आत्म-मन: संयोग रूप प्रमाण के अर्थविषयक न होने तथा ज्ञानोत्पत्ति के अर्थविषयक होने पर आत्ममन:संयोग के प्रमाणत्व पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है क्योंकि आत्ममन:संयोग का अर्थरूप विषय में व्यापार होने से ही अर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। अत: आत्ममनोयोग रूप व्यापार जिस घटादि विषय के साथ होता है उसी घटादिविषयक ज्ञान के होने के कारण 'विषयैक्य' खण्डित नहीं होता है । लोक में भी देखा जाता है कि क्रिया तथा कारक समानविषयक ही होते हैं अर्थात् परश्वादि का व्यापार जिस काष्ठादि में होता है उसी में केवल क्रिया की उत्पत्ति देखी जाती है।[1] अत: आत्ममन:संयोग के प्रामाण्य में भिन्नविषयकता का दोष नहीं प्राप्त होता है।[2] किञ्च, यदि

---

१. एतावदेव हि लोके क्रियाकारकयोरेकविषयत्वं यत्, यत्र परश्वादिकं व्याप्रियते तत्रैव छिदेति तदिहाप्यात्ममन:संयोगस्यार्थे विषये व्यापारादस्ति ज्ञानस्यापि विषयैक्यमिति ।

— न्या० र०, पृ० ११२

२. संयोगे त्वात्ममनसो: स्यादेवं विषयभिन्नता ।
प्रमाणफलयो: नासौ, अर्थे हि व्यापृतं द्वयम् ।।

— श्लो० वा०, पृ० ६६

आश्रय को ही विषय माना जाय अर्थात् प्रमाण तथा फल इन दोनों का एक ही आश्रय में रहना हो 'विषयैक्य' हो, तो यह विषयैक्य आत्ममन:संयोग तथा फल इन दोनों में ही सम्भव है क्योंकि उक्त संयोग तथा तज्जन्य प्रमा दोनों आत्मा में ही रहते हैं।[1] इस प्रकार विषय की एकता दोनों में ही उपपन्न है। इसके अतिरिक्त, आत्मा तथा मन का यह संयोग तो प्रत्यक्ष प्रमिति का सर्वोत्कृष्ट कारण है क्योंकि यह संयोग भी आत्मा में होता है तथा प्रत्यक्षज्ञान भी आत्मा में ही होता है।[2] आत्ममन:संयोग, इन्द्रियमन:-संयोग तथा इन्द्रियार्थसंयोग इन प्रत्यक्षप्रमिति के समस्त हेतुओं को प्रमाण मानने से भी भिन्नविषयत्व सम्भव नहीं है क्योंकि व्यापार की दृष्टि से इनका समानविषयत्व है और योग्यता की दृष्टि से अतिप्रसङ्ग का परिहार हो जाता है। अत: सर्वसंयोग की प्रमाणता मानने पर भी कोई दोष नहीं है। जो लोग इन्द्रियों को ही प्रमाण मानते हैं उनके मत में तो प्रमाण तथा फल का 'विषयैक्य' स्पष्ट ही है क्योंकि जिस विषय की प्रमिति उत्पन्न होती है उसी विषय में इन्द्रियसंयोगरूप व्यापार भी होता है।[3] इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य विशेषणज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर तथा तज्जनित विशेष्य के ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमारूप फल मानने के पक्ष में भी विषयभेद निरा-करणीय है[4] क्योंकि विशेषण ज्ञान के अनन्तर ही विशेष्य का ज्ञान होता है

---

1. यथाव्याश्रय इष्टस्ते न योगाद् विषयान्यता ।
   आत्मव्यत्येन विज्ञानं न भिन्नविषयं तत: ॥
   — श्लो० वा०, पृ० ६७
2. श्लो० वा०, पृ० ६८ पर पं० गङ्गानाथ झा की टिप्पणी ।
3. प्रमाणे सर्वसंयोगे दोषो नैको पि विद्यते ।
   प्रमाणं त्विन्द्रियं यस्य तस्यैको विषय: स्फुट: ॥
   — श्लो० वा०, पृ० ६९
4. प्रमाणफलयो: पूर्वो विशेषणविशेष्ययो: ।
   यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिराक्रिया ॥
   — वही, पृ० ७०

और दोनों ही समानार्थविषयक होते हैं। प्रत्येक स्थिति में प्रमाण तथा फल के विषय की एकता बनी रहती है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान में आवश्यक आत्म-मन:संयोग, इन्द्रियमन:संयोग, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, तज्जन्य निर्विकल्पक ज्ञान, तज्जन्य सविकल्पक ज्ञान तथा तज्जन्य हानोपादानोपेक्षाबुद्धि -- इन सभी पदार्थों में `विषयैक्य' सदैव बना रहता है।

वेदान्तपरिभाषा यद्यपि इस विषय का पृथक् निरूपण नहीं करती तथापि उसका सूक्ष्म अवलोकन प्रमाण तथा फल में विषयैक्य का प्रतिपादन कराता है। विषय के प्रत्यक्षज्ञान में अन्त:करण वृत्ति तथा विषय के अभेद के साथ ही विषय तथा अन्त:करण का अभेद भी आवश्यक है। इस प्रकार प्रमाणरूप अन्त:करणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा विषयचैतन्य के अभेद के कारण विषयाकाराकारित अन्त:करण की वृत्ति भी विषयरूप ही होती है तथा ज्ञान भी उस विषयावच्छिन्न चैतन्य का ही होता है। अत: प्रमाण तथा फल में विषय की एकता सदैव बनी रहती है। इस दृष्टि से वार्तिककार तथा परिभाषाकार का साम्य दिखाया जा सकता है।

प्रमाण तथा फल के विषय की एकता का प्रतिपादन करके कुमारिल ने प्रमाण तथा फल दोनों को एक ही मानने वाले बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण किया है। स्पष्टतया, उनके मत में प्रमाण तथा फल भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्द्रियादि प्रमाण तथा फलरूप ज्ञान विभिन्न है। वेदान्तपरिभाषा में भी निरुपाधिक चैतन्य की एकमात्र सत्ता होने पर उपाधिभेद से उसके त्रिविध भेद माने गए हैं। परन्तु, वहाँ भी अन्त:करणवृत्तिरूप प्रमाणचैतन्य तथा तदभिव्यक्त विषयचैतन्य में पृथक्ता प्राप्त होती है। वार्तिककार स्वाभिमत की सिद्धि हेतु बौद्धों का खण्डन करते हैं।

२.३.४ प्रमाण तथा फल की एकता का निराकरण --

बौद्ध मत में प्रमाण तथा फल दोनों की एकता को स्वीकार कर ज्ञान को ही प्रमाण तथा उसका फल माना गया है। विज्ञान की ही सत्ता

स्वीकार करने के कारण प्रमाण तथा फल दोनों ही विज्ञान माने जाते हैं। साध्य तथा साधन के सर्वदा पृथक् होने के कारण वार्त्तिककार इस मत से सहमत नहीं हैं। लोक में भी देखा जाता है कि जिस प्रकार खदिर के वृक्ष के साथ सम्बद्ध छेदनक्रिया से पलाश वृक्ष में छिदारूप फलोत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार परशुरूप साधन की स्वसाध्य छिदारूप फल के साथ एकता नहीं हो सकती है। प्रमाण तथा फल की एकता का प्रतिपादन अपने को रुचिकर लगने के कारण नहीं किया जा सकता है क्योंकि तब तो भेदव्यवस्था स्वीकार करने वालों को भेद ही रुचिकर लगेगा।[1] बौद्धों ने लोकप्रसिद्ध साध्य तथा साधन के भेद का त्याग करके विषय की एकता को माना है। कुमारिल ने लोकप्रसिद्ध साध्य तथा साधन के भेद को माना है। वेदान्तपरिभाषा में भी व्यावहारिक सत्ता में प्रमाण तथा फल की भिन्नता को स्वीकार कर अन्तः-करणवृत्ति को प्रमाण तथा उससे अभिव्यक्त विषयचैतन्य के ज्ञान को फल माना गया है। अतः वार्त्तिककार से उनका साम्य है; किन्तु, परमार्थ में तो चैतन्यस्वरूप ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता होने से प्रमाणप्रमेयफलव्यवहार का निषेध किया गया है।

---

१. विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणं फलं वदेत् ।
साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः ।।
- श्लो० वा०, पृ० ७४

छेदने खदिरप्राप्ते पलाशे न छिदा यथा ।
तथैव परशोरेव छिदया सह नैकता ।।
- वही, पृ० ७५

भवेत भेदज्ञानेन रूपिता विषयैकता ।
तत्त्यागेन परोऽप्यस्तु भेदो रूपितुमागतः ।।
- वही, पृ० ७६

२.४ (ख) इन्द्रिय निरूपण

भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थानों में इन्द्रियों की संख्या के विषय में भी मतभेद है । ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के लिए सामान्यरूपेण `इन्द्रिय` शब्द का व्यवहार होता है और कभी-कभी `मन` के लिए भी `इन्द्रिय` शब्द का प्रयोग किया जाता है । वेदान्तसिद्धान्त में पंचपादिका तथा वेदान्तपरिभाषा के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर मन को `अन्तरिन्द्रिय` के रूप में स्वीकार कर मन में इन्द्रियत्व का प्रतिपादन किया गया है । `इन्द्रिय` शब्द का व्यापक प्रयोग होने पर भी प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित ज्ञानेन्द्रियों के लिए ही यहां `इन्द्रिय` शब्द प्रयुक्त है ।

वेदान्तपरिभाषा में अन्त:करण की वृत्ति द्वारा विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य के अभिन्न हो जाने पर ही प्रत्यक्ष सम्भव है ; वृत्त्यभाव में बाह्य तथा आन्तर किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष की सम्भावना नहीं है । यह वृत्ति अन्त:करण की ही होती है अत: बिना अन्त:करण के वृत्ति सम्भव नहीं है तथा वृत्त्यभाव में प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है । द्रष्टव्य है कि अन्त:करण के विषयाकाराकारित हो जाने पर वृत्ति द्वारा विषयज्ञान होता है अत: इन्द्रियों की क्या उपयोगिता है ? प्रत्यक्ष के लिए विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमात्रवच्छिन्न चैतन्य से अभेद आवश्यक है । निरुपाधिक चैतन्य में आरोपित विषयादि के अज्ञान का निवारण वृत्ति द्वारा होता है और यह वृत्ति विषय तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना सम्भव नहीं है । अत: संयोग-संयुक्ततादात्म्यादि सम्बन्धों का चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्ति के उत्पादन में विनियोग है[१] । इस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है । वेदान्तपरिभाषाकार आन्तर प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की आवश्यकता अस्वीकार करते हैं तथा `मन` को इन्द्रिय न मानकर आन्तरप्रत्यक्ष को `इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष` बतलाते हैं ।

मीमांसासूत्र १.१.४ के अनुसार `विद्यमान वस्तुओं का इन्द्रियों के

---

१. तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यंजकवृत्तिजनने विनियोग: ।

— वे० प०, पृ० ८३

साथ सम्यक् व्यापार होने पर तज्जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है[1]— यह प्रत्यक्षलक्षण इन्द्रियों की आवश्यकता तथा उपयोगिता को स्पष्ट कर देता है । वेदान्त तथा मीमांसा दोनों ही प्रस्थानों में विषयप्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की आवश्यकता होने के कारण ही उनका विवेचन प्रस्तुत है ।

२.४.१. इन्द्रियाँ :-

सांख्य-योग, जैन तथा न्याय-वैशेषिक ने बाह्य पदार्थों के ज्ञान के साधन के रूप में घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र तथा त्वक्— इन ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार कर ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 'पाँच' मानी है । न्यायसिद्धान्त ने मन का इन्द्रियत्व स्वीकार करके छः इन्द्रियों को मान्यता दी है । परन्तु मन के इन्द्रियत्व का खण्डन करके वेदान्तपरिभाषाकार ने ज्ञानजनक पाँच ही इन्द्रियाँ मानी हैं ।[2] हस्तादि पाँच कर्मेन्द्रियों में ज्ञानजनकत्व का अभाव होने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही सिद्ध हुईं । वार्तिककार ने भी बाह्येन्द्रियों की संख्या पाँच ही मानी है[3] । मन को अन्तरिन्द्रिय स्वीकार करने के पक्ष में वेदान्तपरिभाषाकार से उनकी भिन्नता लक्षित होती है क्योंकि वे मन को भी इन्द्रिय मानते हैं । इस प्रकार, वार्तिककार जहाँ छः ज्ञानेन्द्रियाँ मानते हैं वहीं वेदान्तपरिभाषाकार 'मन' को इन्द्रिय न मानकर पंच ज्ञानेन्द्रियों की सिद्धि करते हैं । प्राचीन सांख्याचार्यों के द्वारा 'त्वक्' को ही एकमात्र इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु त्वक् को ही इन्द्रिय मानने पर या तो सभी प्रकार के प्रत्यक्ष एकेन्द्रिय द्वारा सम्पादित होने लगेंगे या किसी भी प्रकार का प्रत्यक्षज्ञान सम्भव न हो सकेगा । एकेन्द्रिय द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या नहीं की जा सकती । एक ही

---

१. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।
- मी० सू० १. १. ४

२. इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि ।
- वे० प० पृ० १५३

३. चक्षुरूपादिभेदस्तु पञ्चैव व्यवस्थिताः ।
- श्लो० वा०, पृ० १५५

`त्वक्` इन्द्रिय में रूप, रसादि विभिन्न विषयों के ग्रहणार्थ विभिन्न शक्तियों को स्वीकार करना भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि उनके स्वीकार करने पर तो विभिन्न शक्तियों से विभिन्न इन्द्रियों का ही अनुमान होगा।[1]

अनन्त विषयों के आधार पर अनन्त इन्द्रियों की कल्पना भी गौरवावह है। नीलपीतादि या मधुरलवणादि विषयों के अनन्त होने पर भी नीलपीतादि रङ्गों का चक्षु से ही तथा मधुरलवणादि का जिह्वा द्वारा ही ज्ञान होता है। जिस प्रकार नेत्रेन्द्रिय से सभी प्रकार के रूप का ज्ञान होता है उसी प्रकार सभी प्रकार के शब्दों का श्रवणेन्द्रिय से, सभी प्रकार के रस का जिह्वा द्वारा, सभी प्रकार के गन्ध का नासिका द्वारा तथा सभी प्रकार के स्पर्श का त्वचा द्वारा ज्ञान होता है।[2] अत: चक्षुरादि भेद से बाह्येन्द्रियाँ पाँच ही हैं एवं चाक्षुषरासनादि-भेद से तन्मूलक प्रत्यक्ष भी पाँच ही हैं। नीलपीतादि विषयों के आनन्त्य से अनन्त इन्द्रियों की कल्पना नहीं की जा सकती।[3] अत: मन को लेकर ज्ञानेन्द्रियों की संख्या छ: सिद्ध हुई।

२.४.२. मन के इन्द्रियत्व के विषय में दोनों का मत :-

वेदान्तसिद्धान्त में अन्त:करण के विभिन्न परिणाम से कभी वृत्ति ही कभी `मन` कहलाती है तो कभी `बुद्धि`, कभी `चित्त` तथा कभी `अहङ्कार`। इसी कारण, अन्त:करणसामान्य के लिए ही `मन` शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। वेदान्तपरिभाषाकार `मन` को इन्द्रिय नहीं मानते। मन को इन्द्रिय मान लेने पर तो भाट्ट तथा न्याय मतों का प्रत्यक्षलक्षण अतिव्यापक तथा अव्यापक

---

१. एवं यदि भवेत्तत्र सर्वेन्द्रियेषु वा तथा ।
कल्प्यते शक्तिभेदश्चेत् शक्तिरेवेन्द्रियं भवेत् ॥
- श्लो० वा०, पृ० १५२

२. Epistemology of the Bhatta School of Pūrvamīmamsa, P.176.

३. चक्षुरूपादिभेदेन पञ्चैव व्यवस्थिता: ।
तेन नीलादिभेदेऽपि नेन्द्रियानन्त्यकल्पना ॥
- श्लो० वा०, पृ० १५१

हो जाएगा । प्रत्यक्ष को इन्द्रियजन्य मानने तथा मन को इन्द्रिय स्वीकार करने पर मनोजन्य अनुमितिस्थल पर भी प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी । किञ्च, न्यायसम्मत ईश्वर को बिना इन्द्रियों के ही नित्यप्रत्यक्ष होने के कारण तथा प्रत्यक्ष के इन्द्रियजन्य होने के कारण प्रत्यक्षलक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाएगा ।[1] अतः 'मन' को इन्द्रिय नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त, मन के इन्द्रियत्व के विषय में प्रमाणाभाव भी है । 'मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि' भगवद्गीता का यह वचन भी मन के इन्द्रियत्व की पुष्टि नहीं करता क्योंकि इस वचन द्वारा षट्त्व संख्या की पूर्ति ही 'मन' शब्द से की गयी है जो मन के इन्द्रिय न होने पर भी सम्भव है । जिस प्रकार 'यजमान पञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इस वैदिक उदाहरण में पुरोहित तो चार ही हैं तथा पाँचवाँ यजमान है । यजमान के पुरोहित न होने पर भी यजमान से ऋत्विग्गत पञ्चत्व की संख्यापूर्ति देखी जाती है उसी प्रकार अनिन्द्रिय मन से भी इन्द्रियगत षट्त्व संख्या की पूर्ति मानने में कोई विरोध नहीं है । इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही हो -- यह कोई नियम तो है नहीं, अतः संख्यापूर्ति इन्द्रियभिन्न से भी हो सकती है । 'वेदान-ध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' यह स्मृतिवाक्य भी वेदगत पञ्चत्व संख्या की पूर्ति वेदभिन्न 'महाभारत' से करता है । 'मन' के अनिन्द्रियत्व के विषय में 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (कठ० १।३।१०) यह श्रुति भी प्रमाण है जहाँ इन्द्रियों से परे अर्थ तथा अर्थों से परे 'मन' को बतलाकर मन के अनिन्द्रियत्व का प्रतिपादन किया गया है ।[2] इस प्रकार मन का इन्द्रियत्व धर्मराजाध्वरीन्द्र को

---

१. न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यस्य साक्षात्त्वाभावापत्तेश्च ।

- वे० प०, पृ० ४३

२. न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति । 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति वाच्यम्, न, अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसंख्यापूरणाविरोधात् । न हीन्द्रियगतसंख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसंख्याया

.....(अगले पृष्ठ पर देखें)

अभीष्ट नहीं है ।

कुमारिल ने 'मन' में इन्द्रियत्व की सिद्धि के लिए न तो न्याय के समान प्रमाण दिया है और न ही न्यायसिद्धान्त का निराकरण ही किया है । उनका कथन है कि मन के इन्द्रिय होने से सुखादि का[1] जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने से प्रत्यक्ष ही है । कुमारिल मन के इन्द्रियत्व को स्वीकार कर प्रत्यक्ष को इन्द्रियजन्य बतलाकर सुखादि का भी आन्तर प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु वेदान्तपरिभाषाकार ने सुखादिकों का आन्तर प्रत्यक्ष तो स्वीकार किया है परन्तु मन को इन्द्रिय नहीं माना है । उनके मत में प्रत्यक्ष का प्रयोजक इन्द्रियजन्यता नहीं है अतः मन को इन्द्रिय न मानने से कोई अनुपपत्ति नहीं होती है ।

२.४.३. <u>इन्द्रियों की सत्ता में प्रमाण</u>–

वेदान्त मत में इन्द्रियों की अतीन्द्रियता का प्रतिपादन किया गया है अतः अनुमान प्रमाण द्वारा उनकी सत्ता की सिद्धि होती है । इन्द्रियों के अस्तित्व के विषय में अनुमान तथा श्रुति दोनों की प्रमाणता है । 'रूपादिज्ञानं सकरणकं क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्' अर्थात् जैसे छेदन क्रिया में क्रियात्व है और वह कुठाररूप करण से जन्य है उसी प्रकार रूपादि-ज्ञान में भी क्रियात्व है और उसे भी किसी न किसी करण से जन्य होना चाहिए, अतः रूपज्ञान नेत्रकरणजन्य है । इसी प्रकार, श्रोत्रादि इन्द्रियों के सद्भाव में भी अनुमान प्रमाण है । 'तमुत्क्रान्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४-४-२८) यह श्रुति भी प्रमाण है ।

मीमांसक भी अनुमान प्रमाण द्वारा ही इन्द्रियसिद्धि करते हैं । कोई

क्लृप्तिवताऽपि पञ्चानेन पूरणसंभवात् । 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इत्यत्र वेदगत पञ्चत्वसंख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणसंभवात् । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (का० १।३।१०) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वावगमाच्च ।

– वे० प०, पृ० ४२

१. मनसश्चेन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षा धीः सुखादिषु ।

– श्लो० वा०, पृ० ८४

भी कार्य अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता अत: रूपज्ञान कार्य के द्वारा सामान्यत: चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि हो जाती है। अन्ध नेत्रेन्द्रिय द्वारा रूपज्ञान तथा बन्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्दज्ञान न होने से व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा भी अनुमान होता है कि रूपज्ञान नेत्रेन्द्रिय द्वारा तथा शब्दज्ञान[1] श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही होता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी अनुमान से सिद्ध हैं। बाह्य रूपादि के ज्ञान में[2] चक्षुरादि का करणत्व अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा अनुमित किया जाता[3] है। सुखादि के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होने से मन का इन्द्रियत्व निश्चित होता है।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अपञ्चीकृत भूतों से इन ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है जो त्रिगुणात्मक माया के कार्य हैं। सत्त्वगुणयुक्त अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के पृथक् पृथक् अंश से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण की उत्पत्ति होती है। यथा आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, अग्नि से चक्षु, जल से जिह्वा तथा पृथ्वी से घ्राण की उत्पत्ति मानी गयी है। सत्त्वगुणोत्पन्न होने के कारण विषयप्रकाशन का सामर्थ्य होने से इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है। दिखलायी पड़ने वाले नेत्रादि गोलक वस्तुत: इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं, वास्तविक इन्द्रियाँ तो अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का कार्य होने से इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जा सकतीं, अत: अतीन्द्रिय हैं। इन्हीं पञ्चभूतों के सम्मिलित सत्त्वांश से अन्त:करण उत्पन्न हुआ जिसके व्यापार भेद से मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार- चार नाम पड़ गए। ये भी हृदयादि रूप गोलक (अधिष्ठान) में रहकर सङ्कल्पादि व्यापार किया करते

---

1. Epistemology of the Bhatta School of Purvamimamsa, P.175.
२. बाह्येषु रूपादिषु चक्षुरादीनां करणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुमीयते।

— न्या० र०, पृ० १३४

३. सुखादिवेदनस्य तु लिङ्गकरणमनुमीयते, तत्र लिङ्गादीनामसम्भवात् करणत्वे अपरोक्षत्वानुपपत्तेरिन्द्रियमेवेति निश्चीयते, तच्च मन उच्यते।

— न्या० र०, पृ० १३४

हैं।[1] इस प्रकार, वेदान्तसम्मत इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होने के साथ ही साथ भौतिक भी हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि अन्तःकरण (मन) का इन्द्रियत्व वेदान्तपरिभाषाकार को मान्य नहीं है।

कुमारिल ने इन्द्रियस्वरूप का पृथक् विवेचन नहीं किया है। न्याय-वैशेषिक और वेदान्त की ही भाँति मीमांसक इन्द्रियों को भौतिक तथा अतीन्द्रिय मानते हैं केवल श्रोत्र को उन्होंने दैशिक माना है। वे इन्द्रिय अधिष्ठानों के अतिरिक्त इन्द्रिय की शक्ति मानते हैं जिसके द्वारा इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती हैं तथा इस शक्ति का ज्ञान विषयों के ग्रहण से होता है।

इस प्रकार, वेदान्त तथा मीमांसा दोनों ही दर्शनों में इन्द्रियों की भौतिकता तथा अतीन्द्रियता स्वीकार की गई है। मीमांसक भी नैयायिकों की ही भाँति पृथ्वी, जल, तेज, तथा वायु से क्रमशः घ्राण, रसना, नेत्र तथा त्वक् इन्द्रियों की उत्पत्ति मानते हैं परन्तु नैयायिकों की भाँति[2] उन्होंने श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशस्वरूप न स्वीकार कर दिग्भागीय माना है। न्याय मानता है कि नेत्र द्वारा रूप का ज्ञान होना चाहिए जो वस्तुतः तेज का गुण है अतः नेत्र को भी तैजस होना चाहिए। इसी प्रकार, जिह्वा द्वारा रस का ज्ञान होने से जिह्वा को जलीय, नासिका द्वारा पृथ्वी के गुण गन्ध का ज्ञान होने से नासिका को पार्थिव, त्वचा तथा कर्ण द्वारा क्रमशः वायु तथा आकाश के गुण — स्पर्श एवं शब्द का ज्ञान होने से त्वक् तथा कर्ण को भी क्रमशः वायवीय तथा आकाशीय होना चाहिए। न्याय-वैशेषिक के उपर्युक्त तर्कों में से नेत्रेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय के विषय में न्यायरत्नाकार पार्थसारथि मिश्र की सम्मति प्रतीत होती है। रसनेन्द्रिय तथा

---

1. एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसन-घ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते। एतेभ्यः पुनराकाशादिगत-सात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि जायन्ते।

– वे० प०, पृ० ३५१-५२

2. 'श्रोत्रं तु दिङ्मयम्'

– न्या० र०, पृ० १०८

त्वगिन्द्रिय के विषय में उन्होंने भिन्न तर्क देकर उसे जलीय तथा वायवीय सिद्ध किया है।[1] देखा जाता है कि आर्द्र जिह्वा द्वारा ही रस का ग्रहण होता है, शुष्क जिह्वा से नहीं, अतः जिह्वागत आर्द्रता द्वारा रसाभिव्यक्ति होने से रसनेन्द्रिय को जलीय होना चाहिए। इसी प्रकार जल में निमग्न व्यक्ति के बाहर आ जाने तथा वायु के सम्पर्क से शीतलता का अनुभव करने के कारण स्पर्शेन्द्रिय त्वक् को वायवीय होना चाहिए। बिना किसी तर्क को दिए हुये ही पार्थसारथि मिश्र ने श्रोत्रेन्द्रिय को श्रुतिप्रमाण के आधार पर दिक्-भागीय स्वीकार किया है।[2] बाह्य रूपादि को स्वतन्त्ररूपेण ग्रहण न करने तथा आत्मा तथा इसके गुणों को स्वतन्त्ररूपेण ग्रहण करने के कारण ही मन आन्तरिक इन्द्रिय है। रूपादिज्ञान में भी मन चक्षु आदि की सहायता से प्रवृत्त होता है तथा अनुमानादि में भी लिङ्गादि की सहायता से उसकी प्रवृत्ति होती है।[3]

---

1. Parthasarathi accepts this reasoning in the case of the visual and olfactory organs, but in that of gustatory and tactual organs he follows a different principle.

   - Espistemology of the Bhatta School of Purvamimamsa, Page 108.

२. आर्द्रजिह्वो हि स्फुटतरं रसं गृह्णाति न शुष्कजिह्वः, तेन जिह्वागतानामपामेव रसव्यञ्जकत्वमिति रसनस्याऽऽप्यत्वम्। तथा निमग्नोत्थितानां वायुसम्पर्का-च्छीतस्पर्शोपलम्भात् शरीरेऽपि वायोरेव स्पर्शोपलम्भनिमित्तत्वमिति त्वगिन्द्रियस्य वायवीयत्वम्। .... श्रोत्रं तु दिङ्मयम् इति शब्दाधिकरणे (जै० सू० १, १, ६-२३) [illegible] इत्यलमतिविस्तरेण।

   - न्या० र०, पृ० १०८

३. रूपादिज्ञानेष्वपि मनः चक्षुरादिद्वारं प्रवर्तते। एवमनुमानादिष्वपि लिङ्गादिद्वारम्।

   - शा० दी०, पृ० ५३

२.४.४ इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व—

इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इन्द्रियाँ स्वग्राह्य विषयों की प्राप्ति कर, उनसे सम्पर्क स्थापित कर, उनका ग्रहण करती हैं अथवा उनसे वास्तविक सम्पर्क के अभाव में ही विषयज्ञान प्राप्त करती हैं। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य तथा वेदान्ती इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानकर विषयों के साथ इन्द्रियों के वास्तविक सम्पर्क होने पर ही विषयज्ञान स्वीकार करते हैं। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता स्वीकार करने वाले दार्शनिक स्वाभिमतानुसार विषयेन्द्रिय के इस वास्तविक सम्पर्क को कभी विषयदेश पर मानते हैं तथा कभी इन्द्रिय देश पर। अर्थात् कुछ इन्द्रियाँ विषयदेश पर जाकर विषयों के साथ वास्तविक सम्पर्क स्थापित करती हैं तो कुछ इन्द्रियदेश पर ही विषय के आ जाने से वास्तविक सम्पर्क करती हैं। बौद्ध दार्शनिक नेत्रेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा दूरस्थ विषय के साथ वास्तविक सम्पर्क के बिना ही विषयज्ञान हो जाने के कारण नेत्र तथा श्रोत्र इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानते हैं किन्तु अन्य तीन इन्द्रियों के साथ विषय के वास्तविक सम्पर्क से विषयज्ञान होने के कारण उनके प्राप्यकारित्व को स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक केवल नेत्रेन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं जो ग्राह्यविषय से वास्तविक सम्पर्क के बिना ही प्रकाश की सहायता से विषयज्ञान करा देती है।

भाट्ट मत में इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए आवश्यक इन्द्रिय तथा अर्थ का वास्तविक सम्पर्क सभी प्रकार के प्रत्यक्षों में सम्भव है। त्वाच, रासन तथा घ्राणज प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्षरूप वास्तविक सम्पर्क स्पष्ट है। स्पर्शगुणोपेत विषय के त्वगिन्द्रिय से वास्तविक सम्पर्क के अभाव में त्वचा पर पड़े वायुकण स्पर्शज्ञान नहीं होने देते। शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का स्पर्श होता है।[1] जिह्वा पर व्याप्त

---

१. सोऽपि शीतोष्णानुष्णाशीतभेदेन त्रिविधः।

— मा० मे०, पृ० ३८८

लवण द्रव्य के साथ जिह्वा के सन्निकर्षोपरान्त ही रसाभिव्यक्ति कर पाता है। यह रस मधुर, तिक्त, आम्ल, कषाय, कटु तथा लवण भेद से छः प्रकार का होता है। इनके भी अनेक अवान्तर भेद होते हैं[1]। वातावरण में व्याप्त द्रव्य के सूक्ष्म कणों के साथ जब नासिकान्तरवर्ती पार्थिवकणों का वास्तविक सम्पर्क होता है तभी घ्राणज प्रत्यक्ष हो पाता है। यह गन्ध पृथ्वी मात्र में ही रहता है तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध तथा साधारण गन्ध के भेद से तीन प्रकार का होता है[2]। त्वक्, जिह्वा तथा नासिका इन तीन इन्द्रिय देशों पर पहुँचकर ही विषय स्वज्ञान कराते हैं। इन तीन इन्द्रियों की प्राप्यकारिता असन्दिग्ध है। सामान्यतः चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विषय में ही सन्देह होता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने चक्षु तथा श्रोत्र —इन दोनों इन्द्रियों को अप्राप्यकारी माना है। उनके मत में इन्द्रियाँ गोलकमात्र हैं जो विषयों के साथ साक्षात् सम्पर्क (वास्तविक सम्पर्क) हुए बिना ही विषयप्रत्यक्ष कराती हैं। इन्द्रियों के गोलकमात्र (अधिष्ठानमात्र) होने से दूरस्थ पदार्थों तक उनका गमन सम्भव नहीं है। उक्त दोनों इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने में बौद्धों की यह युक्ति है कि इन दोनों इन्द्रियों का विषयों के साथ वास्तविक सन्निकर्ष मानने पर तो विषय के दूरत्व या सामीप्य का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा। वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसके सामीप्य तथा दूरत्व का भी ज्ञान होता है, किन्तु कथित इन्द्रियद्वय को प्राप्यकारी मानने पर तो 'सान्तरग्रहण' अर्थात् वृक्ष की दूरी या शब्द की दूरी का प्रत्यक्ष से 'ग्रहण' न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, प्राप्यकारी त्वगिन्द्रिय से जैसे स्वाधिष्ठान से अधिक अर्थ का ग्रहण नहीं होता, उसी प्रकार

---

1. स च मधुरतिक्ताम्लकषायकटुलवणभेदेन षड्विधः। एतेषामप्यवान्तरभेदा बहुविधाः।

   — भा० मे०, पृ० २८८

2. गन्धो घ्राणेन्द्रियमात्रग्राह्यः पृथिवीमात्रवर्ती विशेषगुणः। स च सुगन्ध-दुर्गन्धसाधारणगन्धभेदेन त्रिविधः।

   — भा० मे०, पृ० २८६

नेत्र, श्रोत्र आदि को प्राप्यकारी मान लेने पर चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठान-स्वरूप गोलकादि से परिमाण में बड़े वृक्ष, पर्वतादि का प्रत्यक्ष सम्भव न हो सकेगा।[1] तस्मात्, बौद्ध सिद्धान्तानुसार श्रोत्र तथा चक्षु अप्राप्यकारी हैं।

सांख्यमतानुयायी बौद्धसम्मत गोलक को वास्तविक इन्द्रियाँ न मानकर इन्द्रियों को सूक्ष्म एवं अहङ्कारजन्य स्वीकार करते हैं। इन्द्रियाँ सत्त्व-गुणप्रधान होने के कारण लघु हैं अतः प्रदीप की भाँति शरीर से निकलकर घटादि विषयों से सम्बद्ध हो घटादि आकारों में परिणत हो जाती है। इसी परिणाम को इन्द्रियों की वृत्ति कहते हैं जो अतीन्द्रिय है तथा जिससे विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि गोलक एवं कर्णशष्कुली में किए गए चिकित्साप्रयोगों द्वारा लाभ होने से गोलकों से पृथक् इन्द्रियों की सत्ता नहीं; क्योंकि गोलकादि अधिष्ठानों में चिकित्सास्वरूप संस्कार किए जाने पर वस्तुतः उनमें रहने वाली आधेयचक्षुरादि इन्द्रियों का ही संस्कार होता है।[2] कुमारिल ने सांख्य मत देकर इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का ही समर्थन किया है,[3] उनके वृत्ति-सिद्धान्त का नहीं। नेत्र तो रूप प्रत्यक्ष का कारण होने से ज्योति के समान तैजस

---

१. प्राप्यग्रहणपक्षे हि सान्तराग्रहणं भवेत् ।
अधिष्ठानाधिकग्राह्यौ न गृह्येत त्वगादिवत् ।

— श्लो० वा०, पृ० ५१

२. तयोश्च प्राप्यकारित्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत् ।
केचित् तयोः शरीराच्च बहिर्वृत्तिं प्रचक्षते ॥
चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते ।
सोऽपि तत्रैव संस्कार आधेयस्योपकारकः ॥

— श्लो० वा०, पृ० ५४-५५

३. तथैव सांख्यानां मतेन प्राप्यकारित्वं समर्थितम् । न त्वाहङ्कारित्वे वाणां बाह्यान्तरवृत्तिसद्भावे वा प्रमाणमस्ति, तेन भौतिकान्येवेन्द्रियाणि प्राप्यकारीणीति वक्तव्यम् ।

— न्या० र०, पृ० १०८

है, अतः दीपप्रभा की भाँति पृथुकाय वस्तुओं का ग्रहण करना उसका स्वभाव ही है।[1] इस प्रकार नेत्रेन्द्रिय के तैजस होने से दीपक की ज्योति की भाँति तैजस नेत्र ग्राह्य-विषयों के साथ सन्निकर्ष करता है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने भी इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है[2] जो अपने विषयों से सम्बद्ध होकर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती हैं। इनमें नासिका, रसना तथा त्वचा गोलकों में स्थित रहकर ही स्वविषयज्ञान करती हैं। केवल चक्षु तथा श्रोत्र विषयदेश पर जाकर अपने-अपने विषयों का ग्रहण करते हैं।[3] इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के विषय में वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक का साम्य स्पष्ट लक्षित है। बौद्धों के विरुद्ध दोनों ही नेत्रेन्द्रिय का विषयदेशगमन्य वास्तविक सन्निकर्ष स्वीकार करते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को मानने पर भी वेदान्तपरिभाषाकार ने श्रोत्रेन्द्रिय का विषयस्थल पर जाना स्वीकार किया है जबकि वार्तिककार नैयायिकों से साम्य रखते हुए विषय को ही श्रोत्रदेश पर आया हुआ मानते हैं।

वेदान्तसिद्धान्त में श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश के सत्त्वगुण से उत्पन्न माना गया है। यद्यपि आकाश सर्वव्यापक है तथापि तेज आदि के सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए चक्षुरादिकों की भाँति श्रोत्रेन्द्रिय परिच्छिन्न भी है अतः उसका भेरी आदि प्रदेश में जाना सम्भव है। शब्दप्रदेश में श्रोत्र के गमन के कारण ही 'भेरी

---

१. यथा हि चक्षुस्तावद् रूपप्रत्यक्षहेतुत्वादालोकवत्तैजसम्, तथा च सति दीपप्रभावदेव पृथुग्राहित्वं युक्तमिति न किञ्चिदवद्यम्।

- न्या० र०, पृ० १०८

२. सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति।

- वे० प०, पृ० १५३

३. तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भं जनयन्ति। चक्षुः श्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः।

- वे० प०, पृ० १५४

"शब्दो मया श्रुतः" इत्यादि अनुभव होता है।[1] यह सिद्धान्त नैयायिकमत का खण्डन करता है क्योंकि नैयायिक श्रोत्र तथा शब्द के संयोग की व्यवस्था वीचीतरङ्गन्याय द्वारा करते हैं। जिस प्रकार सरोवर की एक तरङ्ग से दूसरी तरङ्ग, दूसरी से तीसरी और इस तरह असंख्य तरङ्गोत्पत्ति होती है उसी प्रकार नगाड़े तथा दण्ड के संयोग से वहाँ के आकाश में प्रथम शब्द उत्पन्न होता है। इसी असमवायिकारण द्वारा दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है, जिससे तीसरे शब्द की। यही परम्परा श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त होने वाले अन्त्य शब्द को उत्पन्न करती है और स्वस्थानावस्थित श्रोत्रेन्द्रिय से तथाकथित अन्त्य शब्द का सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है। वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि इस प्रक्रिया में अनन्त शब्दोत्पत्ति की कल्पना गौरवयुक्त है। उनके अनुसार तो केवल अन्तःकरण ही चक्षु, श्रोत्रादि द्वारा निकलकर विषयदेश में जाकर चाक्षुष व श्रावण प्रत्यक्ष कराता है। इस प्रकार विषयस्थल पर ही श्रोत्रेन्द्रिय का भी सन्निकर्ष होता है।[2]

परन्तु, वार्तिककार ने विषयदेश पर श्रोत्रेन्द्रियसन्निकर्ष को अस्वीकार किया है। श्रोत्र की प्राप्यकारिता तो वह भी मानते हैं परन्तु श्रोत्रेन्द्रियस्थल पर ही विषय के आगमन से प्रत्यक्षता स्वीकार करते हैं। परिभाषाकार से इनका कुछ मत को लेकर भेद स्पष्ट ही है। वेद को नित्य तथा अपौरुषेय मानने के कारण शब्द की नित्यता भी आवश्यक है। वह नित्य शब्द पुरुषप्रयत्न द्वारा अभिव्यक्तमात्र होता है। शब्द-प्रत्यक्ष के विषय में न्यायवैशेषिक मत है कि शब्द की उत्पत्ति संयोग तथा विभाग द्वारा होती है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ

---

१. श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्। अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुतः।

— वे० प०, पृ० १५४

२. ...... केवलान्तःकरणमिति चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते।

— वे० प०, पृ० ४७

आघात द्वारा संयोग होने पर शब्द उत्पन्न होता है तथा संयुक्त पदार्थों को पृथक् करने पर भी शब्दोत्पत्ति होती है । संयोग या विभाग से उत्पन्न शब्दों से ही तत्सदृश अन्य शब्दों की उत्पत्ति उससे अग्रिम प्रदेशों में वीचीतरङ्गन्यायेन होती है । इसी क्रम से उत्पन्न अन्तिम शब्द का ग्रहण ही श्रोत्र द्वारा होता है । प्रत्यक्षविरुद्धकल्पना (अदृष्टकल्पना) के कारण वार्तिककार को यह मत अभीष्ट नहीं है । न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त के विषय में उनको कई आपत्तियाँ हैं । उनके अनुसार, न तो हमें शब्दों की अनन्तता का ही बोध होता है और न ही मूल शब्द का कथित शब्द से भेद ही प्रतीत होता है । एक शब्द से सदृश तथा सजातीय दूसरे शब्द की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? अनुवात के होने पर अतिदूर में भी शब्द श्रवण हो जाता है, प्रतिकूल दिशा में नहीं, क्यों ? शब्दों की उत्पत्ति एक ही दिशा में होने पर सभी दिशाओं के लोगों को शब्दश्रवण कैसे हो सकेगा ? तब तो, कुड्यप्रतिरोध के होने पर भी शब्दश्रवण होता रहेगा क्योंकि अमूर्त शब्द का प्रतिरोध मूर्त कुड्यादि द्वारा सम्भव नहीं । साथ ही, कुड्यादि व्यवधानों के कारण आकाश न तो विनष्ट होता है और न तो उसका अपसारण ही होता है । अतः आकाश की सत्ता में कोई अन्तर न होने के कारण कुड्य से शब्द का प्रतिरोध अनुपपन्न हो जाएगा । उपर्युक्त कठिनाइयों का सम्यक् समाधान न्याय-वैशेषिक मतावलम्बी नहीं कर पाते क्योंकि उनके मत में तो शब्द अमूर्त तथा विभु आकाश का गुण है ।[1]

सांख्यशास्त्रियों का 'श्रोत्र ही शब्दकम विषयदेश में जाकर शब्द का ग्रहण करता है'-- यह पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि इस पक्ष में श्रोत्र की (i) वृत्ति, तथा (ii) उस वृत्ति का गमन -- इन दो प्रत्यक्षविरुद्धों की कल्पना करनी पड़ती है । कुमारिल के अनुसार, विषयदेशस्थ वृत्ति के इन्द्रिय से दूर हो जाने पर वृत्ति का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकेगा ? और यदि अहङ्कार के विभु होने के कारण आहङ्कारिक इन्द्रियों को भी विभु माना जाय तब तो

---

1. शब्दनित्यत्वाधिकरणम्

- श्लो० वा० ८८-९८

अत्यन्त दूरस्थित शब्द का भी ग्रहण होने लगेगा । श्रोत्र की विषयाकारपरिणाम-रूपावृत्ति के अमूर्त होने के कारण कुड्यप्रभृति द्वारा शब्दप्रतिरोध सम्भव नहीं, तब व्यवहित शब्द का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? शब्दविशावर्ती अनुवात प्रत्यक्ष में सहायक तथा प्रतिवात घातक न हो सकेगा । वृत्ति के ही शब्ददेश में जाने[1] से शब्द दिशावर्ती अनुवात प्रत्यक्ष में घातक तथा प्रतिवात सहायक होने लगेगा । इन समस्त अनुपपत्तियों के कारण वार्तिककार को सांख्यसम्मतवृत्ति का शब्दस्थल पर जाकर प्रत्यक्ष करना समीचीन नहीं जान पड़ता ।

बौद्धगण शब्द के साथ इन्द्रिय के वास्तविक सम्बन्ध के बिना ही प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं । ऐसा मानने पर तो दूर तथा व्यवहित शब्दों में भी प्रत्यक्षत्व प्रसक्त होगा । साथ ही, दूरस्थ तथा निकटस्थ शब्दों का ग्रहण तथा अग्रहण भी समानरूपेण होने लगेगा क्योंकि दोनों ही पक्षों में विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष का नितान्त अभाव है । विषयेन्द्रिय सम्बन्ध के अभाव में तो शब्द में स्वाभाविक उपलब्ध तीव्रत्व तथा मन्दत्व का अन्तरज्ञान भी अनुपपन्न हो जायगा क्योंकि श्रोत्र के साथ दूर का सम्बन्ध होने पर ही शब्द में मन्दता तथा समीप का सम्बन्ध होने पर ही शब्द[2] में मन्दता तथा समीप का सम्बन्ध होने से ही तीव्रता की प्रतीति होती है ।

इन समस्त मतों का निराकरण कर वार्तिककार स्वमतपुष्टि हेतु तर्क देते हैं । शाबरभाष्य में बतलाया गया है कि जब कोई व्यक्ति बोलता है तो

---

१. शब्दनित्यत्वाधिकरणम् ।

- श्लो० वा० ११३-११६

२. येषां त्वप्राप्य स्वार्थं शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते ।।
तेषामप्राप्तितुल्यत्वं दूरव्यवहितादिषु ।
तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे ।।
स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः ।
तस्माच्छ्रोत्रेऽभिदृष्टापि कल्पनेयं परीक्ष्यताम् ।।

- श्लो० वा० श० नि० अ० ११६-१२१

शरीर (कोष्ठ) की वायु प्रयत्न के अभिघात से मुख के बाहर निकलती है । उक्त अभिहत वायु द्वारा ही शब्दाभिव्यक्ति होती है जिसमें वायु को तालु, ओष्ठादि के संयोग तथा विभाग की अपेक्षा होती है, सर्वानुभवसिद्ध होने के कारण इस मत में अदृष्ट-कल्पना नहीं है । वक्ता के प्रयत्न से आहत वायु के आरम्भिक वेग के कारण ही सीमित दिशा तक ही शब्दश्रवण होता है । कोष्ठ का वायु प्रयत्न से आहत होकर जब आगे बढ़ता है तो तद्देश में स्थित `स्तिमित` अर्थात् स्थिर वायुओं से प्रतिहत होने के कारण सभी दिशाओं में संयोग तथा विभाग उत्पन्न करता है । इनमें जबतक वेग रहता है ये आगे बढ़ते चले जाते हैं । वायु के नेत्रेन्द्रिय से अप्रत्यक्ष होने के कारण ही वायु में उत्पन्न होने वाले संयोग तथा विभाग भी उपलब्ध नहीं होते हैं । जबतक यह संयोग तथा विभागरूप कम्पन होता रहता है तभी तक शब्द भी उपलब्ध होता है । कम्पन के उपरत हो जाने पर शब्द की उपलब्धि नहीं होती है[1] । यही कारण है कि अनुकूल वायु रहने पर शब्द बहुत दूर तक सुनाई पड़ता है । वार्तिककार कुमारिलभट्ट ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए[2] शब्दप्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विषय में बतलाया है कि यही वायु श्रोत्र में शब्द को सुनने की शक्ति का आधान करता है । श्रोत्र में `श्रवणशक्ति` की कल्पना करना असङ्गत नहीं क्योंकि श्रोत्रविवर के रहने पर भी बधिरों को शब्द की उपलब्धि नहीं होती है । यह शक्ति श्रोत्र में संस्कार उत्पन्न करती है और विभिन्न ध्वनियों के कारण ही संस्कारों में भी विभिन्नता होती है जिसके कारण ही विभिन्न ध्वनियों

---

१. अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्पादयन्ति । यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते । ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् संयोगविभागा नोपलभ्यन्ते । अनुवर्तमानेषु तेषु शब्द उपलभ्यते, नोपरतेषु । अतो न दोषः । अतएव वायुवाते दूरादुपलभ्यते शब्दः ।

— शा० भा०, पृ० ६७

२. शब्दनित्यत्वाधिकरणम् ।

— श्लो० भा०, पृ० १२२-१२३

का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। इसीलिए कारण, प्रत्येक ध्वनि में संस्कारजनन की शक्ति की कल्पना की जाती है। ध्वनि से श्रोत्र में संस्कार वाला यह पक्ष लोकप्रतीति के अनुकूल भी है क्योंकि कुड्यादि व्यवधान शब्दश्रवण में बाधक होते हैं। कुछ दूर तक दूरी के तारतम्य से मन्द तथा तीव्र शब्दों का श्रवण होता है एवं कुछ अतिदूर के शब्द का श्रवण हो ही नहीं पाता। अन्य सिद्धान्तों में प्राप्त कठिनाइयों का समाधान भाट्ट मत में हो जाता है क्योंकि श्रोत्र से अधिकृत होने पर भी तीव्रगामी होने पर वायु का प्रतिरोध असिद्ध है एवं वायु की 'वेगसम्पत्ति' अर्थात् वेग नामक संस्कारस्वरूप धर्म तथा 'आत्मसम्पत्ति' अर्थात् आत्मस्वरूप स्वकीय स्थितिकाल-- ये दोनों ही क्रमशः सहिष्णु हैं। वेग की तीव्रता तथा मन्दता के अनुसार एक ही शब्द कुछ लोगों को तीव्र सुनायी पड़ता है, उससे दूर कुछ को मन्द अर्थात् अस्पष्ट सुनायी पड़ता है। अतिदूर जाकर वायु 'आत्मसम्पत्ति' अर्थात् अपनी सत्ता को खो देती है अतः अत्यन्त दूर के लोग उसी शब्द को बिल्कुल ही नहीं सुन पाते हैं।[1]

इस प्रकार, वेदान्तपरिभाषा ने श्रोत्रेन्द्रिय का विषयदेश पर जाना स्वीकार किया है तो श्लोकवार्तिक ने शब्द का ही श्रोत्रेन्द्रियदेश पर आगमन स्वीकार किया है। इस विषय में दोनों की ही प्रक्रिया पूर्वविवेचित है।

२.४.५. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष --

अधिकांश भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं जिसे 'सन्निकर्ष' कहा जाता है। बाह्य प्रत्यक्ष में बाह्येन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्ष तथा अन्तःप्रत्यक्ष में अन्तरिन्द्रिय के साथ आत्मा अथवा आत्मगुणों का सन्निकर्ष आवश्यक माना गया है।

---

१. शब्दनित्यत्वाधिकरणम्।

-- श्लो० वा०, पृ० १२४-१३०

द्रव्य का प्रत्यक्ष द्रव्येन्द्रिय सन्निकर्ष से तथा गुण, कर्मादि का प्रत्यक्ष अपने आश्रयीभूत द्रव्य के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से होता है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की सन्निकर्ष विषयक मान्यता भी भिन्न-भिन्न है।

नैयायिकों की सन्निकर्ष विषयक मान्यता--

प्राच्य नैयायिकों ने संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषणविशेष्यता--षड्सन्निकर्षों को स्वीकार किया था। नव्य नैयायिकों ने इन छः लौकिक सन्निकर्षों के अतिरिक्त तीन अलौकिक सन्निकर्षों-- सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा तथा योगज--को भी स्वीकार किया। नेत्रेन्द्रिय का घट-पटादि द्रव्यों के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है। किन्तु, द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण तथा कर्म के प्रत्यक्षस्थल पर 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' होता है अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य है जिसमें गुण, कर्मादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस प्रकार, इन्द्रिय तथा गुण, कर्मादि का 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' बन जाता है। गुणत्व तथा कर्मत्व जाति का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' से होता है; अर्थात् घट पटादि द्रव्य का नेत्रेन्द्रिय से संयोग होता है जिसमें रूपादि गुण समवेत होते हैं तथा उनमें रूपत्वादि जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसलिए, इन्द्रिय तथा रूपत्वादि का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेत-समवाय' हुआ। शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है और श्रोत्रेन्द्रिय कर्ण-शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश का ही नाम है जिसमें शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है अतः शब्द तथा श्रोत्र का सन्निकर्ष 'समवाय' है तथा शब्द में समवेत 'शब्दत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। उस शब्दत्व जाति का श्रोत्रेन्द्रिय के साथ 'समवेत-समवाय' सन्निकर्ष है क्योंकि श्रोत्र में शब्द समवेत है तथा उसमें 'शब्दत्व' जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। न्यायवैशेषिक मत में अभाव का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। ज्ञातव्य है कि अभाव स्वाधिकरण में संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता वरन् स्वरूप सम्बन्ध से रहता है जैसे भूतल में 'घटाभाव' स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहने का यह अर्थ है कि घटाभाव भूतल का विशेषण है। भूतल में रहने वाले 'घटाभाव' का भूतल से सम्बन्ध 'विशेषणता' अथवा 'संयुक्तविशेषणता' कहा जायेगा क्योंकि भूतल इन्द्रिय-संयुक्त है और उस

भूतल का `अभाव` विशेषण है अत: भूतल का इन्द्रिय के साथ `संयुक्तविशेषणता` नामक सम्बन्ध हुआ।[1] नैयायिक समवाय का भी प्रत्यक्ष मानते हैं जबकि वैशेषिकों ने `समवाय` का प्रत्यक्ष नहीं माना है। न्याय मत में समवायविषयक सन्निकर्ष भी इसी प्रकार समझा जा सकता है। इस प्रकार द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में `चक्षु संयोग` कारण है, रूप के चाक्षुष प्रत्यक्ष में `चक्षु-संयुक्तसमवाय` कारण है तथा रूपत्व के चाक्षुष प्रत्यक्ष में `चक्षु संयुक्तसमवेतसमवाय` कारण है।

अलौकिक सन्निकर्षों[2] में से `सामान्यलक्षणा` को व्याप्तिज्ञान की सिद्धि के लिए माना जाता है। न्याय वैशेषिक मत में जब किसी भी धूम का धूमत्व विशेषण के साथ ज्ञान होता है तो धूमत्व के सामान्य होने से `धूमत्व` रूप से सकल धूमों की उपस्थिति हो जाती है जिससे व्याप्तिज्ञान सम्भव है। सामान्य से भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् समस्त धूमों की उपस्थिति हो जाने को ही `अलौकिक प्रत्यक्ष` कहा गया जिसमें `धूमत्व` सामान्य ही सन्निकर्ष बनता है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष एवं सन्निकर्ष अलौकिक है क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में बतलाए गए सन्निकर्षों के अनुसार जिस पदार्थ से इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो उसी का प्रत्यक्ष सम्भव होता है।

ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष द्वारा इन्द्रिय से द्रव्य के उस गुण का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है जिसका उस इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं होता। उदाहरणार्थ, चक्षु से चन्दनखण्ड को देखने पर उसके सुगन्धित होने का भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। चन्दनखण्ड के दूर स्थित रहने पर घ्राणेन्द्रिय से उसके सन्निकर्ष के अभाव में सुगन्ध का घ्राणज प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। सुगन्ध चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता अत: इसे चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। सुगन्धित होने के ज्ञान को स्मरणात्मक न मानकर प्रत्यक्षात्मक ही माना जाता है। नेत्रेन्द्रिय से तो सुगन्ध का सन्निकर्ष नहीं होता है अत:

---

१. द्रष्टव्य - [illegible]
२. अलौकिक सन्निकर्षों के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य `न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली`।

'सुगन्धिज्ञान' के लिए 'ज्ञानलक्षणा' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार, 'यह देवदत्त वही है जिसको मथुरा में देखा था' इस ज्ञान में 'मथुरा में देखना' भूतकालिक घटना है जिसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान 'ज्ञानलक्षणा' नामक अलौकिक सन्निकर्ष से ही सम्भव है। इसे स्मरणात्मक मानने पर तो न्याय वैशेषिक सिद्धान्त का 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का सिद्धान्त ही न बन सकेगा और 'यह वही पदार्थ है जिसको पहले मैंने देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी न हो सकेगी।

योगज सन्निकर्ष योगियों को ही होता है जिसके कारण उन्हें भूत, भविष्यत् एवं परोक्षभूत वस्तुओं का भी ज्ञान होता है। योगज सन्निकर्ष युक्त एवं युञ्जान भेद से दो प्रकार का होता है। 'युक्त' वह योगी है जिसे आकाश, परमाणु आदि निखिल पदार्थों का प्रत्यक्ष सदैव रहता है तथा 'युञ्जान' को किसी भी पदार्थ का ज्ञान उसकी चिन्ताविशेष पर प्राप्त होता है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्षयोग्य विषय के आकार की बनी अन्त:करणवृत्ति से उपहित चैतन्य के साथ योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद बतलाया है। तत्काल में वह विषय स्वाकारवृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य में कल्पित माना जाता है तथा कल्पित की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से भिन्न नहीं होती— ऐसा सभी को मान्य है। द्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष विषय में प्रत्यक्षज्ञान ब्रह्मचैतन्यरूप ही है तथा अनादि होने के कारण विषय के साथ सदा सम्बद्ध भी है, तब सन्निकर्षों की क्या आवश्यकता? ज्ञात है कि विषयाकारवृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य को विषय का प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए विषयाकार वृत्ति की आवश्यकता है तथा वृत्ति की उत्पत्ति के लिए सन्निकर्षों की आवश्यकता है। अत: चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्ति की उत्पत्ति में सन्निकर्षों का विनियोग[1] होने से उनकी मान्यता व्यर्थ नहीं है। वेदान्तपरिभाषाकार ने समवाय-सम्बन्ध

---

1. तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोग:।

— वे० प०, पृ० ५४

का खण्डन कर समवाय को तादात्म्य से भिन्न नहीं माना है । वेदान्तसम्मत सन्निकर्ष वेदान्तपरिभाषाकार को भी मान्य हैं तभी तो उन्होंने `आदीनाम्`[1] कहकर अन्य सन्निकर्षों को भी स्वीकार किया है । वेदान्तपरिभाषा की शिवदत्त-कृत अर्थदीपिका टीका में वेदान्तसम्मत सन्निकर्षों का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] शिखामणि में संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य सन्निकर्षों का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3]

(i) संयोग— घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष में घट का नेत्रेन्द्रिय के साथ संयोग आवश्यक है । (ii) संयुक्ततादात्म्य— नेत्रेन्द्रिय से संयुक्त घट में तादात्म्य-सम्बन्ध से अवस्थित रूप का प्रत्यक्ष इस सन्निकर्ष द्वारा होता है । (iii) संयुक्ताभिन्नतादात्म्य— इस सन्निकर्ष द्वारा संयुक्त घट से अभिन्न (तादात्म्य) रूप में तादात्म्य सम्बन्धा-वस्थित रूपत्व का प्रत्यक्ष होता है । (iv) तादात्म्य— शब्दप्रत्यक्ष कर्णयोग से तादात्म्य सम्बन्ध में स्थित शब्द तथा कर्णेन्द्रिय के इस सन्निकर्ष द्वारा होता है । (v) अभिन्नतादात्म्य— इस सन्निकर्ष द्वारा कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश से अभिन्न शब्द में तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित शब्दत्व का प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार, संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य, तादात्म्य तथा अभिन्नतादात्म्य आदि सन्निकर्षों का घट, घटगतरूप, रूपगत रूपत्व, शब्द तथा शब्दत्व से,अवच्छिन्न

---

१. `संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनाम्` - वे० प०, पृ० ८३

२. .... संयोग: संयुक्ततादात्म्यं संयुक्ताभिन्नतादात्म्य-[तादात्म्याभिन्न-तादात्म्य] मित्येवं रूपाणां सन्निकर्षाणां घटतद्गतरूपरूपत्वशब्दशब्दत्वा-वच्छिन्नचैतन्याभिव्यञ्जकवृत्त्युत्पादने विनियोग इत्यर्थः ।

- अर्थदीपिका, पृ० ८३

३. एवं घटादेः प्रत्यक्षत्वे सिद्धे संयोगसंयुक्ततादात्म्यसंयुक्ताभिन्नतादात्म्या-नामिन्द्रियसन्निकर्षाणामिन्द्रियस्य च - - - --- ---- - - -- विनियोगः इत्यर्थः ।

- शिखामणि, पृ० ७६

हुए चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग होता है। नैयायिकों ने विशेषणविशेष्यभावरूप सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष माना है परन्तु, वेदान्तपरिभाषाकार ने अनुपलब्धि (अभाव) को पृथक् प्रमाण माना है, सन्निकर्ष नहीं।

भाट्ट सम्प्रदाय में इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्यक् व्यापार के लिए संयोग तथा संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्षों को स्वीकार किया गया है। नेत्रादि से संयुक्त पृथिव्यादि में तादात्म्येन अवस्थित जाति, गुण, कर्मादि का ग्रहण होने पर संयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष होता है। संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध से रूपादि का ग्रहण हो जाने पर समवायादि सम्बन्धान्तर की कल्पना व्यर्थ है। गुण, कर्मादिगत तथा, रूपत्वादि धर्मों के ग्रहण स्थल पर रूपादि का द्रव्य के साथ परम्परया तादात्म्य सम्भव होने से संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष माना जाता है। जिस प्रकार रूपत्वादि के ग्रहणार्थ नैयायिक संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष मानते हैं वैसे ही 'संयुक्त-तादात्म्यतादात्म्य' नामक सन्निकर्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। जाति, गुण, तथा कर्म का स्वाश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही होता है अतः इन्द्रियों का स्वविषय के साथ दो या तीन ही सन्निकर्ष होते हैं।[1] नैयायिकसम्मत छः सन्निकर्षों में से संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धों का भाट्टाभिमत संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सम्बन्धों से कोई भेद नहीं है, केवल संज्ञाएं ही भिन्न हैं। भाट्ट शब्द को गुण के स्थान पर द्रव्य मानते हैं अतः शब्द के साथ समवायसन्निकर्ष सम्भव नहीं है। समवाय के न रहने पर समवेतसमवाय सन्निकर्ष स्वयमेव निराकृत हो जाता है। अभाव का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है और समवाय के आकाशकुसुम के समान होने पर विशेषणविशेष्य-भाव सन्निकर्ष मानने का भी कोई औचित्य नहीं। इसके अतिरिक्त, नेत्रसंयुक्तभूतलादि के साथ अभाव तथा समवाय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष सम्भव नहीं है क्योंकि 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलों पर संयोगादि सम्बन्धान्तरपूर्वक ही विशेषण-

---

1. तस्मात् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः ।

— मे० प०, पृ० १७

विशेष्यभाव देखा जाता है किन्तु अभाव तथा समवाय के साथ सम्बन्धान्तर नहीं माना जा सकता।[1] कुमारिल ने प्रत्यक्ष में `इन्द्रियव्यापार` को तो आवश्यक माना है किन्तु सन्निकर्षों का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा विशिष्ट प्रत्यक्ष के होने में इन्द्रियार्थ के योग्यसम्बन्ध की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि नेत्रेन्द्रिय द्वारा विषयगत गुणों[2] का अपरोक्ष सम्बन्ध होने पर भी गन्ध, स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं होता है। अत: स्पष्ट है कि कुमारिल ने यद्यपि सम्बन्धों का पृथक् निरूपण नहीं किया तथापि प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक इन्द्रियव्यापार के लिए सन्निकर्षों की उपयोगिता को स्पष्ट किया है। वेदान्तपरिभाषा में धर्मराज ने संयोग, संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्षों का उल्लेख करते हुए `आदीनाम्` से वेदान्तसम्मत अन्य सन्निकर्षों की ओर सङ्केत किया है। भाट्ट मत में संयोग, संयुक्ततादात्म्य अथवा संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्षों को स्वीकार किया गया है।

अलौकिक सन्निकर्षों का खण्डन :-

(क) सामान्यलक्षणा का खण्डन-

वेदान्तियों ने सामान्यलक्षणा के सिद्धान्त को अनुभवविरोधी बतलाया है। विषयप्रत्यक्ष के स्थल पर उस वर्ग (जाति) के अवर्तमान समस्त विषयों का प्रत्यक्ष सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष द्वारा मानना समीचीन नहीं क्योंकि तब तो वर्तमान विषय का भी प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का भेद ही नहीं रह जाएगा। भाट्ट मीमांसकों ने व्याप्ति-ज्ञान के लिए सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष को अनावश्यक मानकर उसका खण्डन किया है। यद्यपि वेदान्त-परिभाषा तथा श्लोकवार्तिक में इसका पृथक् खण्डन अनुपलब्ध है तथापि अन्य वेदान्तियों तथा भाट्टमीमांसकों द्वारा अलौकिक सन्निकर्षों का खण्डन किया गया है।

---

1. भा० भे०, पृ० १८-१६
2. श्लो० वा०, पृ० ४३-४५

(ख) ज्ञानलक्षणा का खण्डन :—

भाट्टमीमांसकों ने नैयायिकाभिमत ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष पर आधारित प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया है। नेत्रेन्द्रिय द्वारा रूप के अतिरिक्त सुगन्ध का कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। दूरस्थित चन्दनवृक्ष के सुगन्ध का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से उस व्यक्ति को कदापि नहीं हो सकता जिसने सुगन्धि का पूर्वानुभाव नहीं किया है। नेत्रेन्द्रिय द्वारा तो चन्दनवृक्ष के रूप, आकार का ही ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय ही गन्ध का ज्ञान कर सकती है परन्तु चन्दनवृक्ष के दूरस्थित होने के कारण घ्राणेन्द्रिय द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। चन्दनवृक्ष तथा उसकी सुगन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को सुगन्धि का ज्ञान परोक्षत: होता है। इसी प्रकार दूरस्थित अग्नि के उष्णत्व का ज्ञान भी परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं।[1]

नैयायिक स्वीकार करते हैं कि `चन्दन सुरभियुक्त है`—इस ज्ञान में चन्दन, चन्दनत्व सामान्य का संयोग सन्निकर्ष, संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से ज्ञान होता है तथा सुरभि गुण का ज्ञान अलौकिक सन्निकर्ष `ज्ञानलक्षणा` से होता है। यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में अनुभव तथा स्मृति का मिश्रण रहता है।

अद्वैत वेदान्त में भाट्ट मत की ही भाँति ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष नहीं वरन् अनुमान माना जाता है क्योंकि चन्दनखण्ड में सुरभि का ज्ञान पूर्व के सौरभ ज्ञान द्वारा होता है जैसे धूम के पूर्ववर्ती ज्ञान तथा अग्नि के साथ साहचर्य से अग्नि का ज्ञान होता है। `यदि सुरभि का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष से माना जाएगा तो धूम द्वारा अग्नि के ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व उत्पन्न होने लगेगा। अत: `चन्दन सुगन्धियुक्त है` इत्याकारक ज्ञान में चन्दनखण्ड का तो प्रत्यक्ष होता है परन्तु सौरभ ज्ञान परोक्ष है क्योंकि `सुगन्ध` चक्षुरिन्द्रिय के विषययोग्य नहीं है और

---

1. श्लो० वा०, पृ० २१२-२१३

योग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभेद ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता है।[1] सौरभ अंश में परोक्षत्व सदैव रहता है। व्यक्ति द्वारा उसी चन्दन का पहले यदि गन्ध लिया गया है तो चन्दनखण्ड को देखकर उसके सुगन्धित होने का ज्ञान 'स्मृति' कहलाएगा और यदि सुगन्धित होने का ज्ञान बिना सूँघे ही हो रहा हो तो 'चन्दनखण्डत्व' रूप लिङ्ग से होने वाला 'सौरभज्ञान' 'अनुमितिज्ञान' कहलाएगा। इस प्रकार दोनों ही अंशों में सौरभज्ञान परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं।

वेदान्त तथा भाट्ट मीमांसा, दोनों ही मतों में ज्ञानलक्षणा अलौकिक सन्निकर्ष का निराकरण किया गया है। दोनों ने ही 'चन्दन सुगन्धियुक्त है' में सौरभज्ञान को परोक्ष माना है, प्रत्यक्ष नहीं।

(ग) योगज प्रत्यक्ष का खण्डन :—

कुमारिल द्वारा योगज प्रत्यक्ष का खण्डन इस बात की पुष्टि करता है कि भाट्ट मीमांसा में योगज सन्निकर्ष को अस्वीकार किया गया है। चार्वाक वेदान्त तथा मीमांसकों के अतिरिक्त प्रायः समस्त दार्शनिक योगज प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। भावनाप्रकर्ष से अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित विषयों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान योगियों को होता है।[2] परन्तु, यह लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। योगियों को अवर्तमान विषयों का होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को सत्सम्प्रयोगज तथा विद्यमानोपलम्भक होना आवश्यक है।[3] ठीक उसी प्रकार जैसे अभिलाषित वस्तु की बारम्बार स्मृति होने पर

---

1. सुरभि चन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशेऽपरोक्षम्, सौरभांशे परोक्षम्, सौरभस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात्।
   — वे० प०, पृ० ६१
2. अतीतानागतेऽप्यर्थे सूक्ष्मे व्यवहितेऽपि च।
   प्रत्यक्षं योगिनामिष्टं कैश्चिन्मुक्तात्मनामपि ।। — श्लो० वा०, पृ० २६
3. विद्यमानोपलम्भत्वमपीदं तत्र तान् प्रति।
   भविष्यत्त्वात् वा तेषोऽवस्थाप्राक्त्वं व्यभिचारिता ।। — वही २७

भी अतीतविषयक होने के कारण योगियों के मत से भी प्रत्यक्षरूप नहीं होती ।[1] जिस प्रकार 'प्रातिभज्ञान' को जनसाधारण प्रत्यक्ष या अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते उसी प्रकार योगिज्ञान की प्रसिद्धि लोक में प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण के रूप में नहीं है अत: योगिज्ञान न तो प्रत्यक्ष है और न कोई अन्य प्रमाण । योगिज्ञान तथा प्रातिभज्ञान इन दोनों में से किसी के भी सत्सम्प्रयोगज न होने के कारण दोनों में प्रत्यक्षता नहीं है। वार्तिककार को योगज प्रत्यक्ष ही अभीष्ट नहीं है तो उसके लिए आवश्यक योगज सन्निकर्ष की क्या आवश्यकता ।

ब्रह्म की एकमात्र सत्ता में विश्वास रखने वाले वेदान्तियों ने भी योगज प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया है ।[2] वेदान्तपरिभाषा में इसका पृथक् उल्लेख अप्राप्त है ।

लौकिक सन्निकर्षों की स्वीकृति तथा अलौकिक सन्निकर्षों की अस्वीकृति वेदान्तियों तथा भाट्टमीमांसकों का साम्य दर्शाती है जो नैयायिकों से नितान्त भिन्न है । जहाँ वेदान्तियों तथा भाट्टमीमांसकों को अलौकिक सन्निकर्ष अमान्य है वहीं नैयायिक लौकिक तथा अलौकिक सन्निकर्षों को स्वीकार कर प्रत्यक्ष के लौकिक तथा अलौकिक भेद को मानते हैं ।

---

१. देशान्तरवर्तमानेऽर्थे वा नाक्षोत्पद्यते मतिः ।
प्रत्यक्षं वा तदस्त्येव नाभिलाषस्मृतादिवत् ।।
— श्लो० वा०, पृ० ३०

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० २८४

२.५ (ग) प्रत्यक्ष के भेद

आचार्य कुमारिल भट्ट 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'—प्रत्यक्ष के दो भेद स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना गया है जबकि वैयाकरण सविकल्पक प्रत्यक्षमात्र को ही मान्यता देते हैं। वेदान्त-परिभाषा में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष को भी द्विविध माना गया है किन्तु भाट्ट मीमांसकों से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में इसकी पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज ने ज्ञान का प्रत्यक्ष तो माना ही है साथ ही विषय का भी प्रत्यक्ष माना है। इस प्रकार ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। वेदान्तपरिभाषा में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद— जीवसाक्षी प्रत्यक्ष तथा ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष भी प्राप्त होता है। प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष को इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य भी बतलाया गया है।

२.५.१ निर्विकल्पक तथा सविकल्पक —

कुमारिल ने निर्विकल्पक ज्ञान को शुद्धवस्तुविषयक बतलाया है। शुद्ध वस्तु से उत्पन्न प्राथमिक आलोचना ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं जो बालक अथवा मूक व्यक्ति के ज्ञान के सदृश होता है।[१] इस ज्ञान में उस समय 'विशेष' अर्थात् जिससे समान व्यक्तियों में भिन्नत्व प्रतीत होता है तथा 'सामान्य'—जिससे विभिन्न व्यक्तियों में एकाकारता की प्रतीति होती है — कोई भी भासित नहीं होता है। अर्थात् 'सामान्य' तथा 'विशेष' इन दोनों में से कोई भी निर्विकल्पक ज्ञान में भासित नहीं होता है। इन दोनों के आधारभूत व्यक्ति का ही ज्ञान होता

---

१. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥

— श्लो० वा०, पृ० ११२

है।[1] इस प्रकार, भाट्ट मीमांसकों ने माना है कि प्रथम इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर ही सामान्य, विशेष के विभाग से रहित सम्मुग्ध वस्तुमात्र गोचरज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है।

बौद्धों ने जात्यादिसम्बन्ध से रहित तथा भ्रम से भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हुए निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना है क्योंकि सविकल्पक में जाति का सम्बन्ध रहता है जबकि निर्विकल्पक में जात्यादि का सम्बन्ध नहीं रहता है अत: निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, सविकल्पक नहीं। कुमारिल ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार 'निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष होता है' यह नियम नहीं है। सविकल्पक भी इन्द्रियव्यापार के रहते हुए ही उत्पन्न होता है अत: यह भी प्रत्यक्ष होगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने के कारण सविकल्पक की प्रत्यक्षता भी सिद्ध है।[2]

बौद्धों के विपरीत वैयाकरणों ने सविकल्पकमात्र को ही प्रत्यक्ष माना है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार — ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का अनुगम नहीं है। समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है। सभी ज्ञानों में शब्दरूप विशेषण का भाव होने से, सभी ज्ञानों में विशेषणता एवं विशेष्यता का भान होने से कोई भी ज्ञान निर्विकल्पक नहीं हो सकता है क्योंकि निर्विकल्पक में विशेषणता तथा विशेष्यता का अवगाहन ही नहीं होता है। इस प्रकार, सभी ज्ञान सविकल्पक हैं, निर्विकल्पक नहीं।[3] वैयाकरणों का यह मत भी खण्डनीय है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान

---

१. न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ॥ — श्लो० वा०, पृ० ११३

२. प्रत्यक्षाग्रहणं यत्तु लिङ्गादेरविकल्पनात्।
सम्बद्धत्वात् विकल्पस्याप्यक्षोपकारिणः ॥ — श्लो० वा०, पृ० १११

३. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
— वा० प० (का० १२४) पृ० २०८

से पूर्व ही शुद्ध वस्तु को विषय करने वाला, इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में व्यावृत्ति तथा अनुवृत्ति का बोध नहीं होता केवल व्यक्तिमात्र का ही बोध होता है। यह ज्ञान बालक या मूक के ज्ञान की भाँति होता है। निर्विकल्पक में सामान्य तथा विशेष का स्वरूप तो प्रकाशित होता है किन्तु 'यह सामान्य है' तथा 'यह विशेष है' - इस रूप से कभी भी ज्ञान नहीं हो पाता है।[1]

बौद्ध दार्शनिक निर्विकल्पक का विषय केवल स्वलक्षणरूप विशेष वस्तु को मानते हैं जबकि न्याय-वैशेषिक सामान्य तथा विशेष सभी प्रकार के पदार्थ को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय मानते हैं। कुमारिल के मत में न सामान्य महान् सत्ता आदि विषय है तथा न विशेष ही विषय है वरन् सम्मुग्धाकार वस्तु ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है। न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धों के निर्विकल्पक की अपेक्षा कुमारिल के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यह विशिष्टता है कि कुमारिल निर्विकल्पक ज्ञान से व्यवहार भी मानते हैं। उनके अनुसार, पक्षियों तथा बालकों का समस्त व्यवहार निर्विकल्पक ज्ञान से ही होता है। यह प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान है जिसके बाद ही सविकल्पक ज्ञान होता है।

निर्विकल्पक ज्ञान के लक्षण के विषय में वेदान्त का अन्य शास्त्रों से विशेष मतभेद नहीं है किन्तु निर्विकल्पक से होने वाले अर्थावबोध के विषय में अन्य समस्त मतों से वेदान्त की भिन्नता है। वेदान्तियों का यह निर्विकल्पक तादात्म्य का ज्ञान है जो अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा अमूर्त है। सविकल्पक के विपरीत निर्विकल्पक में संसर्गरहित ज्ञान होता है। जैसे -- 'यह वही

---

1. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिसदृशं विज्ञानं शुद्धवस्तुजम् ॥
- श्लो० वा० पृ० ११२

न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ॥
- वही . ११३

देवदत्त है' अथवा 'तुम वही हो'।[1] 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' का अर्थ है तत्काल विशिष्ट एवं तत्स्थानविशिष्ट तथा 'अयं' का अर्थ है वर्तमानकाल-विशिष्ट तथा वर्तमानदेशविशिष्ट देवदत्त। इस स्थल पर अतीतकाल तथा अतीतदेश से विशिष्ट देवदत्त वर्तमानकालविशिष्ट तथा वर्तमानदेशविशिष्ट देवदत्त से अभिन्न है— यदि ऐसा बोध होता तब तो इसे सविकल्पक ज्ञान माना जा सकता था, किन्तु यहाँ पर बिना विशेषण सम्बन्ध का ज्ञान होता है, अर्थात् केवल देवदत्तमात्र की ही प्रतीति होती है किसी विशेषण से विशिष्ट देवदत्त की नहीं। इसी प्रकार, 'तत्त्वमसि' में भी केवल चैतन्यमात्र का ही बोध होता है। यहाँ तत् का अर्थ परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व से विशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' का अर्थ अल्पज्ञत्व से विशिष्ट चैतन्य है। अधिकांश वेदान्त-दार्शनिकों ने इन दोनों विरुद्धांशों का परिहार भागत्यागलक्षणा से किया है। भागत्यागलक्षणा से ही विशेषणांश को छोड़कर केवल चैतन्य का बोध होना माना गया है।[2] किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज महावाक्यों में भागत्यागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) की गति नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का शक्यार्थ 'चैतन्य' इस ज्ञान का विषय होता है। उस वाक्य से अन्तःकरण की वृत्ति बनती है अतएव उभय चैतन्य तथा वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है। इस अभेद के कारण ही 'तत्त्वमसि' ज्ञान का निर्विकल्पक प्रत्यक्षत्व होता है। 'तत्त्वमसि' सुनने पर सर्वज्ञत्व, किञ्चिज्ज्ञत्व— अणुत्व, महत्त्व इत्यादि से विशिष्ट वस्तु का अभेद है— यह ज्ञान नहीं होता क्योंकि दोनों विरुद्धांश हैं। चैतन्यमात्र का ही ज्ञान होता है। अतः यह भी निर्विकल्पक ज्ञान हुआ। प्रत्यक्ष का विषय तादात्म्य ही है। यदि यह कहें कि यहाँ 'यह' तथा 'वह' का सम्बन्ध उद्देश्य नहीं है वरन् अखण्डार्थबोध ही प्रयोजन है तो अत्युक्ति नहीं। इस पर, यदि पूर्वपक्षी यह शंका करें कि 'सोऽयं

---

१. निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा – सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसी-त्यादिवाक्यजन्यज्ञानम्।

– वे० प०, पृ० ८६

२. द्रष्टव्य 'वेदान्तसारः'।

देवदत्त:' तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि तो वाक्यजन्य ज्ञान होने से शाब्द हैं, प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को कहते हैं - तो यह सङ्गत नहीं है। क्योंकि ज्ञान के प्रत्यक्ष में इन्द्रियजन्यता प्रयोजक नहीं है वरन् योग्यवर्तमान-विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाणचैतन्य के साथ अभिन्न होना ही प्रयोजक है।[1] अत: 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्यजन्यज्ञान से भी सन्निकृष्ट वस्तु को विषय करने के कारण अन्त:करण की वृत्ति का बाहर निकलना स्वीकार किया गया है। ऐसा मानने पर देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य तथा देवदत्ताकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से 'सोऽयं देवदत्त:' यह वाक्यजन्यज्ञान तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि भी प्रत्यक्ष ही हैं क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाता का ही विषय होने से दोनों का अभेद है ही- अत: कोई दोष नहीं है।[2] यदि कोई यह आक्षेप करे कि वाक्यजन्य ज्ञान तो उस वाक्य में स्थित प्रत्येक पदों के अर्थ के संसर्ग को विषय करता है अत: पदार्थ संसर्गावगाही होने के कारण सविकल्पक ही होगा निर्विकल्पक नहीं -- यह भी उचित नहीं है क्योंकि वाक्यजन्य ज्ञान पदार्थ संसर्ग को विषय करता है यह नियम नहीं है। यदि ऐसा होता तो अनभिमत संसर्ग भी वाक्यजन्य ज्ञान का विषय होने लगेगा। किन्तु वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व में तात्पर्यविषयत्व को ही नियामक मानना चाहिए। अर्थात् जिसमें वक्ता का तात्पर्य होता है, वही वाक्यजन्यज्ञान का विषय

---

१. न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रं दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमान-विषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम्।
- वे० प०, पृ० ८७

२. तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया बहिर्नि:सृतान्त:करणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं तत्त्वमसी-त्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयाभेदस्य सत्त्वात्।
- वे० प०, पृ० ९०

होता है ।[1]

बौद्ध मतावलम्बियों के अतिरिक्त अन्य समस्त दार्शनिक-सम्प्रदायों ने सविकल्पक प्रत्यक्ष माना है जिसके स्वरूप के विषय में भी मतभेद नहीं है । सामान्यत: यह माना जाता है कि यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर होता है । इससे पदार्थों का व्यवसायात्मक तथा निश्चयात्मक ज्ञान होता है । कुमारिल ने निर्विकल्पक के अनन्तर जात्यादि धर्मों से युक्त व्यवसायात्मक ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष माना है । सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि निर्विकल्पक के पश्चात् उसी वस्तु का (निर्विकल्पक ज्ञान से गृहीत) जाति-नामादि के साथ जिस सविकल्पक बुद्धि के द्वारा ग्रहण होता है उस सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना जाता है ।[2] इस प्रकार श्लोकवार्तिक में ज्ञान के क्रम में पहले निर्विकल्पक ज्ञान होता है तत्पश्चात् सविकल्पक ज्ञान । किन्तु, वेदान्त में यह क्रम अमान्य है । उनके अनुसार पहले सविकल्पक ज्ञान होता है तत्पश्चात् निर्विकल्पक ज्ञान होता है । वेदान्तपरिभाषा में विशेषण, विशेष्य तथा उन दोनों के संसर्ग को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक बतलाया गया है, जैसे - "मैं घट को जानता हूं ।"[3] विकल्प का अर्थ ही संसर्ग होता है और इस संसर्ग को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है । इस ज्ञान में सर्वप्रथम विशेषण तथा विशेष्य का ग्रहण होता है तत्पश्चात् विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध का भी भान

---

1. ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम् । उच्यते । वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः, किन्तु तात्पर्यविषयत्वम् । वे.प.-८-८२

2. ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ।।

- श्लो० वा०, पृ० १२०

3. तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम् ।

- वे० प०, पृ० ८६

होता है । इसी को संसर्गावगाहिज्ञान (वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान) भी कहा जाता है । इस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान होता है । यथा `घट:` इस ज्ञान में घट, घटत्व तथा इन दोनों का समवाय सम्बन्ध -- ये तीनों ही विषय हैं, इसीलिए यह सविकल्पक ज्ञान है । इसी प्रकार; `घटमहं जानामि` इस ज्ञान में भी घट रूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान का ग्रहण होने से इसे भी वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान कहते हैं । `घटमहं जानामि` घट को मैं जानता हूं अर्थात् घट ज्ञान वाला मैं हूँ — इस ज्ञान में अहं पद वाच्य आत्मा विशेष्य है और ज्ञान विशेषण होने से प्रकार है । ध्यातव्य है कि नैयायिक `घटमहं जानामि` इस ज्ञान को अनुव्यवसाय मानते हैं क्योंकि इसमें विषय के साथ ज्ञान का भी प्रत्यक्ष होता है अत: यह ज्ञान का ज्ञान है ।

अद्वैत वेदान्त निर्विकल्पक द्वारा `सोऽयं देवदत्त:` वाक्य में तादात्म्य से अखण्डार्थ बोध कराता है और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा पहले देवदत्त व्यक्ति का ज्ञान न हो जाय । इस प्रकार, अद्वैत वेदान्त में निर्विकल्पक ज्ञान के विषय में न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा से भिन्नता स्पष्ट लक्षित होती है । अद्वैत वेदान्त का यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वत: प्रत्यक्ष है जिसे प्रकाशनार्थ किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं है । इसी कारण यह शुद्ध चैतन्य का ही ग्राहक है ।

वेदान्त के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में यह आक्षेप करना कि यह ज्ञान स्मृति है, प्रत्यक्ष नहीं— असङ्गत है । यह आक्षेप निराधार है क्योंकि `सोऽयं देवदत्त:` यह वाक्य प्रत्यक्ष पर आधारित है । इसमें निहित तादात्म्य का न तो अनुमान होता है और न ही स्मरण वरन् अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्ष होता है, जैसे - देवदत्त का प्रत्यक्ष होता है । स्मरण तो तब माना जा सकता था जब इसका रूप इस प्रकार का होता— वह देखा हुआ व्यक्ति यही है जिसको परसों देखा गया था । वस्तुत: वेदान्त में अखण्डार्थबोध के लिए ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को माना गया है क्योंकि अखण्डार्थ से ही जीव-ब्रह्मैक्य प्रतिपादित होता है ।

२.५.२ जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी—

वेदान्तपरिभाषा में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का बतलाया गया है। दोनों ही स्थलों पर ज्ञान तो चैतन्यरूप एक ही है। उसी चैतन्यरूप ज्ञान का पुनः द्विविध प्रकार बतलाया गया है — जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी। जीवसाक्षी प्रत्यक्ष तथा ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष क्या है ?— यह जानने से पूर्व जीव तथा जीवसाक्षी, ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी का ज्ञान होना आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त में साक्षी का ही मुख्यरूपेण प्रतिपादन हुआ है किन्तु प्रमाणों के सन्दर्भ में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्बद्ध साक्षी का स्वरूप विवेचनीय है जिसका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

साक्षीस्वरूप-विमर्श :—

वेदान्तपरिभाषा में जीव तथा जीवसाक्षी एवं ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी के भेद को प्रदर्शित करने के लिए `विशेषण` तथा `उपाधि` को माना गया है। विशेषण उसे कहते हैं जो कार्य से सम्बद्ध हो, वर्तमान हो तथा अन्य वस्तुओं से उसका भेद प्रदर्शित करता हो जैसे —`रूपविशिष्ट घट अनित्य है`। इस उदाहरण में घट (विशेष्य) का विशेषण `रूप` है, जो घट से सम्बद्ध है, वर्तमान है तथा घट से भिन्न पटादि पदार्थों की व्यावृत्ति भी करता है। `उपाधि` वह है जो कार्यान्वयी तो नहीं होती किन्तु वर्तमान तथा व्यावर्तक होती है। इस प्रकार उपाधि की यह विशेषता है कि वह वस्तु के साथ नहीं रहती किन्तु वह उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् कर देती है। जैसे — कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न आकाश श्रोत्र है। आकाश निरवयव है तथा कर्ण शष्कुली सावयव — इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता फिर भी `कर्ण` उपाधि आकाश को महाकाश से व्यावृत्त करती है — अतएव `कर्णशष्कुली` उपाधि है तथा `रूप` विशेषण है।[1] इसी उपाधि को नैयायिकों ने परिचायक कहा है। इनके अनुसार परिचय

---

१. विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रूपविशिष्टो घटो अनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते।

कराने वाला स्वयं वहाँ विद्यमान होता है एवं समीपस्थ वस्तु का परिचय कराता है परन्तु उस वस्तु के साथ जुड़ता नहीं है।

जीवसाक्षी —

जीव एवं जीवसाक्षी का भेद अन्तःकरण द्वारा होता है क्योंकि जब अन्तःकरण विशेषण से विशिष्ट चैतन्य होता है तो वह 'जीव' कहलाता है तथा अन्तःकरण उपाधि से उपहित चैतन्य को जीवसाक्षी कहते हैं। एक ही अन्तः-करण का विशेषणत्व तथा उपाधित्व भेद से जीव तथा जीवसाक्षी का भेद हो जाता है।[1]

इस विषय में यह शङ्का की जाती है कि अन्तःकरण को उपाधि मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीवरूपी प्रमाता इन्द्रियों की सहायता से वृत्ति द्वारा विषयों का ज्ञान कर लेता है। उसे विषय के ज्ञान के लिए साक्षी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इस शङ्का के समाधानार्थ वेदान्तपरिभाषाकार कहते हैं कि अन्तःकरण अविद्या का कार्य होने से जड़ है अतः वह विषय का प्रकाशन नहीं कर पाता।[2] प्रत्येक क्षण नवीन वृत्तियों की उत्पत्ति होने से उनसे अवच्छिन्न चैतन्य भी पृथक्-पृथक् होंगे जिससे समस्त विषयों का ज्ञान सम्भव ही न हो सकेगा क्योंकि वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहेंगी। ऐसी स्थिति में क्षणिक वृत्तियों से कोई लाभ नहीं है। प्रमाता तो अन्तःकरण से अवच्छिन्न होता है अतः उसको तीनों कालों का ज्ञान करने के लिए दूसरे की सहायता चाहिये और वही सहायक 'साक्षी' है। यह 'साक्षी' ब्रह्म से अभिन्न है। इसी कारण

---

१. तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः।

— वे० प०, पृ० ९८

२. प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासक-चैतन्योपाधित्वम्।

— वे० प०, पृ० १००

से अन्तःकरण की उपाधि मानना उचित एवं आवश्यक है । इस पर यदि पूर्वपक्षी यह आक्षेप करे कि जब साक्षी ब्रह्म से अभिन्न है तब तो वह स्वयं प्रकाश तथा एक हुआ और एक मानने पर यदि एक जीव को विषय का ज्ञान हो गया तब तो सभी को विषयज्ञान हो जाएगा और इस प्रकार साक्षी की एकता मानने पर मैत्र व्यक्ति से जानी गयी वस्तु का अनुसन्धान चैत्र को होने लगेगा । इसके समाधानार्थ धर्मराज का कथन है कि प्रत्येक जीव का साक्षी भिन्न-भिन्न माना जाता है ।[1]

ईश्वरसाक्षी — जिस प्रकार अन्तःकरण से विशिष्ट जीव तथा अन्तःकरणोपहित जीवसाक्षी है उसी प्रकार मायाविशिष्ट ईश्वर तथा मायोपहित ईश्वरसाक्षी होता है ।[2] यहाँ ईश्वरसाक्षी का भेदक ‘माया’ उपाधि है जबकि जीवसाक्षी का भेदक अन्तःकरण उपाधि है । मायोपहित चैतन्यरूप ईश्वरसाक्षी एक ही है अनेक नहीं क्योंकि माया उपाधि भी एक ही है ।[3] ध्यातव्य है कि जीवसाक्षी की अन्तःकरण उपाधियाँ पृथक्-पृथक् तथा अनेक हैं, इसी कारण जीवसाक्षी भी अनेक हैं । ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ इस श्रुतिवचन में प्रयुक्त ‘मायाभिः’ बहुवचन के प्रयोग से माया को अनेक मानकर उससे उपहित ईश्वरसाक्षी को भी अनेक मानना असङ्गत है क्योंकि ‘मायाभिः’ में बहुवचन का प्रयोग ‘माया’ को बहुविध प्रतिपादित नहीं करता वरन् माया की अनेक शक्तियों का द्योतक है । व्यवहार में दृष्ट है कि अग्नि में दाहक तथा प्रकाशक आदि अनेक शक्तियाँ होती हैं उसी प्रकार माया में भी जगत् के विविध कार्यों को देखकर असंख्य शक्तियों को माना गया है ।[4] अथवा माया में सत्त्व, रज तथा तम गुण के अभिप्राय से बहुवचन प्रयुक्त है ।

---

1. अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना । एकत्वे मैत्रावगते । चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्गः । — वे० प०, पृ० १००
2. ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम् । — वे० प०, पृ० १०२
3. तच्चैकम् । तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात् । — वे० प०, पृ० १०२
4. ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषाभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया वोपपत्तेः ।

माया के एकत्व की पुष्टि अन्य श्रुतियाँ भी करती हैं। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे ४।१०) में 'माया' एकवचन में प्रयुक्त है अतः एक है। अपि च, 'अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाःसृजमानां सरूपाः ....॥) श्वे० ४।५) में 'एकां' कहकर माया के एकत्व को प्रतिपादित किया गया है। अतः मायोपहित चैतन्य भी एक ही है। वह 'ईश्वर-साक्षी' है तथा अनादि है क्योंकि उसकी उपाधि माया अनादि है तथा एक है। माया से अवच्छिन्न या विशिष्ट को परमेश्वर कहते हैं। वह परमेश्वर माया के गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नाम से जाना जाता है। माया के सत्त्व, रज तथा तम— इन तीन गुणों के आधार पर परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर आदि रूपों में प्रकट होता है।[1]

ईश्वरसाक्षी अनादि है किन्तु ईक्षण आदि को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति के सादि होने के कारण उससे उपहित चैतन्य के भी सादि होने की शंका उत्पन्न होती है। किन्तु, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि माया में सादित्व उपाधि के कारण ही है वस्तुतः नहीं। माया तो स्वरूपतः अनादि है अतः ईश्वरसाक्षी भी अनादि हुआ। इसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति भी सादि

---

१. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वे० ४।१० 'अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाःसृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वे० ४।५..... इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु एकवचनेन लाघवानुगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्चीयते। ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि तच्चानादि तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात्। मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वमुपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः स च परमेश्वर एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठसत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वर इत्यादिशब्दवाच्यतां लभते।

— वे० प०, पृ० १०६

है किन्तु यह उपाधिरूप से सादि है, वस्तुत: नहीं । अत: जीवसाक्षी भी अनादि और अनेक है तथा ईश्वरसाक्षी अनादि तो है किन्तु अनेक नहीं वरन् एक है । वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि जिस प्रकार विषय तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारणों से जीव के उपाधिस्वरूप अन्त:करण में विभिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार सृज्यमान प्राणियों के कर्म संस्कार के कारण परमेश्वर की उपाधिरूप माया में विशेष वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि इस समय सृष्टि करनी चाहिए, इसका पालन तथा संहार करना चाहिए । ये वृत्तियाँ सादि हैं अत: उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी सादि कहलाता है ।[1] इस प्रकार साक्षी के द्विविध होने से प्रत्यक्षज्ञान भी द्विविध हुआ ।

२.५.२. ज्ञेयगत तथा ज्ञप्तिगत--

विषयगत तथा ज्ञानगत प्रत्यक्ष का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है अत: उसके पुनर्कथन की आवश्यकता नहीं है । इनमें से ज्ञानगत प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण 'चैतन्य' ही है[2] और वह चैतन्यरूप ज्ञान स्वप्रकाश है, प्रत्यक्ष स्वरूप है । केवल प्रत्यक्षज्ञानस्थल पर ही 'ज्ञान' को प्रत्यक्ष माना गया है-- ऐसी बात

---

१. नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।१) इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यानन्तरोक्तेक्षणाद्युच्यमानं कथमुपपद्यते ? उच्यते । यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्त:करणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते । तासां च वृत्तीनां सादित्वात्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते । एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम् । प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम् ।

- वे० प०, पृ० १०८

२. तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चैतन्यमेव ।

- वे० प०, पृ० १०५

नहीं है । अनुमान, उपमानादि सभी स्थलों पर ज्ञान स्वांश से प्रत्यक्ष है क्योंकि वह साक्षात् है । `पर्वतो वह्निमान्` इत्यादि अनुमितिस्थल पर भी वह्न्याकार वृत्ति से उपहित चैतन्यरूप ज्ञान अपने अंश में स्वप्रकाश होने के कारण सदैव प्रत्यक्ष ही है । ज्ञानांश में सभी ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानना चाहिए । यह ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्ष का स्वरूप है जो सभी प्रमाणों में सामान्य रूप से घट सकता है किन्तु ज्ञेयगत प्रत्यक्ष का स्वरूप सभी प्रमाणों में भिन्न है इसी कारण प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाणों में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होता है । अत: विषयभेद से प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भेद माना जाता है । जहाँ पर विषय तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध के बिना ही विषयाकारवृत्ति बनती है, वहाँ पर उस ज्ञान को विषयांश में परोक्ष कह दिया जाता है और जहाँ विषयों तथा इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है उस ज्ञान को विषयांश में प्रत्यक्ष कहते हैं । स्वात्म अंश में तो सभी स्थलों पर ज्ञान प्रत्यक्ष है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है । `पर्वतो वह्निमान्` इस स्थल पर वह्नि के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के बिना ही वह्न्याकार वृत्ति बनती है अत: उसे परोक्ष कहते हैं । `अयं घट:` के प्रत्यक्ष स्थल पर `घट` के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होता है अत: घटाकार वृत्ति बनती है जिससे घटरूप विषय का प्रत्यक्ष होता है । इस कारण, `पर्वतो वह्निमान्` इत्यादि अनुमिति ज्ञान में भी वह्नि के आकार वाली अन्त:करण की वृत्ति से उपहित चैतन्य अपने अंश में स्वप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष कहलाता है ।[1]

यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि स्वप्रकाश चैतन्य को ज्ञानगत प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो `इदं रजतम्` इस भ्रमज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा । वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि भ्रमज्ञान को भी ज्ञानांश में प्रत्यक्ष मान लेना चाहिए । इस प्रकार भ्रमज्ञान भी ज्ञप्तिगत प्रत्यक्ष का उदय बन सकता

---

१. पर्वतो वह्निमानित्यादावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात् । तदंशविषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तेन ।

— वे० प०, पृ० १०८

है क्योंकि प्रत्यक्षत्व का सामान्य निर्वचन ही किया गया है। किन्तु,प्रत्यक्षप्रमा की भ्रान्तिरूप प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि जब प्रत्यक्षप्रमामात्र का लक्षण करना इष्ट हो तो[1] पूर्वोक्त ज्ञानगत प्रत्यक्ष के लक्षण में `अबाधितत्व` विशेषण लगा देना चाहिए। इस प्रकार, योग्य एवं अबाधित विषय की सत्ता का विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त न होना ही ज्ञानगत यथार्थ प्रत्यक्ष माना जा सकता है। शुक्ति रूप्यादि भ्रम का विषय संसार काल में ही बाधित हो जाता है अत: उक्त भ्रमज्ञान प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाला होने के कारण प्रमा के लक्षण की शुक्ति रूप्य भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं हुई[2]। ज्ञानगत प्रत्यक्ष के उपर्युक्त परिष्कृत परिभाषा में `अबाधित` शब्द के सम्मिलित हो जाने पर भ्रमज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा की कोटि में नहीं लाया जा सकता क्योंकि उसका बाध हो जाता है।

यद्यपि वेदान्त मत में `अयं घट:` इस व्यवहार में ब्रह्मभिन्न सकल प्रपञ्च के मिथ्या होने से घटज्ञान भी बाधित है तथापि वेदान्त यह मानता है कि व्यवहार दशा में घटादि का बाध नहीं होता है वरन् पारमार्थिक दशा में बाध होता है। प्रातिभासिक रजत आदि का व्यवहार दशा में बाध होता है अत: अबाधित विशेषण के प्रभाव से रजत आदि ही प्रबाधित होंगे और वे प्रत्यक्ष

---

१. तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षे नातिव्याप्तिः, प्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वसामान्य-निर्वचने तस्यापि लक्ष्यत्वात्। यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं तदापूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम्।

— वे० प०, पृ० १०६-१११

२. शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिभासिकरजतादि-विषयकत्वेनोक्तलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिः।

— वे० प०, पृ० १११

प्रमा की कोटि में न आ सकेंगे । घट-ज्ञान व्यावहारिक दशा में अबाधित होने से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है ।

२.५.४ इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य—

वेदान्तपरिभाषाकार ने उक्त प्रत्यक्ष का प्रकारान्तर से दो भेद किया है—इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य । सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं है क्योंकि वेदान्तपरिभाषाकार ने 'मन' को इन्द्रिय नहीं माना है।[१] भाट्ट-मत में ज्ञानजनक छः इन्द्रियाँ स्वीकृत हैं जबकि वेदान्तपरिभाषा में ज्ञानजनक पाँच ही इन्द्रियों को स्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार, श्लोकवार्तिक में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष के दो भेद किए गए हैं जबकि वेदान्तपरिभाषा में निर्विकल्पक-सविकल्पक के अतिरिक्त जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी भेद से पुनः प्रत्यक्ष को द्विविध बतलाया गया है । वेदान्तपरिभाषा में विषयगत तथा ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निरूपण तो मिलता ही है साथ ही इन्द्रियाजन्य तथा इन्द्रियजन्य रूप से भी प्रत्यक्ष का भेद किया गया है ।

---

१. उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्, इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति । तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षम्, मनस इन्द्रियत्वनिराकरणात् ।

— वे० प०, पृ० ९५

तृतीय अध्याय

अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण

वेदान्त तथा मीमांसा—दोनों ही दर्शनों में अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है। न्याय-दर्शन में तो समस्त प्रमाणों में अनुमान का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। कुछ दार्शनिकों ने नैयायिकसम्मत अनुमान प्रमाण को बिना विचार-विमर्श किए ही स्वीकार कर लिया है। `अनु` उपसर्गपूर्वक √मा धातु से `अनुमान` की निष्पत्ति होती है। `अनु` का अर्थ है `पश्चात्` तथा `मान` का अर्थ है `ज्ञान`। `अनु` उपसर्गपूर्वक √मा धातु से भाव अर्थ में अथवा करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर यह `अनुमान` शब्द सिद्ध होता है। भाव अर्थ में `अनुमीयते इति अनुमानम्` या `अनुमिति: अनुमानम्` इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा का बोधक है तथा `अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्` इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा के करण का बोध कराता है। `अनुमितिकरणमनुमानम्` अनुमान का यह लक्षण सामान्यत: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में मान्य है किन्तु अनुमिति प्रमा के स्वरूप तथा उसके करण के विषय में दार्शनिकों में मतभिन्न्य पाया जाता है।

३.१ लक्षण तथा स्वरूप :—

वेदान्तदर्शन में अनुमान का क्रमबद्ध विवरण वेदान्तपरिभाषा तथा उसकी टीकाओं में प्राप्त होता है। वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज ने `अनुमिति-करणम् अनुमानम्`[1] अर्थात् अनुमिति के असाधारण कारण को अनुमान कहते हैं — अनुमान प्रमाण का यह सामान्य लक्षण किया है। यहाँ प्रमाण का नाम अनुमान है तथा तज्जन्य प्रमा को अनुमिति कहते हैं। अनुमान से तात्पर्य `व्याप्तिज्ञान`[2] से है क्योंकि अनुमिति का करण ही अनुमान है तथा अनुमिति का करण ही व्याप्तिज्ञान है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान ही अनुमान हुआ क्योंकि व्याप्तिज्ञान से ही

---

1. अनुमितिकरणमनुमानम्।
   — वे० प०, पृ० १६६
2. अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्........।

अनुमिति प्रमा की उत्पत्ति होती है । अनुमिति का करण तो व्याप्तिज्ञान है किन्तु यह अनुमिति है क्या ? वेदान्तपरिभाषानुसार, 'अनुमिति प्रमा व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञानजन्य होती है'[1]। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्यत्व नहीं है अत: व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान आदि को अनुमितित्व नहीं है[2]। अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान आदि यद्यपि व्याप्तिज्ञानजन्य हैं तथापि व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य नहीं हैं । इस प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य होने पर भी उनकी कारणता का अवच्छेदक व्याप्तिज्ञान नहीं होता । अनुमिति को समझने के लिए 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' पद के निवेश का कारण समझना अत्यन्त आवश्यक है । ग्रन्थकार ने 'व्याप्तिज्ञानत्व' पद का ही निवेश किया है 'व्याप्तिविषयत्व' पद का नहीं । 'यह घट है' इस घटज्ञान में घटत्व धर्म प्रकार है इसीलिए इस ज्ञान को घटत्वप्रकारक ज्ञान कहते हैं । इसी तरह 'यह व्याप्ति है' इस ज्ञान में 'व्याप्तित्व' धर्म प्रकार है अत: इसे व्याप्तित्वधर्मप्रकारक ज्ञान कहते हैं । अत: व्याप्तिज्ञानत्व का निष्कृष्ट लक्षण हुआ 'व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्व' । शिखामणिकार के शब्दों में, 'व्याप्तिज्ञानत्वेनेति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेनेत्यर्थः'। उदाहरणार्थ — 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस ज्ञान में धूम में वह्नि की व्याप्ति रहती है अत: धूम को 'वह्निव्याप्य' कहते हैं । इस व्याप्तिप्रकारक ज्ञान में व्याप्ति प्रकार (विशेषण) है । इसी व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्व धर्म से युक्त व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । यदि अनुमिति को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या न माना जाय तब तो 'यह व्याप्ति है' इस व्याप्तिविषयक ज्ञान से भी 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति होने लगेगी । अत: व्याप्तिज्ञानत्व से व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्व की विवक्षा है । जो व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न तो हुआ हो किन्तु व्याप्तिज्ञान को विषय न करता हो वही अनुमिति है ।

१, अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या ।

— वे० प०, पृ० १५६

२, व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम् ।

— वे० प०, पृ० १५७

यदि अनुमिति की परिभाषा में केवल `व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमितिः` इतना ही कहा जाता तब तो यह लक्षण व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दबोध एवं ध्वंस में भी अतिव्याप्त हो जाता क्योंकि `पर्वतो वह्निमान्` इस अनुमिति में `धूम वह्निव्याप्य है` यह व्याप्तिप्रकारक ज्ञान जिस प्रकार अनुमिति के प्रति कारण है उसी प्रकार व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों के प्रति भी कारण हो जाता क्योंकि अनुव्यवसायादि भी व्याप्तिज्ञानजन्य है। `ज्ञानं प्रति विषयस्य कारणत्वम्` अर्थात् किसी भी ज्ञान में उसका विषय कारण होता है - यह नियम है। व्याप्तिज्ञान अपने अनुव्यवसाय का विषय रूप से कारण है जबकि अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान करणरूप से कारण है। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में व्याप्तिज्ञान ही विषय होता है क्योंकि `वह्नि की व्याप्ति को मैं जानता हूँ अर्थात् मैं व्याप्तिज्ञान वाला हूँ`-- ऐसा अनुव्यवसाय होता है। किन्तु अनुमिति व्याप्तिज्ञान से जन्य होने पर भी व्याप्तिज्ञान को विषय नहीं करती, वह तो पक्ष, साध्य तथा उन दोनों के सम्बन्ध को ही विषय करती है। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होने पर भी व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में विषयत्व, स्मृति में समानविषयक अनुभवत्व, वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञानत्व, ध्वंस में प्रतियोगित्व आदि ही कारणता के अवच्छेदक हैं।[1] उनमें व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से कारणता नहीं है अतः अनुमिति के व्याप्तिज्ञानत्व से जन्य होने के कारण व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादि में इसकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। अतः व्याप्तिज्ञानत्वेन पद का लक्षण में सन्निवेश किया गया है। इसको इस प्रकार से भी समझा जा सकता है कि `यह दण्ड है`- इस ज्ञान का विषय है `दण्ड`, अतः, `दण्ड` विषयत्वेन इस ज्ञान का जनक है। यद्यपि `दण्ड` पदार्थ इंधनत्व (काष्ठत्व) धर्म से ज्वलन क्रिया में कारण होता है तथापि दण्डज्ञान का कारण `दण्डत्व` रूप धर्म से ही सम्भव है। अतः दण्ड की कारणता का अवच्छेदक धर्म `दण्डत्व` ही हुआ न कि इंधनत्वादि धर्म। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान में भी जो अनुमितिकारणता

---

१. भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ० २५

- डा० ब्रजनारायण शर्मा

है वह कारणतावच्छेदक धर्म `व्याप्तिज्ञानत्व` धर्म से ही है, न कि विषयत्व आदि धर्म से । अत: अनुमिति में कारणतावच्छेदक व्याप्तिज्ञान के होने से लक्षण अतिव्याप्त नहीं है ।

मीमांसासूत्रों के रचयिता महर्षि जैमिनि ने अनुमान का कोई लक्षण नहीं किया है । भाष्यकार शबरस्वामी ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने मीमांसादर्शन में अनुमान का लक्षण किया है । उनके अनुसार, `ज्ञात सम्बन्ध के ( ज्ञात व्याप्ति सम्बन्ध के ) सम्बन्धी एक देश दर्शन से ( लिङ्गदर्शन से )देशान्तर ( अन्य एकदेशरूप साध्य ) असन्निकृष्ट अर्थ ( असम्बद्ध विषय ) का ज्ञान ही अनुमान है ।`[1] अर्थात् दो पदार्थों के ज्ञात सम्बन्ध में से, एक के ज्ञान से, इन्द्रियों से असन्निकृष्ट दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है । भाष्यकार के इस लक्षण में दो पदार्थों में साहचर्य का ज्ञान होना, उनमें से एक का अनुमेय स्थल पर प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होना तथा द्वितीय पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षज्ञान न होना -- ये तीनों ही बातें आवश्यक हैं । मीमांसा दर्शन के विभिन्न आचार्यों ने भाष्यकार द्वारा दी गयी अनुमान की परिभाषा में `ज्ञातसम्बन्धस्य`, `एकदेशदर्शनात्` तथा `असन्निकृष्ट` शब्दों की विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं । श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल भट्ट ने ही भाष्यपटक `ज्ञातसम्बन्धस्य` पद की व्याख्या करते हुए चार पक्ष उपस्थित किए हैं-- ज्ञातसम्बन्ध से प्रमाता या एकदेशी अर्थ कहा जा सकता है । कर्मधारय समास के द्वारा केवल सम्बन्ध अर्थ किया जा सकता है और एकदेश से उसके दो अङ्ग अथवा लिङ्गलिङ्गी-समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है ।[2] कथित अनुमानलक्षण में प्रयुक्त ज्ञातसम्बन्धस्य पद का बहुव्रीहि तथा

---

१. अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि: ।
- शा० भा० पृ० ३६

२. प्रमाता ज्ञातसम्बन्ध: एकदेशस्य चोच्यते ।
कर्मधारयपक्षे वा सम्बन्धिन्येकदेशता ।।
अर्थं वा ज्ञातसम्बन्धमुक्तमर्थं पारम्पर्यात् ।
तत्रैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ।।
- श्लो० वा० अनु० २-३

कर्मधारय समासों के आधार पर चार प्रकार से विग्रह करके चार अर्थ लिए जा सकते हैं । (१) 'प्रमाता' के लिए 'ज्ञातसम्बन्धस्य' पद के प्रयुक्त होने पर तृतीयार्थ बहुव्रीहि समास द्वारा 'जिस प्रमाता के द्वारा सम्बन्ध ज्ञात है उसकी बुद्धि (ज्ञान) ही अनुमान है'[1] — यह अर्थ निष्पन्न होता है - ऐसा पार्थसारथि मिश्र जी का मत है । अर्थात्, जो प्रमाता भूयोनुभव द्वारा धूम तथा अग्नि का यह सम्बन्ध जानता है कि धूम सदैव अग्नि के साथ रहता है, वही यदि कालान्तर में पर्वत से धूम को निकलता हुआ देखता है तो उसे तुरन्त धूम तथा अग्नि के अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति का स्मरण होता है। तत्पश्चात् 'पर्वत पर अग्नि है' इस बात का उसे ज्ञान होता है। उस व्यक्ति के लिए अग्नि का यह ज्ञान ही अनुमान है क्योंकि अग्नि का सन्निकर्ष इन्द्रियों से नहीं होता है अतः यह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है । (२) यदि षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास किया जाय तो 'एकदेशी' का बोध होता है । यहाँ ज्ञातसम्बन्धस्य शब्द एकदेश का विशेषण है । महानस में धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, अतः महानस एक आधार है । पर्वत पर धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है अतः पर्वत दूसरा आधार है । प्रथम आधार को सपक्ष तथा द्वितीय को पक्ष कहते हैं । पक्ष तथा सपक्ष दोनों ही एकदेशी हैं, धूम और अग्नि एकदेश हैं । यहाँ 'एकदेशी' से 'सपक्ष' तथा 'पक्ष' दोनों ही अभिप्रेत है । इस प्रकार, पार्थसारथि मिश्र के अनुसार, सपक्षैकदेशी महानस में धूम तथा अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर उसके एकदेश धूम को पक्षैकदेशी पर्वत पर देखने पर दूसरे एकदेश अग्नि का ज्ञान होता है, यह ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है।[2]

---

१. ज्ञातसम्बन्ध इति । तृतीयार्थे बहुव्रीहि । बुद्धिसम्बन्धनियमविशेषणस्य प्रमातुः पुरुषस्य निर्देशः । येन प्रमात्रा सम्बन्धो ज्ञातः तस्य बुद्धिरिति.....।

— न्या० र०, पृ० २४६

२. यस्य ज्ञातसम्बन्धस्य सपक्षस्य महानसादेरेकदेशिनोऽग्निसम्बन्धो नियमात्मको ज्ञातः तस्य यो धूमाख्य एकदेशः तस्य पर्वतादौ दर्शनात् तस्य एकदेशान्तरेऽग्निबुद्धिरिति ।

— न्या० र०, पृ० २४६

(३) कर्मधारय समास के आधार पर `ज्ञात सम्बन्ध का एकदेश`-- यह विग्रह होगा तथा `धूम और अग्नि का नियत साहचर्य' ही यह सम्बन्ध है । सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से अपरसम्बन्धी अग्नि का ज्ञान ही अनुमान है । (४) बहुव्रीहि समास द्वारा लिङ्ग तथा लिङ्गी दोनों का ही बोध होता है । एकदेश का अर्थ लिङ्ग है तथा दूसरे एकदेश का अर्थ है लिङ्गी । समुदायी को एकदेश के रूप में भी कहा गया है । इस व्यवस्थानुसार अनुमान का लक्षण हुआ--`एकदेश` अर्थात् `समुदायी` के ज्ञान से (लिङ्ग ज्ञान-धूमदर्शन से) दूसरे समुदायी (साध्यरूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है, उसे ही अनुमान कहा जाता है।[1]

शबरस्वामी के अनुमानलक्षणघटक सूत्र में प्रयुक्त असन्निकृष्ट पद साध्य का विशेषण है । परिभाषा में इस पद को रखने का यह प्रयोजन है कि जिस रूप से अनुमान करने की इच्छा है उस रूप से अथवा उसके विपरीत रूपान्तर से अन्यप्रमाण (प्रत्यक्षादि अपर प्रमाण) के द्वारा गृहीत धर्मों की व्यावृत्ति हो जा सके क्योंकि जिस रूप से अनुमान करना है उसी रूप से यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा ज्ञान हो जाय तब तो अनुमान ही निष्फल हो जाएगा और यदि विपरीत रूप से ज्ञान होता है तब भी अनुमान निष्फल होगा ।[2] इस `असन्निकृष्ट` पद के ग्रहण से कुमारिल का सङ्केत इन दो बातों की ओर है --(१) अनुमान का विषय किसी अन्यतर प्रमाण के द्वारा पूर्व में गृहीत नहीं होना चाहिए ।(२)जिस

---

१. यल्लिङ्गलिङ्गिधर्मं तत्समुदाय एव ज्ञातसम्बन्धः, तदेकदेशः समुदायी,तस्य दर्शनात् समुदायान्तरे बुद्धिरिति समुदायिनमाधिकदेशमध्याहारिति ।
— न्या० र० पृ० २४७

२. असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र विवक्षितम् ।।
याद्रूप्येण परिच्छित्तिर्विपरीतप्रकर्षतो पि च ।
प्रसिद्धस्य प्रमाणेन हि नार्थता जायते पुनः ।।
याद्रूप्येण परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम् ।
वैपरीत्यपरिच्छिन्ने नावकाशः परस्य तु ।।
— श्लो० वा० ५६-५७

रूप में अनुमान द्वारा ज्ञात होता है उसके विपरीत रूप में भी पूर्व में ज्ञान नहीं होना चाहिए ।

उपर्युक्त अनुमानविषयक परिभाषा में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्धस्य' तथा 'असन्निकृष्ट' पदों का अर्थ प्रभाकर ने कुमारिल से भिन्न किया है । उन्होंने 'ज्ञातसम्बन्धस्य' शब्द को 'एकदेशदर्शनात्' में प्रयुक्त एकदेश का विशेषण माना है अर्थात् जिसका दूसरों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है तथा असन्निकृष्ट शब्द का अर्थ 'जिसमें स्मरण का अभिमान न हो' (स्मरणाभिमानशून्यस्य)[1] किया है क्योंकि अनुमानज्ञान अनुभवज्ञान है, स्मृति नहीं । उनके अनुसार अनुमान का लक्षण हुआ -- जिनका सम्बन्ध नियमपूर्वक ज्ञात है उनमें से एक देश के दर्शन से किसी दूसरे प्रमाण से अबाधित, दूसरे एकदेश में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है ।

अनुमानलक्षण तथा उसके स्वरूप के विषय में यह कहा जा सकता है कि वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही अनुमिति के असाधारण कारण को अनुमान माना गया है । अनुमिति के असाधारण कारण रूप अनुमान प्रमाण की पृथक्-पृथक् व्याख्या दोनों की विशेष देन है ।

३.१.१ अनुमितिकरण--

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है[2] । दार्शनिक सम्प्रदायों में अनुमिति के करण के विषय में चार मत उपलब्ध होते हैं ।
(i) लिङ्ग या लिङ्गज्ञान -- कुछ दार्शनिकों (प्राचीन नैयायिकों) ने अनुमिति का करण लिङ्ग अथवा लिङ्गज्ञान माना है । किन्तु, इस मत का खण्डन शिखामणि तथा मणिप्रभा (वेदान्तपरिभाषा की टीकाओं) दोनों में ही उपलब्ध होता है । शिखामणि ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि अयोग्यलिङ्गक अनुमिति में व्यभिचार होने के कारण यह मत युक्तिसङ्गत नहीं

---

१. 'बृहती' पृ० १०४

२. अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्....... - वे० प०, पृ० १६०

है क्योंकि जिस स्थल पर लिङ्ग का प्रत्यक्ष नहीं होता वहाँ परामर्श का व्यापार भी सम्भव नहीं है तथा व्यापार के न होने से लिङ्ग में करणता नहीं मानी जा सकती है[1] क्योंकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण ही करण कहलाता है । व्याप्ति-ज्ञान को अनुमिति के प्रति करण मानने पर कोई आपत्ति नहीं आती क्योंकि व्यापार-युक्त असाधारण कारण ही करण कहलाता है और व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही यहाँ मध्यवर्ती व्यापार है[2] । लिङ्ग को इसलिए भी करण नहीं माना जा सकता है क्योंकि धूलि पटल में धूम का भ्रम होने के पश्चात् 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति तो होती ही है । किन्तु, इस अयथार्थ अनुमिति में धूमरूप लिङ्ग का नितान्त अभाव है, अत: लिङ्ग को करण नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार, लिङ्गज्ञान भी करण नहीं हो सकता क्योंकि 'पर्वत पर धूम है' इस प्रकार का लिङ्गज्ञान होने के पश्चात् यदि किसी व्यक्ति को व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हो तो उसे 'पर्वत वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति कदापि नहीं हो सकती । अत: लिङ्गज्ञान को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता । (ii) ज्ञात-ज्ञायमान या परामृश्यमान लिङ्ग :- अनुमान के सम्बन्ध में न्यायभाष्यकार को 'ज्ञातलिङ्ग' ही अनुमिति का करण अभिप्रेत है[3] । इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए उद्योतकर ने 'अनुमीयमानलिङ्ग' तथा उदयन ने 'परामृश्यमानलिङ्ग' को स्वीकार किया है । बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों की परिभाषा से भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने ज्ञातलिङ्ग को अनुमितिकरण के रूप में माना है । वेदान्तियों के मत से ज्ञायमानलिङ्ग को भी करण नहीं माना जा सकता है क्योंकि यदि ज्ञाय-मानलिङ्ग को अनुमिति के प्रति करण माना जाय तब तो अतीत (ज्ञान)अनागत

---

1. न तावत् अनुमितौ लिङ्गं करणम्, अतीतादिलिङ्गकानुमितौ व्यभिचारात्, तत्र त्वदभिमतपरामर्शस्य व्यापारत्वासम्भवेन तस्य तत्राकारणत्वात् ।
   — त० चिन्तामणि, पृ० १८५
2. .... तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापार:.....। — वे० प०, पृ० १४०
3. 'तत्पूर्वकम्' इत्यनेन......... लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते ।
   — न्या० भा०, पृ० २९

लिङ्ग से भी अनुमिति नहीं हो सकेगी क्योंकि उसका लिङ्ग तो तत्काल में अनुपस्थित है जबकि `पर्वतो वह्निमान् भविष्यद्धूमात्` (पर्वत वह्निमान् है क्योंकि उस पर अग्रिम क्षण में ही धूम उत्पन्न होगा) आदि स्थलों में सभी को अनुमिति होती है । अतः ज्ञायमान लिङ्ग में कारणत्व ही नहीं है तो करणत्व कैसे हो सकेगा ? इसलिए यह मत भी असङ्गत है । इसी कारण वेदान्तियों ने व्याप्तिज्ञान को ही करण माना है । (iii) लिङ्ग परामर्श -- अनुमिति का करण लिङ्ग परामर्श है, नैयायिक इस मत से भी सहमत हैं । न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य में अनुमिति का करण स्पष्टरूपेण नहीं बतलाया गया है । उद्योतकर ने ही सर्वप्रथम इस विषय की ओर ध्यान दिया है जिसका अनुसरण बाद के दार्शनिकों ने किया है । `करण` शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गयी है (क) `व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्` जिसमें अवान्तर व्यापार होता है तथा (ख) `फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्` जिसमें अवान्तरव्यापार नहीं होता है । इसमें करण के अव्यवहित पश्चात् ही फल की सिद्धि हो जाती है । अनुमितिकरणविषयक मतवैभिन्न्य का कारण `करण` की उपर्युक्त वर्णित दो व्याख्यायें हैं । न्यायभाष्यकार ने करण की दोनों व्याख्याओं को ध्यान में रखकर ही अनुमान की दो परिभाषाएँ दी हैं जिनमें प्रथम परिभाषा में `लिङ्गपरामर्श` तथा `व्याप्तिज्ञान` दोनों ही को करण मानने का सङ्केत उपलब्ध होता है[1] तथा द्वितीय परिभाषा में `ज्ञात` अथवा `ज्ञायमानलिङ्ग` ही करण के रूप में निर्दिष्ट है । उद्योतकर ने भी करणविषयक तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं (१) लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान, (२) अनुस्मर्यमाण लिङ्ग तथा (३) लिङ्गपरामर्श । यद्यपि इन तीनों को ही करण माना जा सकता है तथापि लिङ्गपरामर्श के अव्यवहित पश्चात् में अनुमिति के होने से लिङ्गपरामर्श को ही करण माना जाय — यदि नैयायिक इस आधार पर लिङ्गपरामर्श को[2] ही करण मानते हैं तो यह उचित नहीं - ऐसा वेदान्तपरिभाषाकार का मत है । ध्यातव्य है कि न्यायमत में ज्ञात

---

१. `तत्पूर्वकम्` इत्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते ।
— न्या० भा० पृ० २९

२. न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम् । — वे० प०, पृ० १६०

धूम तथा वह्नि की व्याप्ति में धूम का जो ज्ञान होता है वह प्रथम लिङ्गज्ञान है। तत्पश्चात् पर्वत पर धूम का दर्शन होना द्वितीय लिङ्गज्ञान है। इसके पश्चात्, 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' इत्याकारक ज्ञान होता है जिसमें भी धूम विषय है और धूम (लिङ्ग) का यह तृतीय ज्ञान ही परामर्श कहलाता है। इसी के अव्यवहित पश्चात् ही 'पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमिति होती है। नैयायिक इस तृतीय लिङ्ग परामर्श को अनुमिति का करण मानते हैं। वेदान्त-परिभाषाकार ने नैयायिकों के इस मत की आलोचना इस प्रकार की है कि तृतीय लिङ्गपरामर्श अनुमितिकरण नहीं है क्योंकि उसमें अनुमिति का कारणत्व ही असिद्ध है। अतः असाधारण कारणरूप करणत्व तो दूर से ही निरस्त हो जाता है।[1] न्यायमत में अनुमान का क्रम इस प्रकार है —

(१) पक्षधर्मताज्ञान — पर्वत धूमवान् है (पक्ष पर हेतु का होना)

(२) व्याप्तिस्मरण — जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि भी रहती है (अर्थात् धूम वह्निव्याप्य है)

(३) लिङ्गपरामर्श — व्याप्तिविशिष्ट धूम पर्वत पर है।

(४) अनुमिति — पर्वत वह्निमान् है।

इस प्रकार लिङ्गपरामर्श के अव्यवहित उत्तरकाल में ही अनुमिति होती है किन्तु वेदान्तमत में अनुमितिक्रिया का क्रम भिन्न है —

(१) पक्षधर्मताज्ञान — पर्वत धूमवान् है।

(२) व्याप्तिज्ञान के संस्कार का उद्बोध — धूम वह्निव्याप्य है। इस अनुभव से व्याप्तिज्ञान के संस्कार का उद्बोध होना।

---

१. तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धयातत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्।
— वे० प० पृ० १६२

(२) अनुमितिज्ञान — पर्वत वह्निमान् है ।[1]

इस प्रकार पक्षधर्मताज्ञान से महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता है जिससे व्याप्ति का स्मरण होते ही अनुमिति होती है । पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध नहीं होता तो अनुमिति नहीं हो सकती । अतः संस्कारोद्बोधन से व्याप्तिस्मरण होने पर अनुमिति होती है तथा संस्कारोद्बोधन के अभाव में अनुमिति नहीं होती है । इससे सिद्ध हुआ कि अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है परामर्श नहीं क्योंकि परामर्श के बिना ही पक्षधर्मता का ज्ञान होने तथा व्याप्तिज्ञान के संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने पर व्याप्तिस्मरण होने के पश्चात् अनुमिति हो जाती है । लिङ्गपरामर्श तो वेदान्तपरिभाषासम्मत अनुमिति की प्रक्रिया में होता ही नहीं है । अतः लिङ्गपरामर्श कारण नहीं हो सकता जिससे असाधारण कारण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।[2] वेदान्तपरिभाषा में नैयायिकों का पूर्णतया खण्डन प्राप्त होता है तथा वे स्वाभिमत से व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति का करण मानते हैं । (iv) व्याप्तिज्ञान— अद्वैतवेदान्त में अनुमिति का करण 'व्याप्तिज्ञान' को तथा अवान्तर व्यापार 'व्याप्तिज्ञान के संस्कार' को माना गया है ।[3]

---

१. एवं च अयं धूमवानिति पक्षधर्मताज्ञानेन, धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवजनितसंस्कारोद्बोधे च सति, वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमवानित्यादिविशेषणविशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम् गौरवान्मानाभावाच्च ।

- वे० प० पृ० १६७

२. पक्षधर्मताज्ञानसहकारोद्बुद्धे संस्कारे व्याप्तिज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामनुमितिजनकत्वान्मुख्यजनकत्वावगमकता लघुभावितत्व परामर्शस्य तद्धेतुत्वाविवक्षा तत्करणत्वस्य दुर्निरूपत्वमित्यर्थः ।

- अर्थदीपिका, पृ० १६२

३. अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः ।

- वे० प०, पृ० १६०

मीमांसकों ने `व्याप्तिज्ञान` को कारण तथा `व्याप्तिस्मरण` को उसका व्यापार स्वीकार किया है किन्तु नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान को करण तथा परामर्श को व्यापार माना है ।[1] वेदान्त मत में हेतु के ज्ञान से महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता है तदुपरान्त व्याप्ति का स्मरण होने पर अनुमिति हो जाती है । पक्षधर्मताज्ञान होने पर भी यदि व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध न हुआ (अर्थात् व्याप्ति का स्मरण न हुआ) तो अनुमिति भी न हो सकेगी । यही बात अन्वय तथा व्यतिरेक से भी सिद्ध होती है[2] अर्थात् संस्कार उद्बुद्ध होने पर यदि व्याप्तिस्मरण हुआ तो अनुमिति होगी (अन्वय) तथा संस्कारोद्बोध के अभाव में अनुमिति भी नहीं होगी (व्यतिरेक),अत: व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण मानना उचित है । मीमांसकों ने भी व्याप्ति-ज्ञान को ही अनुमिति का करण माना है ।

३.२ अनुमान के घटक

अनुमान प्रमाण[3] के लिए व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं । साध्य तथा साधन का अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है जिससे साध्य सामान्य की सिद्धि होती है । अनुमेयस्थल पर लिङ्ग (साधन) का विद्यमान होना ही पक्षधर्मता है । `पर्वत पर धूम है `—लिङ्ग (धूम) का पक्ष (पर्वत) में होना ही पक्षधर्मता है । पर्वत पर धूम का होना ही पर्वत पर वह्नि के होने का ज्ञान कराता है । पक्षधर्मता को न मानने पर पक्ष में अग्नि का अनुमान न हो सकेगा । यदि यह माना जाय कि व्याप्तिज्ञान द्वारा पक्ष में साध्यसामान्य की सिद्धि हो जाती है तब तो अनुमान नामक प्रमाण

---

१. कारिकावली ६७

२. अर्थदीपिका, पृ० १६०

३. व्याप्तिश्च पक्षधर्मत्वमनुमाङ्गं द्वयं विदुः ।

— मा० मे०, पृ० ५८

को मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । अत: पक्षधर्मता का होना अत्यन्त आवश्यक है । पक्षधर्मताज्ञान में पक्ष, साध्य तथा हेतु निहित हैं और पक्ष, साध्य, हेतु तथा व्याप्तिज्ञान -- ये ही अनुमान की सम्पूर्ण सामग्री हैं ।

३.२.१ पक्ष --

पक्ष उसे कहते हैं जो व्याप्य (साधन) तथा व्यापक (साध्य) दोनों का अधिकरण हो । उदाहरणार्थ, 'पर्वत वह्निमान् है क्योंकि वहाँ धूम है '— यहाँ साधन धूम तथा साध्य अग्नि दोनों ही पर्वत पर रहते हैं अत: दोनों का अधिकरण पर्वत है । प्रश्न उठता है कि साधन धूम तथा साध्य अग्नि तो महानस में भी रहते हैं तो क्या महानस भी पक्ष हुआ ? नहीं। जहाँ साध्य सन्दिग्ध रूप से रहता हो उसे पक्ष कहते हैं, यह परिभाषा उक्त कठिनाई का निराकरण कर देती है । इस प्रकार, पक्ष, साधन तथा सन्दिग्ध साध्य का वह आधार है जहाँ साधन के ज्ञान से साध्य का ज्ञान होता है । साधन तो ज्ञात रहता है किन्तु साध्य का ही ज्ञान सन्दिग्ध रहता है । पर्वत पर धूम का तो प्रत्यक्ष दर्शन से ज्ञान रहता है किन्तु अग्नि का ज्ञान नहीं हुआ रहता अत: पर्वत पक्ष हुआ महानस नहीं । पक्ष को एकदेशी अथवा धर्मी भी कहते हैं क्योंकि साधन तथा साध्य-रूप दो एकदेश अथवा पक्ष (एकदेशी, धर्मी) में रहते हैं[१] । पक्ष का प्रयोग समस्त दार्शनिकों ने किया है । बौद्ध दार्शनिकों ने, जो पक्ष प्रतिपादक प्रतिज्ञावाक्य को नहीं मानते हैं, भी हेतु के पक्षधर्मत्व को स्वीकार किया है ।

३.२.२ हेतु--

द्वितीय आवश्यक पद हेतु है जिसको व्याप्य, गमक, लिङ्ग, साधन, निमित्त भी कहते हैं । अनुमान सामान्य के उदाहरण में धूम को व्याप्य कहा जाता है ; इसको गमक कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है । लिङ्ग का अर्थ है चिह्न, अत: जिस चिह्न से साध्य का बोध होता है उसे लिङ्ग कहते हैं । धूम ही अग्निज्ञान का कारण है इसलिए इसे हेतु भी कहते हैं । धूम ही

---

१. मीमांसकसम्मत अनुमानपरिभाषा में प्रयुक्त 'एकदेश' शब्द के आधार पर ।

वह साधन है जिससे अग्नि साध्य की सिद्धि होती है अतः इसे साधन कहते हैं ।

वेदान्तपरिभाषा में हेतु के लक्षण अथवा रूपों का स्पष्ट विवरण कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । न्याय-दर्शन में ही हेतु के लक्षण तथा रूपों का स्पष्ट विवेचन किया गया है । कुमारिल ने भाष्यकार शबर द्वारा दिए गए लक्षण में लिङ्ग के साथ लिङ्गी की व्याप्ति को ही `सम्बन्ध` पद से अभिप्रेत बतलाया है, जहाँ हेतु व्याप्य है तथा साध्य व्यापक तथा गम्य ।[1] अतः जिसमें साध्य की व्याप्ति रहती है उसी को हेतु कहते हैं ऐसा कुमारिल का निहितार्थ है । पार्थसारथि मिश्र, प्रभाकर, शालिकनाथ आदि ने भी इसी मत का समर्थन किया है । उपर्युक्त दार्शनिकों ने हेतुरूपों की स्पष्ट चर्चा नहीं की है । मानमेयोदय के रचयिता नारायण पण्डित ने ही न्यायसम्मत पाँच हेतुरूपों का व्यवस्थापन सद्धेतु के लिए आवश्यक माना है ।[2] व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त हेतु ही सद्धेतु है तथा इनसे रहित हेतु को असद्धेतु कहा गया है । असद्धेतु में साध्य की व्याप्ति नहीं रहती तथा वह पक्ष में भी नहीं पाया जाता है जबकि सद्धेतु में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता दोनों ही पाए जाते हैं । सद्धेतु के रूपों को न तो वेदान्तपरिभाषा में ही बतलाया गया है और न ही श्लोकवार्तिक में । भाट्ट सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानमेयोदय इस विषय में उपन्यास करता है कि हेतु में पाँच रूप (धर्म) होते हैं — (१) पक्षवृत्तित्व, (२) सपक्षवृत्तित्व, (३) विपक्षाद्व्यावृत्तित्व, (४) अबाधितविषयत्व तथा (५) असत्प्रतिपक्षत्व । अनुमान सामान्य के प्रसिद्ध उदाहरण में जिज्ञासित साध्य अग्नि है, पर्वत पक्ष है तथा पक्ष में हेतुरूप धूम का रहना ही पक्षधर्मत्व है । साध्य की सत्ता जहाँ निश्चित होती है ऐसे महानस को सपक्ष कहा जाता है, उस सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना ही सपक्षवृत्तित्व है । निश्चितसाध्याभाव वाले महाह्रदादि विपक्ष कहे जाते हैं, उस विपक्ष में हेतु की अविद्यमानता ही विपक्षाद्व्यावृत्तित्व है । जिस हेतु का साध्यरूप विषय अबाधित होता है उसमें अबाधित-

---

१. सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना ।
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ॥

- श्लो० वा० अनु० ४

२ अत्र साध्यव्याप्तिविशिष्टो: प च रूपाणि — पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्.

विषयकत्व रहता है । इसको समझने के लिए बाधितविषय का समझना आवश्यक है । `विषय` का अर्थ `साध्य` लेने पर `अबाधितसाध्य` से अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है । जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्षागमादि प्रबल प्रमाणों से बाधित हो उसे बाधितविषय कहते हैं जैसे `वह्नि अनुष्ण है कृतक होने से `-- इस अनुमान में `अनुष्णत्व` रूप साध्य का अभाव अर्थात् `उष्णत्व`, वह्निरूप पक्ष में `स्पार्श` प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । स्पार्श प्रत्यक्ष से ही अनुष्णत्वरूप साध्य बाधित हो जाता है अतः कृतकत्व हेतु सद्हेतु न होकर असद्हेतु हुआ, क्योंकि हेतु में अबाधितविषयत्व होना चाहिए । हेतु सम्बन्धी साध्य के विपरीत अर्थ के साधक हेतु को प्रतिहेतु या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं; उसका अभाव ही असत्प्रतिपक्ष है[1] । अर्थात् जिस हेतु का प्रतिपक्ष (विरोधी हेतु) विद्यमान होता है उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं । असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है अनुमान में प्रयुक्त हेतु के विरोधी हेतु की सत्ता का अभाव । `शब्द अनित्य है, नित्य धर्म उपलब्ध न होने से` तथा `शब्द नित्य है, अनित्य धर्म उपलब्ध न होने से `-- यहाँ दोनों ही हेतु तुल्यबलविरोधी हैं अतः इनमें से किसी के भी द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः हेतु को असत्प्रतिपक्षवाला होना चाहिए । धर्मी में साध्य की सन्दिग्ध, निश्चित तथा अभाववाली स्थितियों के आधार पर पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष की व्याख्या मानमेयोदय में प्राप्त होती है ।

३.२.३ <u>साध्य</u> -- साध्य ही अनुमेय है । कुमारिल का कथन है कि अनुमान का साध्य न तो केवल धर्मी है और न ही धर्म, किन्तु धर्म से विशिष्ट धर्मी ही साध्य होता है । वैशिष्ट्य से अपेक्ष केवल साध्य अथवा केवल पक्ष अनुमेय नहीं हो

---

1. तत्र सिद्धासिद्धसाध्यः पर्वतादि पक्षः, सम्बन्धत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम् । निश्चितसाध्यो महानसादिः सपक्षः, तत्र वर्तमानत्वं सपक्षे वृत्तित्वम् । निश्चितसाध्याभावो महाह्रदादिर्विपक्षः, तत्र अवर्तमानत्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिः । साध्यस्याबाधितत्वं अबाधितविषयत्वम् । प्रतिहेत्वभावो - सत्प्रतिपक्षत्वम् इति ।

- मा० मे० पृ० ४६

सकता।[१] धर्म अथवा धर्मी को पृथक्-पृथक् रूप से अथवा समष्टिरूप से अथवा उनके सम्बन्ध को अनुमेय नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्म रूप अग्नि व्याप्तिग्रहणकाल में ही सिद्ध हो जाती है तथा धर्मीरूप पर्वत भी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत हो जाता है।[२] इस प्रकार, कुमारिल ने धर्म से विशिष्ट धर्मी अर्थात् वह्नि से विशिष्ट पर्वत को ही साध्य माना है।

३.३ अनुमान के आधारभूत तत्त्व

व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान ही अनुमान के आधारभूत तत्त्व हैं। व्यभिचारशून्य हेतु तथा साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। हेतु तथा साध्य के इस नियत पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान को ही व्याप्तिज्ञान कहते हैं तथा पक्ष का हेतु के साथ सामञ्जस्य का ज्ञान ही पक्षधर्मताज्ञान है। व्याप्ति का स्मरण होने पर भी यदि पक्ष में हेतु के दर्शन का अभाव हो तो अनुमेय का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। किञ्च, पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्तिज्ञान के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'पर्वत धूमयुक्त है, वह्नि होने से'-- यहाँ पक्षधर्मता का ज्ञान तो होता है क्योंकि वह्नि पर्वतरूप पक्ष में पायी जाती है किन्तु धूम के साथ वह्नि का नियत साहचर्य नहीं प्राप्त होता है अतः सद्-अनुमान नहीं हो पाता। अतः अनुमान के लिए पक्षधर्मता का ज्ञान होना उतना ही आवश्यक है जितना व्याप्तिज्ञान आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक के भी अभाव में अनुमिति नहीं हो सकती। इन दोनों की व्याख्या से पूर्व व्याप्य-व्यापकभाव को समझना आवश्यक है।

---

१. तस्मात्धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात्नुमेयता।
न हि तास्मिन्नाद्विकेनास्ते सम्बन्धत्वनुमेयता॥

- श्लोक वा० अनु० २७

२. न धर्मिमात्रं सिद्धत्वात्, तथा धर्मी, तथोभयम्।
स्वतन्त्रं नापि सम्बन्धं वा स्यात्तस्मैवेणानुमीयते॥

- श्लो० वा० अनु० २८

३.३.१ व्याप्य एवं व्यापक—

व्याप्ति सम्बन्ध में हेतु तथा साध्य अनियतरूप से हेतु तथा साध्य हो सकते हैं अथवा नहीं ? - यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। अर्थात् हेतु तथा साध्य में से हेतु सदैव व्याप्य तथा साध्य सदैव व्यापक होता है अथवा नहीं— यह विचारणीय है। अतएव व्याप्य-व्यापकभाव को समझना अत्यन्त आवश्यक है। व्याप्ति द्वारा जिस विषय की सिद्धि की जाती है उसे व्यापक (गम्य) तथा जिस हेतु के द्वारा उसे व्याप्त किया जाता है उसे व्याप्य (गमक) कहते हैं। इस प्रकार हेतु ही सदैव व्याप्य अथवा गमक होता है तथा साध्य सदैव व्यापक अथवा गम्य। जैसे -- धूम (हेतु) से अग्नि (साध्य) की सिद्धि करने में यह दर्शनीय है कि धूम में अग्नि के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है या नहीं। धूम अग्नि के बिना कहीं नहीं प्राप्त किया जा सकता - यह ज्ञात होने पर ही, 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि भी होती है'— यह व्याप्ति बनायी जा सकती है। अत:, जिससे किसी वस्तु की सिद्धि की जाती है उसका उस वस्तु से व्यभिचारशून्य अनिवार्य संबंध होना आवश्यक है। इसके विपरीत, सिद्ध की जाने वाली वस्तु का सिद्ध हेतु के साथ अविच्छेद सम्बन्ध हो -- यह आवश्यक नहीं। यथा- अग्नि की सिद्धि करने में यह आवश्यक नहीं कि उसका धूम के साथ अविच्छेद सम्बन्ध हो ही। इस आधार पर 'जहाँ-जहाँ वह्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम भी पाया जाता है'— यह व्याप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि व्याप्ति को अविच्छेद व्यभिचारमुक्त होना चाहिए जबकि कथित उदाहरण में अग्नि धूम के अभाव में भी रह सकती है जैसे अयोगोलक में अथवा अङ्गारे में। धूम के समस्त प्रदेशों में अग्नि का पाया जाना अनिवार्य है अत: धूम में अग्नि की व्याप्ति रहती है जबकि सम्पूर्ण अग्नि प्रदेश में धूम की अनिवार्यत: प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए अग्नि में धूम की व्याप्ति नहीं हो सकती। अग्नि के निर्धूम प्रदेश में भी पाये जाने के कारण वह धूम की अपेक्षा व्यापक है अत: साध्य सदैव व्यापक होता है तथा हेतु व्याप्य। नियमत: जिसकी व्याप्ति रहती है— वह व्यापक तथा जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। व्याप्य कभी भी व्यापक के क्षेत्र से अतिक्रमणवर्ती नहीं होता किन्तु व्यापक व्याप्य के क्षेत्र से अधिक देश में भी रह सकता है।

जैमिनिकृत मीमांसासूत्र में व्याप्तिनिरूपण अप्राप्त है किन्तु भाष्यकार ने अनुमान के लक्षण में `ज्ञातसम्बन्धस्य` पद का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे व्याप्तिसिद्धान्त से अवगत थे। कुमारिल तथा प्रभाकर दोनों ने ही इस पद का अर्थ नियमरूप सम्बन्ध लिया है। कुमारिल के अनुसार, `सम्बन्ध` शब्द से लिङ्ग (हेतु) का स्वरूप धर्म का लिङ्गी के साथ व्याप्ति ही अभिप्रेत है। व्याप्य (हेतु) ही गमक (ज्ञापक) है तथा व्यापक (साध्य) ही गम्य (ज्ञाप्य) है।[1] व्याप्य तथा व्यापक की परिभाषा कुमारिल के शब्दों में इस प्रकार है -- जो जिस पदार्थ से समान अथवा न्यून देशकाल में रहे वह व्याप्य (गमक) तथा जो समान अथवा अधिक देशकाल में रहे वह व्यापक कहलाता है। व्याप्य के गृहीत हो जाने पर व्यापक का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है किन्तु व्यापक के ग्रहण होने पर व्याप्य का ग्रहण नहीं होता है।[2] इसको गोत्व तथा विषाणित्व के प्रसङ्ग से स्पष्ट किया जा सकता है। गोत्व न्यूनदेशवर्ती है अतः विषाणित्व का व्याप्य है, व्यापक नहीं। व्याप्य होने के कारण गोत्व विषाणिता की गमिका (ज्ञापिका) है अतः गोत्व (व्याप्य) के ग्रहण हो जाने से विषाणित्व का ग्रहण किया जा सकता है किन्तु विषाणित्व व्यापक होने के कारण गोत्व की गमिका (हेतु) नहीं बन सकती।[3] अर्थात्, गोत्व से विषाणित्व का अनुमान किया जा सकता है

---

१. सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना ।
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ॥ - श्लो० वा० अनु० ४

२. यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाभ्यधिकोऽपि वा ॥ - वही अनु० ५
तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ।
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः ॥ - वही अनु० ६

३. विस्पष्टं दृष्टमेतच्च गोविषाणित्वयोर्मिथो ।
व्याप्यत्वाद् गमिका गावो व्यापिका न विषाणिता ॥
- श्लो० वा० अनु० ८

क्योंकि विषाणित्व गोत्व का व्यापक है, किन्तु विषाणित्व से गोत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता है क्योंकि विषाणित्व केवल गो में ही नहीं वरन् गो-अतिरिक्त वृषादि में भी पाया जाता है।

यद्यपि वस्तुत: व्याप्य का ग्रहण कभी-कभी व्यापक के रूप में भी होता है, तथापि व्यापक के रूप में अधिकदेशकालयुक्त होना अविरुद्ध है और व्यापक के रूप में वह 'व्याप्य' नहीं हो सकता है।[1] तात्पर्य यह है कि 'घटोऽनित्य: कृतकत्वात्' इस प्रकार अनुमान करने पर 'अनित्य' व्यापक तथा 'कृतक' व्याप्य हुआ, किन्तु, 'घट: कृतक: अनित्यत्वात्' इस प्रकार अनुमान करने पर कृतक व्यापक तथा अनित्य व्याप्य हुआ। कृतकत्व तथा अनित्यत्व -- ये दोनों ही समदेश तथा समकाल में रहते हैं अत: इनमें से कोई भी एक दूसरे का व्याप्य तथा व्यापक हो सकता है। किसी एक का अधिकवृत्तिरूप से ग्रहण करना अविरुद्ध नहीं है तथापि उसके व्यापक रूप से अनुमान नहीं किया जा सकता है। कृतकत्व तथा अनित्यत्व दोनों में कोई भी एक दूसरे का व्याप्य एवं व्यापक हो सकता है किन्तु उनमें ज्ञापकता अपने व्याप्यत्व के कारण ही होती है भले ही वह व्यापक भी हो। जिन दो वस्तुओं में समानरूप से एक दूसरे की व्यापकता तथा व्याप्यता दोनों ही है ऐसे स्थलों में भी अनुमिति का प्रयोजक ज्ञाप्य (साध्य) की व्यापकता ही होगी भले ही उसमें ज्ञाप्य (साध्य) की व्याप्यता भी रहे। अत: व्याप्य के रूप में ही उस वस्तु से अनुमिति की जा सकती है।[2] अत: जिससे व्यापक का ज्ञान होता है, ऐसी समन्यूनकालकव्याप्यता पूर्व में जिस धर्मान्तर (घट से भिन्न अर्थात् महानस) में दृष्टिगत होती है (निश्चित होती है) उसी आकार का व्याप्य

---

1. व्यापकत्वगृहीतस्तु व्याप्यो यद्यपि वस्तुत: ।
   आधिक्येऽप्यविरुद्धत्वाद् व्याप्यं न प्रतिपादयेत् ।।
   - श्लो० वा० अनु० ७

2. देश कालादितुल्यौ यौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ ।
   तथापि व्याप्यतैव स्याद्गम्यं न व्यापिता मिते: ।।
   - वही अनु० ८

धर्म्यन्तर में पुन: दृष्टिगत होने पर साध्य की अनुमिति को उत्पन्न करता है ।[1]
व्यापक से व्याप्य की अनुमिति नहीं होती है ।

(क) व्याप्ति

३.३.२ व्याप्ति का लक्षण—

हेतु तथा साध्य के अविच्छेद्य सहचारज्ञान को व्याप्तिज्ञान कहते हैं । भारतीय दर्शन में व्याप्ति का स्पष्टतम सङ्केत 'वैशेषिक सूत्र' में ही प्राप्त होता है । सद्हेतु का विवेचन करते हुए महर्षि कणाद ने लिखा है कि जो हेतु साध्य से सर्वथा अभिन्न अथवा भिन्न सम्बन्धवाला होता है वह उपदेश (हेतु) नहीं हो सकता है[2] अपितु जो हेतु प्रसिद्धिपूर्वक (व्याप्तियुक्त) होता है वही सद्हेतु कहला सकता है,[3] अत: लिङ्ग का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के आधार पर ही होता है । सांख्यदर्शन में 'सांख्यसूत्र' तथा 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है । महर्षि कपिल ने सत्त्व, रज तथा तमादि गुणों को स्वरूपत: अविनश्वर सिद्ध करने के प्रसङ्ग में पञ्चावयवी अनुमान का प्रयोग किया है और अनुमान व्याप्तिज्ञान के बिना सर्वथा असम्भव है अत: 'दोनों अथवा एक का नियत धर्म साहचर्य ही व्याप्ति है'[4] — व्याप्तिलक्षण इस प्रकार दिया है । अर्थात्, साध्य के साथ, साध्य-साधन

---

१. तेन धर्म्यन्तरेऽप्येषा यस्य येन च यादृशी ।
देशे यावति काले वा व्याप्यता प्राङ्निरूपिता ॥
-श्लो० वा० अनु० १०
तस्य तावति तादृक् च दृष्टो धर्म्यन्तरे पुन: ।
व्याप्यांशो व्यापकांशस्य तथैव प्रतिपादक: ॥ - वही ११

२. अन्यदेव हेतुरित्यनपदेश: । अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेश: ।
- वै० सू० ३।१।७-८

३. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य । - वही ३।१।१४

४. सां० सू० ५। २९-३०

दोनों का अथवा साधनमात्र का जो नियतव्यभिचारशून्य साहचर्य है उसी को व्याप्ति कहा जाता है।[1] योगसूत्रों में व्याप्तिचर्चा अनुपलब्ध है, किन्तु भाष्यकार व्यास के अनुसार, 'जो अनुमेय के साथ समानजातीय पदार्थों में अनुवृत्त (युक्त) एवं भिन्नजातीय पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक् करने वाला हो) हो, उसे 'सम्बन्ध' कहा जाता है'[2]। बौद्धदर्शन में अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति बतलाया गया है। धर्मकीर्ति ने व्याप्तिलक्षण की इस प्रकार से व्याख्या की है --'कार्य स्वभावादि लिङ्गों का साध्यधर्म के अभाव में न पाया जाना ही अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति है'[3]। जैन दार्शनिक माणिक्यनन्दी ने भी अविनाभावसम्बन्ध को ही व्याप्ति माना है --'सहभावनियम तथा क्रमभाव नियम ही अविनाभाव है'[4]।

कुमारिल ने व्याप्ति को अनिवार्य सम्बन्ध के रूप में माना है जिसका आकार है 'इसके होने पर उसको अवश्य होना चाहिए।'[5] अतः अनुमान तभी सम्भव है जब व्याप्ति हो और व्याप्ति के लिए हेतु तथा साध्य में अनिवार्य सम्बन्ध का होना अत्यन्त आवश्यक है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल पर धूम तथा वह्नि का अनिवार्य सम्बन्ध है क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम पाया जाता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्यमेव पायी जाती है अतः, 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' यह व्याप्ति हुयी।

---

1. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः।
   - सां० सू० ५। २९
2. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धः।
   - योगभाष्य पृ० ११
3. कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभावः साध्यधर्मं विना न भाव इत्यर्थः।
   - न्या० टी० पृ० ८०
4. सहक्रमभाव नियमोऽविनाभावः।
   - प० मु० सू० ३।१२
5. 'अस्मिन् सत्यमुना भाव्यम्' इति व्याप्त्या निरूप्यते।
   अन्ये पक्षधर्मतायां व्याप्तीनामुपजीवकाः॥
   - श्लो० वा० अनु० १४

किन्तु, 'यत्र-यत्र वह्निः तत्र-तत्र धूमः' यह व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती क्योंकि अयोगोलक में वह्नि की स्थिति तो रहती है किन्तु धूम अनुपस्थित रहता है। कुमारिल के अतिरिक्त प्रभाकर ने भी व्याप्ति से नियमरूपमाहचर्य अर्थ लिया है।

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार, 'अशेष (सकल) साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण ही व्याप्ति है'।[1] इसी की व्याख्या अर्थदीपिकाकार ने इस प्रकार की है --साधनतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साधन के अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साधन का हेतु के समान अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है।[2] शिखामणि तथा मणिप्रभा में भी भाषागत भिन्नता के साथ यही लक्षण प्रस्तुत किया गया है। 'पर्वत वह्निमान् है धूम होने से'--इस अनुमान में अर्थदीपिकाकार का उक्त परिष्कृत लक्षण इस प्रकार घटित होगा -- साधन धूम के अवच्छेदक धर्म--धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत में रहने वाले साध्य वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से विशिष्ट वह्नि का हेतु धूम के साथ समानाधिकरण अर्थात् एकाधिकरण पर्वत में रहना ही व्याप्ति है। 'पर्वत धूमवान् है वह्नि होने से' ऐसे व्यभिचारी स्थल पर यह लक्षण अन्वित नहीं हो सकता क्योंकि साधन वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से अवच्छिन्न वह्नि का अधिकरण, पर्वत की भाँति अयोगोलक भी है और उसमें साध्यतावच्छेदक धूमत्व से अवच्छिन्न धूम की स्थिति नहीं प्राप्त होती है। वेदान्तपरिभाषा ही वेदान्त सिद्धान्त में व्याप्ति का निरूपण करने वाली रचना है अन्य वेदान्तकृतियों में पूर्वप्रचलित व्याप्ति-सम्बन्धों का खण्डन ही प्राप्त होता है, सिद्धान्त पक्ष का निर्वचन नहीं।[3]

---

१. व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रिताश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा।
- वे० प० पृ० १६६

२. .....साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्यसामानाधिकरण्यरूपेति यावत्। - अर्थदीपिका, पृ० १६६

३. द्रष्टव्य -- शिखामणि।

२.३.३ व्याप्तिग्रहण के साधन—

तार्किकों ने व्याप्तिरूप नियत सम्बन्ध के ग्रहणार्थ विभिन्न साधनों का प्रतिपादन किया है जिनमें अन्वय-व्यतिरेक-सहचार, सकृद्दर्शन, भूयोदर्शन, व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन आदि मुख्य हैं ।

कुमारिल के अनुसार व्याप्ति का ज्ञान भूयोदर्शन से होता है । महानसादि अनेक स्थलों में धूम तथा अग्नि का जब साहचर्य दर्शन होता है और यह सहचारदर्शन व्यभिचारयुक्त नहीं होता तब व्याप्ति निर्णीत होती है । पर्वत-दृष्ट धूम तथा महानसगृहीत धूम में भिन्नता पायी जाती है । किञ्च, गोष्ठादि में भी पर्वतीय धूम से भिन्न धूम का वह्नि के साथ साहचर्य गृहीत होता है, अत: प्रश्न उठता है कि किस धूम में किस वह्नि की व्याप्ति है ? कुमारिल ने बतलाया है कि `भूयोदर्शन` से धूमसामान्य में वह्निसामान्य की व्याप्ति का ही ग्रहण होता है । रंग, आकार, महानस आदि धर्मों का व्याप्ति में हास हो जाता है ।[1] व्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध साधारणतया दो सामान्यों के मध्य होता है किन्तु कहीं-कहीं विशेष व्यक्ति के साथ विशेष व्यक्ति की भी व्याप्ति का ग्रहण होता है, जैसे - कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर उस देश में रोहिणी नक्षत्र के सम्बन्ध में व्याप्ति गृहीत होती है ।[2] अत: भाट्ट मीमांसा सिद्धान्त में भूयोदर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक प्रमाण है । भाट्ट-मीमांसक पार्थसारथि मिश्र जी ने भूयोदर्शन को इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'प्रत्यक्षादि अन्यतम प्रमाणों में से लिङ्ग का लिङ्गी के साथ जो भूय: साहित्य ज्ञात होता है वही विपक्षादर्शन प्रमाणसहित

---

१. भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः ।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ॥
— श्लो० वा० अनु० १२

२. कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत् ।
— वही १३

नियत प्रमाण कहा जाता है ।[1] यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि भूयोदर्शन से स्थल विशेष में ही साहित्य अवगत होता है, सर्वत्र नहीं, क्योंकि सभी दर्शन अपने-अपने विषय में परिसमाप्त होते हैं ; सर्वत्र साहित्य का निर्णय अनन्त प्रत्यक्ष से ही साध्य हो सकता है जो किसी भी जीवधारी के लिए अशक्य है । इसी प्रकार, विपक्ष में अदर्शन द्वारा भी प्रत्यासन्न विपक्षों में ही अभाव अवगत होता है, अत: सभी विपक्षों से व्यावृत्ति होना भी दुष्कर है क्योंकि दृश्य के अदर्शन से अभाव का प्रत्यक्ष होता है, केवल अभावमात्र से नहीं । अत: भूयोदर्शन से सर्वदेशकालिक व्याप्ति-रूप नियम का अवधारण नहीं हो सकता ।[2] यह आशंका स्वयं आचार्य ने भी की है -- 'प्रत्येक व्याप्य के साथ व्यापक का सम्बन्ध दृष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनन्त प्रत्यक्षों से ही सम्भावित होता है । किन्तु, यह असम्भव है । इसी तरह सन्निहित विपक्ष में हेतु के अभाव से सभी विपक्षों में हेतु का अभाव सिद्ध नहीं होता'[3]। प्रश्न उठता है कि तब सम्बन्ध का निर्धारण कैसे होगा ? इसके समाधानार्थ

---

1. किन्तु येनैव प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेन लिङ्गस्य भूय: साहित्यं लिङ्गिना गम्यते । तदेव विपक्षादर्शनप्रमाणसहायं नियमप्रमाणं भवतीति ।
   — न्या० र० मा०, पृ० ८८
2. ननु भूयोनिदर्शनेऽपि तत्र साहित्यं गम्यते, न तु सर्वत्र । दर्शनानां सर्वेषां स्वविषयपर्यवसानात् । अनन्तप्रत्यक्षगम्योऽपि सर्वत्र सद्भाव: । स जीवकृच्छ्रदुर्लभ: । विपक्षादर्शनादपि प्रत्यासन्नेष्वेव विपक्षेषु धर्माभावो गम्यते । सर्वविपक्षव्यावृत्तिस्तु दुर्लभा । दृश्यादर्शनाभावात् । अदर्शनमात्रेण चाभावासिद्धे: । तत्कथं नियमस्य सर्वदेशकालव्याप्तिरूपस्य भूयोदर्शनगम्यत्वम् ?
3. एतच्च स्वयमेवाचार्येण शङ्कितम्
   यदाह — 'सम्बन्धो हि प्रतिव्याप्यं व्यापकस्य न दृश्यते ।
   अनन्तेन हि लभ्येत स प्रत्यक्षादिकल्पना ।' बृहट्टीका । इति।
   तथा - 'नाभावेन विपक्षादि हेत्वभाव: प्रतीयते' । बृहट्टीका । इति च ।
   — न्या० र० मा० पृ० ८८

यह युक्ति दी जाती है कि विपक्ष में अदर्शनमात्र से हेतु अपने सहचारी साध्य का गमक हो सकता है । अर्थात्, सभी विपक्षों में लिङ्ग का अभाव भले ही सिद्ध न हो, किन्तु विपक्ष में लिङ्ग का अदर्शन तो मिल जायेगा । इतने से ही दृष्ट[1] सहचारी धूम आदि अदृष्ट सहचारी अग्नि आदि का गमक हो जाता है । अपि च, यदि यह कहा जाय कि साहचर्य का दर्शन भी सर्वत्र व दुर्लभ है तो इस आरोप का उत्तर वार्त्तिककार ने स्वयं ही दिया है कि सर्वत्र सहचारदर्शन न हो किन्तु दो-तीन प्रदेशों में भी यदि सहचारदर्शन हो जाये, तो पर्याप्त है क्योंकि इतने से ही व्यभिचार के दर्शन न रहने पर अनुमान निष्पन्न हो सकता है । यदि सकल देशकाल व्याप्तिरूप नियम को अनुमान के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाता तब तो उक्त दोष हो सकता था, किन्तु, यह तो मीमांसा सिद्धान्त ही नहीं है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूमादि दृष्ट हैं, वहाँ-वहाँ अग्नि का साहित्य दर्शन एवं अग्नि के अनधिकरण में धूम का अदर्शन' यही अनुमिति की उत्पत्ति में कारण है । इतने से ही लौकिक व्यक्तियों के लिए धूम अग्नि का गमक हो जाता है । सकल सपक्षों तथा विपक्षों में अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति की अपेक्षा नहीं है, यदि उसकी अपेक्षा होती तब तो प्रमाण दुर्लभ हो जाता । अतएव, सकल देशकाल की अपेक्षा करके नियम का अभिधान नहीं है । किन्तु, दृश्यमान देश तथा काल में जो लिङ्ग का लिङ्गी के साथ साहित्य नियम है उसी को नियम कहते हैं । अतः व्यभिचारादर्शन सहकृत दृश्यमान

---

1. 'तददर्शनादृष्टिमात्रेण गमकः सहचारिणः ।' इति ।

तत्रेति — विपक्ष इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति — मा नाम सर्वविपक्षाभावो लिङ्गस्य वेदीत् । अदर्शनं तु विपक्षेषु लिङ्गस्यास्त्येव । तावता च सहचारी दृष्टो धूमादिःसहचारिणोऽग्न्यादेर्गमको भवति ।

— न्या० र० मा० पृ० ८८

दृश्यमान देशकाल में लिङ्गी के साथ लिङ्ग का भूयोदर्शन ही नियम का गमक होता है।[1] प्रश्न उठता है कि कितने साहित्य दर्शनों से अनुमान सम्पन्न होता है ? इसका उत्तर है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अमुक साहित्यदर्शन से ही अनुमान होगा। किन्तु, जिसको जितने दर्शन की अपेक्षा है अनुमिति हो जाती है उसके लिए उतने ही दर्शन पर्याप्त हैं। गणना द्वारा यह नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता कि इतने दर्शन के बाद अनुमान निष्पन्न होगा। किञ्च, जो दार्शनिक भूयोदर्शन-सहकृत प्रत्यक्ष से ही नियम का ग्रहण मानते हैं, एवं जो एक बार के दर्शन से ही नियम का ग्रहण मानते हैं तथा उपाधियों की आशङ्का के निराकरणार्थ भूयोदर्शन की सहायता अपेक्षित समझते हैं, वे भी परिगणना द्वारा यह नहीं बतलाते कि इतने बार का साहित्य (साहचर्य) दर्शन आवश्यक रूप से होना चाहिए।[2] इस प्रकार संख्या परिगणन गौणरूपेण स्वीकृत है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि अनुमान के इच्छुक व्यक्ति को सकल धूम के देश तथा काल में अग्नि का व्याप्तित्व ज्ञेय है अथवा

---

1. मा नाम सर्वत्र सहचारित्वं दर्शि। लिङ्गोस्तु भूयोभूयो सहचारित्वं दर्शनम्। तावता जायते व्यभिचारदर्शी भवत्यनुमानम्। यदि हि सकलदेशकालव्याप्ति-रूपो नियमोऽनुमानाङ्गमस्माभिरभ्युपगम्येत, ततः स्यादुपालम्भः। न त्वेव-मस्माभिरिष्यते। किन्तु, यत्र-यत्र धूमादिकं दृष्टं, तत्र तत्र सर्वत्र नियमेना-ग्न्यादि-साहित्यम्, अनग्नौ चादर्शनमित्येतावदेवानुमानोपयोगे कारणम्। एतावदेव हि लौकिकानां धूमोऽग्निं गमयति। न तु सकलजगति विपक्षान्वय-व्यतिरेकावगतिरपेक्ष्यते। येन दुर्ग्रहं प्रमाणं स्यात्। तेन न सकलदेशकालापेक्षया नियमाभिधानम्। अपि तर्हि दृश्यमानेषु देशकालेषु यो लिङ्गस्य लिङ्गि-साहित्यनियमः, स एव नियम इत्युच्यते। तस्मात्तन्मात्रेणानुमानाङ्गम्। तच्च भूयोभिरेव दर्शनैः सुलभमिति, नाप्रमाणं लिङ्गसाहित्यनियमः।
2. कियद्भिः पुनः साहित्यदर्शनैरनुमानम् ? को नामैतत्संवच्छे। यावद्भिर्दृश्यते, तावद्भिरेव। न तु संख्याय वक्तुं शक्यते। येऽपि भूयोदर्शनसहायप्रत्यक्षगम्यं नियममाहुः, येऽपि सकृद्दर्शनेऽपि गृहीते नियमे उपाध्याशङ्कानिराकरणार्थ-मपेक्षन्ते भूयोदर्शनं, तेऽपि नैवं संख्यान्ते। तथा वयमवोचाम न कश्चित्संख्यानियमः।

नहीं ? इसका उत्तर है कि इस रूप में दोष नहीं है । जब दोष नहीं है तब सामान्यतः अज्ञातसम्बन्ध पक्षैकदेशी होने से ज्ञात सम्बन्ध पद से कैसे अभिमत होगा ? इसके समाधान में कहते हैं कि ज्ञातसम्बन्ध पद से पक्षैकदेशी का अभिधान नहीं होता, किन्तु दृष्टान्तैकदेशी का ही अभिधान होता है । अतएव 'ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात्' इत्यादि भाष्य का यह अर्थ होगा -- पक्ष से अन्य महानस आदि रूप एकदेशी में, धूम तथा अग्निरूप एकदेश के साथ सम्बन्ध ज्ञात होने पर ही, उसके एकदेश धूम को, अन्यत्र पर्वतादि में अथवा उसी पाकशाला में कालान्तर में देखकर अग्नि का अनुमान होता है । लोक में भी इसी प्रकार का व्यवहार दृष्टिगत होता है । इस प्रकार सूत्रनिर्दिष्ट 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से ज्ञाता का निर्देश है, यह कहकर अथवा प्रमाता का नहीं है, किन्तु किसी प्रमेय का निर्देश है, यह कहा गया है । किस प्रमेय का निर्देश है-ऐसी जिज्ञासा होने पर दृष्टान्त एकदेश का निर्देश है - यह भी विवक्षित है । कहा भी गया है, यहाँ पर 'स वा ताभ्यां' पद, कालान्तर के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार, ज्ञात सम्बन्ध पद से एकदेशी अन्य पदार्थ रूप पक्ष में दृष्टान्त एकदेशी का अभिधान होता है ।[1] इस प्रकार भाट्टमत में भूयोदर्शन-सहकृत व्यभिचारादर्शन से ही व्याप्ति गृहीत होती है ।

---

१. किमिदानीं सकृद्धूमैकदेशदर्शनादग्निनाभिसम्बन्धमनुमिमीते ? सत्यं नावनन्तरम् । नन्वेवं सामान्यतोऽज्ञातसम्बन्धः पक्षैकदेशी कथमिव ज्ञातसम्बन्धपदेनाभिधीयते । नानेन पक्षैकदेशिनोऽभिधानम् । अपि तु दृष्टान्तैकदेशिनः । अयं भाष्यार्थः--अन्यस्मिन्नेव महानसादावेकदेशिनि धूमाग्न्योरेकदेशयोर्ज्ञातसम्बन्धे सति एकदेशं धूममन्यत्र पर्वतादौ तस्मिन्नेव वा महानसे कालान्तरे दृष्ट्वाऽग्निरनुमीयते । लोके तथा दर्शनात् । तथा च ज्ञातसम्बन्धपदेन ज्ञातुर्निर्देश इत्युक्त्वा, अथ वा न प्रमातुः । किन्तु प्रमेयस्य कस्यचिन्निर्देशः । न ज्ञातुरित्यर्थः । कस्य प्रमेयस्येत्यपेक्षायां दृष्टान्तैकदेशिन इत्युक्तम् । यथाहुः--

'एकदेशैकदेशाभ्यां कश्चिदेकत्र सङ्गतिः ।
सङ्गत्योऽन्यः स वा ताभ्यां विभागेनानुमीयते ।।' बृहट्टीकायामिति।

स वा ताभ्यामिति कालान्तराभिप्रायम् । एवं च सति ज्ञातसम्बन्धपदेनैकदेशान्यपदार्थेन दृष्टान्तैकदेशिनोऽभिधानमित्याह । -- न्या०र०मा० पृ०८८

व्याप्ति का ग्रहण किस प्रकार से होता है ? वेदान्तपरिभाषा में बतलाया गया है कि व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचारदर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है।[1] धूम तथा अग्नि के व्यभिचार का अदर्शन तथा सहचारदर्शन से ही धूम में वह्नि की व्याप्ति गृहीत होती है। ऐसा कोई भी स्थल नहीं होता जहाँ धूम पाया जाता हो किन्तु अग्नि न पाई जाती हो। व्याप्ति का यह निश्चय एक बार के सहचार दर्शन से हुआ हो अथवा अनेक बार के सहचार दर्शन से— इस विषय में कोई आग्रह नहीं है।[2] जिसका सहचार ज्ञात हुआ हो उसकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिसका सहचार ज्ञात नहीं हुआ हो उसकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान में हेतु है। अतः सहचारदर्शन में ही[3] व्याप्ति का[4] प्रयोजकत्व है भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन उसमें प्रयोजक नहीं है। चिन्तामणि, मणिप्रभा तथा अर्थदीपिका[5] में भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

वेदान्तपरिभाषा की व्याख्या तथा पार्थसारथि मिश्र की व्याख्या में समानता होते हुए केवल इतनी ही भिन्नता है कि पार्थसारथि मिश्र ने जहाँ व्यभिचार के अदर्शन के साथ-साथ भूयः सहचार दर्शन को आवश्यक माना है वहीं धर्मराजाध्वरीन्द्र ने केवल 'सहचारदर्शन' को ही प्रयोजक सिद्ध किया है। वह सहचार दर्शन चाहे एक बार हुआ हो अथवा अनेक बार; इसमें कोई विशेष आग्रह नहीं है जबकि पार्थसारथि मिश्र की बारम्बार होने वाले सहचार दर्शन को ही व्याप्ति का प्रयोजक माना है।

---

१. सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते।
— वे० प०, पृ० १५५

२. तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः।
— वे० प० पृ० १५५

३. सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।

४. चिन्तामणि, मणिप्रभा, पृ० १०४

५. अर्थदीपिका, पृ० १५५

३.३.४ व्याप्ति के भेद—

दार्शनिक ग्रन्थों में व्याप्ति के अनेक भेदों को प्रस्तुत किया गया है जिनमें अन्वय-व्यतिरेक, दैशिक-कालिक, सामान्य-विशेष, अन्तर्व्याप्ति बहिर्व्याप्ति साकल्य, सहक्रमभाव आदि हैं।

(i) अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति— जहाँ हेतु के सद्भाव में साध्य का सद्भाव नियमतः उपलब्ध हो वह अन्वय व्याप्ति तथा जहाँ साध्य के अभाव में हेतु का अभाव नियमतः प्राप्त हो वहाँ व्यतिरेक व्याप्ति होती है। जैसे— जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है (अन्वय व्याप्ति); जहाँ-जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता (व्यतिरेक व्याप्ति)।

ऐतिहासिकता के आधार पर महर्षि गौतम के द्विविध-साधर्म्य तथा वैधर्म्य उदाहरण में अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्तियों का ही सङ्केत प्राप्त होता है।[1] वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या में साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव-साधनाभाव— इन शब्दों के प्रयोग से अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियों को स्पष्टतया प्रकाशित किया है।[2] उद्योतकर,[3] वाचस्पति मिश्र[4] तथा जयन्त भट्ट[5] ने भी वीतावीत-हेतुविवेचनस्थल पर उभय व्याप्तियों को ही स्वीकृत किया है। गङ्गेश के अनुसार, 'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्'—साध्याभाव के व्यापक अभाव के प्रतियोगित्व को ही व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। यथा—'जहाँ वह्नि का अभाव प्राप्त होता है वहाँ धूम का अभाव भी प्राप्त होता है' इस नियम के आधार पर

---

1. न्या० सू०
2. न्या० भा०
3. न्यायवार्तिक, पृ० २६२
4. न्या० वा० ता० टी०, पृ० २६१-६२
5. न्या० मं० २, पृ० १३६-४०

वह्नि का अभाव व्याप्य तथा धूम का अभाव व्यापक होता है अतः साध्य वह्नि के अभाव के व्यापक हेतु के अभाव का प्रतियोगी होना ही व्यतिरेक व्याप्ति है।[1] परवर्ती प्रायः समस्त नैयायिक गङ्गेश का ही समर्थन करते हैं। महर्षि कणाद ने 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' तथा 'कारणाभावात् कार्याभावः' —दोनों सूत्रों से उक्त दोनों व्याप्तियों का ही निर्देश किया है।[2] सांख्यतत्त्व-कौमुदी में वीतावीत अनुमान भेदों द्वारा इन्हीं दोनों व्याप्तियों का सङ्केत किया गया है।[3] योगभाष्य में अनुमान के विवेचनस्थल पर इन व्याप्तियों का निर्देश उपलब्ध होता है।[4] बौद्ध दार्शनिक, धर्मकीर्ति तथा उनके टीकाकारों ने इन व्याप्तियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।[5] जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर द्वारा भी तथोपपत्तिमूलक तथा अन्यथानुपपत्तिमूलक हेतुओं की व्याख्या में क्रमशः अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्तियों की स्थापना की गयी है। किञ्च, मीमांसक प्राभाकर मत का सम्पादन करते हुए शालिकनाथ ने अन्वयव्याप्ति को ही प्रयोजक माना है[6] जिसको स्वीकार करने पर व्यतिरेक व्याप्ति स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने व्याप्यव्यापकभावनिर्णय के लिए दोनों व्याप्तियों का स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार 'भाव' ([illegible]) पदार्थों में साधन व्याप्य तथा साध्य व्यापक होता है तथा उनके अभाव का इसके ठीक विपरीत क्रम होता है अर्थात् साध्य-अभाव व्याप्य तथा साधन अभाव व्यापक होता है। उदाहरणार्थ, धूम का भाव होने पर अग्नि का भाव होता है— इस व्याप्ति से अनग्नि धूम से व्यावृत्त होकर अधूम के ही साथ स्थित होती है तथा अनग्नि व्याप्यत्व को प्राप्त होती है। इस प्रकार, व्यतिरेकव्याप्ति बनती है जिसमें वह्न्यभाव-व्याप्य होता है अतः धूमाभाव व्यापक

---

१. त० चि० पृ० १२६१

२. वै० सू० १।२/२४, १।२।१

३. सां० त० कौ० पृ० ३६

४. यो० भा० पृ० ११

५. प्र० व० पृ० १ । ३४ पर पृ० अ० न्या० बि० टी० ।

६. न्या० र० मा० पृ० ३१

हुआ । व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप हुआ, जहाँ-जहाँ वह्न्यभाव होता है वहाँ-वहाँ धूमाभाव भी होता है । इसी प्रकार, वह्न्यभाव में धूमाभाव की व्याप्ति से धूम की व्यावृत्ति होती है तथा अन्यत्र अवकाश होने पर (जलादि में स्थित न होने से) धूम में वह्नि की व्याप्यता पुष्ट हो जाती है । इस प्रकार, अन्वय व्याप्ति[1]— जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है — इस रूप की होती है ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने अन्वय व्याप्ति को तो माना है किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति को अस्वीकार किया है । यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि यदि व्यतिरेक व्याप्ति को न माना जाय तब तो अन्वय व्याप्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति को धूम से वह्नि की अनुमिति कैसे हो सकेगी ? इसके समाधानार्थ वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि अन्वय व्याप्ति के ज्ञान से रहित पुरुष वह्नि का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से करता है । व्यतिरेकीव्याप्तिज्ञान को अनुमिति में कारण नहीं माना गया है ।[2] इस प्रकार, कुमारिल भट्ट तथा नैयायिक जहाँ-जहाँ व्यतिरेकी अनुमान से साध्य की सिद्धि करते हैं वहाँ वेदान्ती अर्थापत्ति प्रमाण से उसकी कल्पना कर लेते हैं ।

---

१. साहित्यमात्रं पूर्वोक्तं देशोक्तावुपयुज्यते ।
व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ।
धूमाभावेऽग्न्यभावेन व्याप्तोऽग्निस्त्वव्यभिचारतः ।।
अनून एव विशेषैर्व्याप्यत्वमश्नुते ।
तथाग्न्याभावधूमेन व्याप्ते धूमस्त्वव्यभिचारतः ।।

— श्लो० वा० अनु० १२१-१२४

२. कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः ?
अर्थापत्तिप्रमाणादिति वदामः । ....
व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् ।

— वे० प० पृ० १७२-१७४

(ii) सामान्य-विशेष व्याप्ति-- जब दो सामान्य पदार्थों में व्याप्ति प्राप्त हो तो समव्याप्ति तथा विशेष पदार्थों में व्याप्ति के गृहीत होने पर विशेष व्याप्ति कहा जाता है । बौद्ध सामान्य विषयों में ही व्याप्ति स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार, अनुमान द्वारा विशेष वस्तुओं[1] का ग्रहण नहीं होता अतः विशेष वस्तुओं में व्याप्ति नहीं हो[2] सकती । कुमारिल भट्ट ने विशेष पदार्थों में भी व्याप्ति की सिद्धि की है ।

(iii) सम-विषम व्याप्ति-- जब साध्य तथा साधन के नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समान रूप में प्रकट किया जा सकता हो, तब उन व्याप्य-व्यापक में समव्याप्ति पायी जाती है । इसके विपरीत जहाँ व्याप्य-व्यापक में इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न पाया जाय वहाँ विषम व्याप्ति होती है । दोनों ही स्थानों में व्याप्ति हेतु में ही रहती है अतएव हेतु को व्याप्य या गमक एवं साध्य को व्यापक या गम्य कहा जाता है । कुमारिल के व्याप्य-व्यापकभाव[3] विवेचन में इन व्याप्तियों का विशदतया वर्णन किया गया है ।

(ब) पक्षधर्मता

३.३.५ पक्षधर्मता का मनोवैज्ञानिक आधार--

अनुमान का दूसरा आधारभूत तत्त्व पक्षधर्मताज्ञान है । व्याप्तिज्ञान द्वारा तो केवल यही ज्ञान होता है कि `जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है` । किन्तु, केवल व्याप्तिज्ञान के आधार पर पर्वत वह्निमान् है- यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है क्योंकि व्याप्ति से यह नहीं गृहीत होता

---

१. न्या० वा० पृ० १६४-६५

२. श्लो० वा० अनु० ११

३. द्रष्टव्य - शोधप्रबन्ध पृ०

है कि 'यह पर्वत धूमवान् है' । अतः पर्वत पर वह्नि की सत्ता की सिद्धि तभी की जा सकती है जब वहाँ वह्निमूलक धर्म की सत्ता का ज्ञान हो क्योंकि धूमदर्शन के उपरान्त ही व्याप्तिज्ञान का स्मरण होता है । इस प्रकार साध्य अग्नि की पक्षधर्मता की सिद्धि साधन हेतु की (धूम की) पक्षधर्मता के आधार पर होती है । जिन दार्शनिकों ने लिङ्गपरामर्श को अनुमिति का असाधारण कारण नहीं माना है उन्होंने भी व्याप्तिज्ञान के स्मरण अथवा व्याप्तिसंस्कार के उद्बोधन के लिए पर्वत पर धूमदर्शन को आवश्यक माना है । डा० एस० सी० चैटर्जी ने अनुमान की प्रामाणिकता को व्याप्तिज्ञान पर तथा सम्भावना को पक्षधर्मता ज्ञान पर आधारित मानते हुए व्याप्तिज्ञान को अनुमान का तार्किक आधार तथा पक्षधर्मता-ज्ञान को मनोवैज्ञानिक आधार बतलाया है।[1] वेदान्तपरिभाषा[2] में भी व्याप्ति-संस्कार के उद्बोधनार्थ पक्षधर्मता को आवश्यक बतलाया है ।

इस प्रकार, अनुमान के आधारस्तम्भ के रूप में व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान की उपयोगिता है जिनमें से किसी एक के भी अभाव में अनुमिति नहीं हो सकती ।

३.४ अनुमान के भेद

अनुमानभेदों के तीन वर्ग उपलब्ध होते हैं । (१) स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान (२) केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी, और

---

1. While the validity of inference depends on Vyapti, its possibility depends on Paksata. Infermnce takes place when there is paksa or Subject of inference, it becomes valid when based on Vyapti or a Universal relation between the middle and the major term. Hence while Vyapti is the logical ground of inference, Paksata is its psychological ground or condition.

- N.T.K. Page 255.

२ वे० प० पृ० १६०

(३) पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट । वेदान्तपरिभाषा में स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के रूप में अनुमान को दो प्रकार का बतलाया गया है । द्वितीय वर्ग के अनुमान में वेदान्तपरिभाषाकार ने अन्वयी-अनुमान को स्वीकार किया है । तृतीय वर्ग के अनुमान भेदों का निरूपण वेदान्तपरिभाषा में अनुपलब्ध है । श्लोकवार्तिक में भी स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान को माना गया है । केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकी इन तीन भेदों का विवरण श्लोकवार्तिक में नहीं मिलता जबकि विशेषतोदृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट अनुमान को श्लोकवार्तिक में स्वीकार किया गया है ।

३.४.१ स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान—

अनुमान के दो प्रयोजन होते हैं— प्रमाता को स्वयं अर्थविषयक अभिनव ज्ञान की प्राप्ति कराना तथा अन्य पुरुष को उस अर्थ का ज्ञान कराना । इन्हीं दो प्रयोजनों के आधार पर अनुमान के दो भेद-स्वार्थ तथा परार्थ किये जाते हैं । स्वार्थ तथा परार्थ इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही उनके प्रयोजन को स्पष्ट कर देती है ।[१] स्वार्थानुमान में स्वयं की शंका का निवारण होता है अतः इसमें अवयवों का प्रयोग नहीं होता है, जबकि परार्थानुमान में अवयव-वाक्यों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि उसका उद्देश्य दूसरों को ज्ञात अर्थ का बोध कराना होता है ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने अनुमान के उक्त दोनों भेदों को स्वीकार किया है ।[२] अपने विचार का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान को स्वार्थानुमान कहा जाता है ।[३] मन में किसी विशिष्ट स्थान पर किसी विशिष्ट पदार्थ की स्थिति

---

१. स्वस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थमिति ।
   परस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थमिति ।

२. तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम् ।
   — वे० प० पृ० १७८

३. स्वार्थं स्वविप्रतिपत्तिपरार्थसाधकम् ।
   —अर्थदीपिका पृ० १७८

के विषय में शङ्का की निवृत्ति हेतु के दर्शन से व्याप्ति का स्मरण हो जाने पर होती है। यही स्वार्थानुमान कहा जाता है। दूसरे व्यक्ति को विवाद के विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहा जाता है।[1] इस परार्थानुमान की सिद्धि अवयवसमुदाय से होती है। धर्मराज ने परार्थानुमान को न्यायसाध्य बतलाया है।[2] यहाँ 'न्याय' से तात्पर्य 'अवयवों का समूह' है।[3]

मीमांसादर्शन में शबर ने इन अनुमान-भेदों का उल्लेख नहीं किया है। कुमारिल ने वेदान्तपरिभाषा की भाँति स्पष्ट वर्णन न करके केवल इतना ही कहा है, 'जो व्यक्ति अपने विचारों को अनुमान द्वारा दूसरों को प्रतिपादित करना चाहता है उसे सर्वप्रथम पक्ष का कथन करना चाहिए'।[4] इस कथन से स्पष्ट है कि कुमारिल को भी परार्थानुमान स्वीकार्य है। पार्थसारथि मिश्र ने यद्यपि उक्त दोनों भेदों का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तथापि 'जिसे अन्य पुरुषों की अनुमानप्रक्रिया[5] समझाने की इच्छा होती है उसे साधनवाक्यों का कथन करना चाहिए'— उनका यह कथन कथित दोनों भेदों की मान्यता की पुष्टि करता है। किञ्च, उनके द्वारा की गयी विस्तार-अन्वय-व्याख्या भी इसी बात का समर्थन करती है। मानमेयोदयकार[6] नारायण पण्डित ने स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान को स्पष्ट विवेचित किया है। पार्थसारथि मिश्र तथा नारायण भट्ट के परार्थानुमान विवेचन में केवल इतनी ही भिन्नता है कि प्रथम ने प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण— इन तीन अवयवों को मान्यता दी है, तो द्वितीय ने उदाहरण, उपनय तथा निगमन का प्रयोग स्वीकार

---

१. परार्थन्तु - पराविवादविषयार्थसाधकम्। - अथ अर्थदीपिका, पृ० १७८

२. परार्थं तु न्यायसाध्यम्। - वे० प० पृ० १७८

३. न्यायो नामावयवसमुदायः। - वही, पृ० १७८

४. अनुमानगृहीतस्य तेनैव प्रतिपादनम् ।। - श्लो० वा० अनु० ५३ की द्वि० पं.

परेभ्यो वा तथा वाच्यः पूर्वमर्थो यथोदितः। - वही ५४ की प्र० पं०।

५. शा० दी० पृ० १०८

६. मा० मे० पृ० ४३-४४

किया है। इन दोनों में साम्य इस बात पर है कि दोनों ने ही न्यायसम्मत पञ्चावयवों तथा बौद्धसम्मत दो अवयवों के स्थान पर अवयवों की संख्या तीन ही मानी है। श्लोकवार्तिक तथा वेदान्तपरिभाषा दोनों में ही अनुमान के उक्त दोनों भेदों को मान्यता दी गयी है।

३.४.२ केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी --

अनुमान के इन भेदों का आधार व्याप्तिज्ञान है। जिसमें अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियाँ पायी जायें उसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। इसका उदाहरण धूम से अग्नि का अनुमान होना--दिया जाता है क्योंकि इसमें दोनों ही व्याप्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति ही उपलब्ध हो उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। तथा जिस अनुमान में अन्वय-व्याप्ति न हो किन्तु केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही हो उसे व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। श्लोकवार्तिक में इन भेदों का विवरण अनुपलब्ध है, किन्तु मानमेयोदय में इसकी व्याख्या प्राप्त होती है। वेदान्तपरिभाषाकार ने तो अनुमान को अन्वयी रूप ही माना है अतः अनुमान अन्वयी रूप--एक ही प्रकार का होता है, केवलान्वयी नहीं।[१]

नैयायिक केवलान्वयी का उदाहरण देते हैं -- 'शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्।' अर्थात् शब्द अभिधेय है प्रमेय होने से। जो प्रमेय होता है वह अभिधेय होता है जैसे - घट, यह शब्द भी उसी प्रकार का है अतएव वैसा ही (अभिधेय) है। यह केवलान्वयी है क्योंकि जो अभिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है। इस व्यतिरेक व्याप्ति में जैसे 'अमुक' इस प्रकार का 'व्यतिरेक दृष्टान्त' ही नहीं मिलता है क्योंकि अखिल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने वाला प्रामाणिक अर्थ ही दृष्टान्त हो सकता है और वह प्रमेय भी होता है तथा अभिधेय भी। अतः व्यतिरेक दृष्टान्त का अभाव होने से केवलान्वयी हेतु ही

---

१. तच्चानुमानमन्वयिरूपमेव। न तु केवलान्वयि।

-- वे० प० पृ० १७७

बनता है, व्यतिरेकी नहीं।[1] नैयायिकों के अनुसार, केवलान्वयी का अर्थ होता है--`अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्व` अर्थात् जिस अनुमान के साध्य का अत्यन्ताभाव किसी भी देश तथा काल में न मिले वह साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हुआ। न्याय मत में वाच्यत्व, अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि ऐसे ही हैं। वेदान्तपरिभाषाकार ने नैयायिकसम्मत उक्त केवलान्वयी अनुमान को अस्वीकार करके अन्वयीरूप अनुमान को ही स्वीकार किया है। न्याय मत में वाच्यत्व, प्रमेयत्व आदि धर्म सर्वत्र हैं उनका अत्यन्ताभाव कभी नहीं मिलता अत: वे अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी हुए। किन्तु, वेदान्त मत में तो `नेह नानास्ति किञ्चन` इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त समस्त वस्तुओं में ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है (अर्थात् ब्रह्म में कोई भी द्वैत नहीं रहता) अत: सभी वस्तुएं ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी हुईं क्योंकि ब्रह्म में सभी पदार्थों का अत्यन्ताभाव है। नैयायिकसम्मत वाच्यत्व, प्रमेयत्वादि भी ब्रह्म में नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म तो अवाङ्मनसगोचर है। इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा में कहा गया है कि यह अनुमान अन्वयी रूप एक ही है; केवलान्वयी नहीं है क्योंकि सभी धर्म हमारे मत में ब्रह्म में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, तब तो अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी साध्यवाला केवलान्वयी असिद्ध रहा।[2]

केवलव्यतिरेकी अनुमान का भी खण्डन किया गया है। नैयायिकों

---

1. यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। .... । स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्। सर्वे हि प्रामाणिक पदार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयत्वाभिधेयत्वेति।

   - तर्कभाषा, पृ० ८६

2. तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव। न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूप-केवलान्वयित्वस्यासिद्धेः।

   - वे० प० पृ० १७२

अनुमान के अन्वयव्यतिरेकी प्रकार की कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि[1] व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान की अनुमिति के प्रति हेतुता ही नहीं होती है। अतएव केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी— इन तीनों भेदों का निराकरण कर परिभाषाकार ने अन्वयीरूप—केवल एक ही अनुमान को सिद्ध किया है। यही अन्वयीरूप अनुमान स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है जिसका निरूपण किया जा चुका है। श्लोकवार्तिक में उक्त अनुमानों की चर्चा अनुपलब्ध है।

3.4.3 विशेषतोदृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट—

वेदान्तपरिभाषा में अनुमान के उक्त प्रकारों का विवेचन अनुपलब्ध है। यद्यपि मीमांसासूत्रों में अनुमान के भेदों की व्याख्या नहीं प्राप्त होती तथापि भाष्यकार शबर ने अनुमान के दो भेद— 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध' तथा 'सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध' का कथन किया है। इन दोनों की परिभाषा न देकर केवल उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। जैसे - धूम आकृति (धूम सामान्य) को देखकर अग्नि आकृति (अग्नि सामान्य) का अनुमान करना प्रत्यक्षतोदृष्ट-सम्बन्ध तथा देवदत्त के गतिपूर्वक देशान्तर की प्राप्ति के ज्ञान से सूर्य में गति का स्मरण होना सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान है।[2] भाष्यकार-वर्णित उक्त भेदों की आलोचना श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल ने की है। उनके अनुसार, परस्पर असङ्कीर्ण दो

---

1. अतश्चानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकित्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् ।

   – वे० प० पृ० १०८

2. तत्तु द्विविधं— प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं, सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च। प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं यथा— धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम्। सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं यथा — देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणम्।

   शा० भा० पृ० २६

वस्तुओं में ही द्वैविध्य प्रतिपादित किया जा सकता है और भाष्यकार के उक्त दोनों अनुमान प्रकारों में सङ्कीर्णता की प्राप्ति होती है अर्थात् उक्त दोनों अनुमान प्रकारों में भिन्नता का नितान्त अभाव पाया जाता है । जिस प्रकार अग्नि-धूमसम्बन्ध प्रत्यक्षदृष्ट है उसी प्रकार गतिप्राप्तिसम्बन्ध में भी प्रत्यक्ष-दृष्टत्व है, अतः अनुमान के दो प्रकार अनुपपन्न होते हैं । यदि यह कहा जाय कि व धर्मी आदि में गतिप्राप्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्षदृष्ट नहीं है तब तो यह भी कहा जा सकता है कि धर्मी पर्वत पर भी उस समय वह्नि तथा धूम का प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है । इस पर यदि यह कहा जाय कि महानसादि स्थल में वह्नि-धूम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है तो कुमारिल का कथन है कि गति-प्राप्तिस्थल में भी देवदत्त के देशान्तर प्राप्ति तथा गति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही दृष्टिगत होता है । अतः, प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध सङ्कीर्ण है, असङ्कीर्ण नहीं । जिस प्रकार प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध को उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में घटित किया जा सकता है उसी प्रकार उक्त दोनों उदाहरणों में सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध का भी उपपादन किया जा सकता है, ऐसा कुमारिल का मन्तव्य है । सूर्य के गति-परिवर्तन के आधार पर देशान्तर-प्राप्ति का प्रत्यक्षदर्शन नहीं होता है परन्तु भिन्न धर्मी देवदत्तादि में देशान्तरप्राप्ति का गति के साथ अन्वय देखकर ही आदित्य में भी "जहाँ जहाँ भी देशान्तर प्राप्ति होती है वहाँ गति होती है" — इस सामान्य के आधार पर प्राप्ति सामान्य से गति का अनुमान किया जाता है । जिस प्रकार भिन्न धर्मी देवदत्त में देशान्तर-प्राप्ति का गति के साथ अन्वय देखकर ही अनुमान होता है उसी प्रकार अग्नि-धूम-स्थल में भी भिन्न धर्मी महानसादि में ही सम्बन्ध

---

१. द्वैविध्यं नोपपन्नं तु यथैव ह्यग्निधूमयोः ।
प्रत्यक्षदृष्टः सम्बन्धो गतिप्राप्त्योस्तथैव हि ॥
आदित्येऽप्युपलब्धत्वेन देशेऽप्यनुमापने ।
क्वचित्तु गतोपलब्धत्वेषु देवदत्तेऽपि दृश्यताम् ॥

— श्लो० वा० अनु १३८-१३९

गृहीत होता है।[1] धूम तथा वह्नि के नियत साहचर्य को विभिन्न स्थानों पर देखकर ही उसका सामान्य कारण इस आकार में बतलाया जाता है - 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है। ठीक इसी प्रकार 'सूर्य में गति है' -- इसकी सिद्धि के लिए 'जिसमें-जिसमें देशान्तर प्राप्ति होती है, उसमें उसमें गति अवश्य होती है' -- यह व्याप्ति प्रयुक्त होती है। और, गति तथा देशान्तर-प्राप्ति इन दोनों सामान्यों में ही व्याप्ति बनती है। इस प्रकार शबर ने सामान्यतोदृष्ट का जो उदाहरण दिया है वह प्रत्यक्षतोदृष्ट के उदाहरण में भी घटित हो जाता है अतः दोनों में भिन्नता का अभाव है। इस विषय में कुमारिल का अग्रिम वक्तव्य है कि प्रत्यक्षतःदृष्टसम्बन्ध -- जैसे, किसी विशिष्ट देश में गोमय ईंधनजन्य अग्निविशेष तथा तज्जन्य धूमविशेष के विलक्षण स्वरूप के प्रत्यक्ष से जिस व्यक्ति को ज्ञान हुआ है, कालान्तर में वही व्यक्ति उसी देश में इस धूमविशेष को देखता है तो उसे गोमय ईंधनजन्य वह्निविशेष का जो अनुमान होता है उसे प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध के स्थान पर 'विशेषतःदृष्टसम्बन्ध' अनुमान कहा जाता है।[2] 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध' के स्थान पर 'विशेषतोदृष्टसम्बन्ध' -- यह नाम समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि विशेष ही सामान्य का प्रतियोगी होता है। किञ्च, प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यक्ष-प्रमाणान्तर का ही प्रतियोगी हो सकता है, सामान्य का नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा ही सामान्य सम्बन्ध का ग्रहण सम्भव है। अतः प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध तथा सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध के परस्पर अविरोधी होने के कारण अनुमान द्वैविध्य की अनुपपत्ति होती है। प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध के स्थान पर 'विशेषतोदृष्टसम्बन्ध' का प्रयोग करने पर अनुमान प्रमाण की यह विविधता प्रतिपादित हो जाती है।

---

1. यदि सम्बन्धरापेक्षा तत्र सामान्यदृष्टता ।
   स्यादग्निधूमयोः देश, तस्मादेवं प्रकाशते ।। - श्लो० वा० अनु० १४०
2. प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धं यथोक्त विशेषयोः ।
   गोमयेन्धनजन्याग्निविशेषादिमतिः कृता ।। - वही १४१
   अपि च,
   बृहती न्या० र० पृ० २५८

विशेष पदार्थों में प्रत्यक्ष द्वारा सम्बन्ध गृहीत हो जाने पर इस अनुमान को विशेषतोदृष्टसम्बन्ध कहा जाता है । इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि इस उदाहरण में वह्नि का अनुमान उसी देश में किया जाता है जिस देश में उसका प्रत्यक्ष किया गया था, अतः कोई नवीनता न होने के कारण अनुमान का प्रामाण्य नहीं हो सकता । कुमारिल ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि यद्यपि अनुमान का देश नवीन नहीं है तथापि कालान्तर का आधिक्य[1] है -- और, इसी कालान्तर का आधिक्य होने से अनुमान का प्रामाण्य है । कृत्तिका नक्षत्र के उदय होने से रोहिणी नक्षत्र के उदय होने का अनुमान करना भी `विशेषतोदृष्ट-सम्बन्ध` का ही उदाहरण है जिसका निरूपण विशेष व्याप्तिसम्बन्ध के ज्ञापनार्थ प्रस्तुत किया गया है । `प्रत्यक्षतोदृष्ट` के स्थान पर कुमारिल के `विशेषतोदृष्ट` प्रयोग की ओर `विन्ध्यवासी` की भी सहमति प्रतीत होती है[2] । (यह विन्ध्यवासी कौन थे ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । कुछ[3] लोगों ने सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण को ही विन्ध्यवासी बतलाया है किन्तु, ईश्वरकृष्ण ने तो अनुमान के दो भेदों के स्थान पर तीन भेदों का उल्लेख किया है और[4] इन तीनों को गौडपाद ने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नाम दिया है)।

---

१. तद्देशस्थेन तेनैव गत्वा कालान्तरेऽपि तत् ।
यदाग्निर्बुध्यते, तस्य पूर्वबोधाद् पुनः पुनः ।। - श्लो० वा० अनु० १४२

२. अग्निवद्धमानवस्त्वन्यवस्तुबोधाद् प्रमाणता ।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना ।।
- श्लो० वा० अनु० १४३

३. रामास्वामी शास्त्री का काशिका पर परिचय, पृ० ३३

This kind of Inference of particular is acceptable to Vindhyavasin, who is identified by some with Isvarakrsna the author of Sankhyakarika.

४. सांख्यकारिका, गौडपादभाष्य ।

यदि कोई यह कहता है कि भाष्यकार शबर को भी यह अनुमान `विशेषतोदृष्टत्व` रूप से मान्य था तब तो `धूमाकृतिदर्शनात्`[१] पद में प्रयुक्त आकृति पद का सन्निवेश ही व्यर्थ सिद्ध होगा क्योंकि `आकृति` से `सामान्य` अर्थ लिया गया है । इसके प्रत्युत्तर में यह कथन कि आकृति में ही किसी व्यक्ति को साध्य-साधन की व्याख्या दृष्ट हो सकती है अर्थात्, न हेतु तथा साध्य का सम्बन्ध ही `आकृति` शब्द का द्योतक है इसलिए भाष्य में `विशेष` शब्दोल्लेख अप्राप्त होता है । इसके समाधानार्थ वार्तिककार का कथन है कि विशेष से पृथक् अग्निधूम को सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण भी माना जा सकता है (जबकि यह प्रत्यक्षतोदृष्ट का ही उदाहरण है), आदित्य का उदाहरण तो पूर्णरूपेण सामान्यतोदृष्ट का ही उदाहरण है । अतः विशेषतोदृष्ट सम्बन्ध अनुमान से असङ्कीर्ण सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध के प्रकाशनार्थ ही उपादित्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार, वार्तिककार ने भाष्यकार प्रयुक्त `प्रत्यक्षतोदृष्ट` के स्थान पर `विशेषतोदृष्ट` शब्द का प्रयोग करके अनुमानभेद का परिष्कार किया है तथा सामान्यतोदृष्ट के प्रसङ्ग में भाष्यकार का समर्थन किया है ।

---

१ शा० भा० पृ० ३८

३.५ अनुमान के अवयव

अन्य व्यक्तियों को स्वकृत वस्तुविषयक परीक्षण का ज्ञापन कराने के लिए भाषाभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है । स्वयं के लिए होने वाले स्वार्थानुमान में वाक्य-प्रयोग नहीं होता है, किन्तु दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए वाक्यों का अवलम्बन लेना ही पड़ता है । जिन वाक्यों का अवलम्बन लेकर अन्य व्यक्ति को अनुमान कराया जाता है पारिभाषिक शब्दावली में उसको `न्याय अवयव` कहते हैं । अतएव अनुमान में न्याय तथा उसके अवयवों का निरूपण अत्यन्त आवश्यक है । अवयव-सामान्य को समझने के लिए न्याय तथा अवयव को समझना अत्यन्त आवश्यक है । वात्स्यायन ने प्रमाणों द्वारा वस्तु परीक्षा करने को ही न्याय कहा है ।[1] अवयव की परिभाषा देते हुए उनका कथन है, `साध्य अर्थ के सिद्धिवतार्थ शब्द-समूहरूप किन्तु वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक है, और जिन प्रतिज्ञादि वाक्यों से साध्य की सिद्धि की जाती है, उनको समूह की अपेक्षा अवयव कहा जाता है ।`[2] केशवमिश्र ने अनुमान वाक्य के एकदेश को ही अवयव कहा है ।[3] अनुमिति के चरम कारण लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक शाब्दज्ञान (न्यायजन्य शाब्दज्ञान) के कारण प्रतिज्ञा हेतु आदि वाक्यात्मक अवयव जन्य ज्ञान के कारणीभूत प्रत्येक प्रतिज्ञा आदि वाक्य को अवयव कहा जाता है ।[4]

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान — अनुमान के दो भेदों का निरूपण

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।
 — न्या० भा० पृ० ७

२. साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते ।
 — न्या० भा० पृ० ६

३. अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः ।
 — त० भा० पृ० २२६

४. अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम् ।
 — त० चि० पृ० १४५८

करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार[1] ने परार्थानुमान को न्यायसाध्य बतलाया है । यह न्याय अवयवों का समूह ही है । वेदान्तपरिभाषा में अवयवों के समूह को तो न्याय बतलाया गया है किन्तु इन अवयवों को पृथक् परिभाषित नहीं किया गया है । श्लोकवार्तिक में भी अवयव-लक्षण का अभाव प्राप्त होता है किन्तु, कुमारिलकृत हेतु तथा साध्य के विशद विवेचन-स्थल पर तथा सामान्यतोदृष्ट और विशेषतोदृष्ट के विवेचनस्थल पर प्रदत्त द्विविध उदाहरण यह सङ्केत करते हैं कि उन्हें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण रूप तीन अवयव ही अभिप्रेत थे[2] । मानमेयोदय में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण-- इन तीनों का स्पष्ट विवेचन प्राप्त है ।

३.५.१ अवयव-प्रयोग--

अवयव-प्रयोगविषयक दार्शनिक विप्रतिपत्तियों ने अवयवों की विभिन्न संख्याओं का निर्धारण किया है । अवयव मान्यताओं को छः परम्पराओं में विभक्त किया जा सकता है । (१) पञ्चावयवी -- इसमें न्याय वैशेषिक, सांख्य तथा जैन आते हैं, (२) दशावयवी -- न्याय तथा जैन, (३) तीन अवयवी -- मीमांसा, वेदान्त, सांख्य तथा जैन (४) द्वि अवयवी -- बौद्ध तथा जैन(५) एकावयवी -- बौद्ध धर्मकीर्ति तथा जैन देवसूरि, (६) चार अवयवी -- अज्ञात मीमांसक ।

वेदान्तसिद्धान्त में अनुमान के तीन अवयव ही प्रसिद्ध हैं -- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरणरूप अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन रूप । वेदान्तपरिभाषा ने न्यायसम्मत पञ्चावयवों को नहीं माना है । उनके अनुसार, तीन अवयवों से ही व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान सम्भव है अतः उनसे अधिक दो अवयवों की कल्पना

---

१. न्यायो नाम अवयवसमुदायः ।
- वे० प० पृ० १०८

२. तस्माद् अवयवत्रयं पुनः पौनरुक्त्यात्तथा मतम् ।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम् ॥
- मा० मे० पृ० ७०

व्यर्थ है।[1]

मीमांसकों ने भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान के लिए तीन अवयवों के उक्त दो वर्गों को ही माना है। मीमांसकों द्वारा स्वीकृत पूर्वोक्त दो वर्गों में से प्रथम वर्ग में उपनय तथा निगमन का कार्य, हेतु तथा प्रतिज्ञा द्वारा सम्भव है तथा द्वितीय वर्ग को मानने पर हेतु तथा प्रतिज्ञा का कार्य उपनय तथा निगमन से सम्भव है। भाट्ट मीमांसकों के इसी मत का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रदीपिका में पार्थसारथि मिश्र का कथन है कि अनुमान में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता इन दोनों ज्ञानों का मिलित फल 'निगमन' है। केवल व्याप्ति तथा केवल पक्षधर्मतामूलक वाक्यों से निगमन होना असम्भव है। जिज्ञासित धर्म से विशिष्ट धर्मी के प्रतिपादनार्थ प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग किया जाता है। उपसंहार वाक्य होने के कारण प्रतिज्ञा तथा निगमन एक ही अर्थ का प्रतिपादन करने से पृथक् नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार हेतु तथा उपनय की पृथक्ता भी असिद्ध है। इसी कारण मीमांसक तथा वेदान्ती इन दोनों में से एक-एक का प्रयोग ही अभीष्ट मानते हैं। अतएव प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण-उपनय-निगमन इन तीन ही अवयवों को मानना उचित है। नारायण भट्ट ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[2] भाट्ट मीमांसकों ने नैयायिकों की भाँति अवयवों को नियतक्रम में व्यवस्थित नहीं माना है अपितु प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण अथवा उदाहरण-उपनय-निगमन— इन दो क्रमों में अवयव प्रयोग को बताया है। पार्थसारथि मिश्र जी ने द्वितीय प्रयोग को सार्थक सिद्ध करने के लिए 'यत् कर्म तत् फलवत्, होमोऽपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यम्' —भाष्यकार के उक्त उदाहरण को दिया है। उसके दोनों क्रम निम्न प्रकार से

---

१. अवयवाश्च त्रय एव प्रविष्टाः - प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा, न तु पञ्चावयवरूपाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनाऽधिकावयवस्य व्यर्थत्वात्।

— वे० प० पृ०

२. मा० मे० पृ० [illegible]

व्यवस्थित किए जा सकते हैं --

(क)

(१) प्रतिज्ञा -- पर्वत वह्निमान् है

(२) हेतु -- धूमवान् होने के कारण

(३) उदाहरण-- जो जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वह्नियुक्त भी होता है जैसे -- महानस ।

(ख)

(१) उदाहरण -- जो-जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वह्नियुक्त भी होता है, जैसे-- महानस ।

(२) उपनय -- यह पर्वत भी धूमयुक्त है ।

(३) निगमन -- अत: यह पर्वत भी अग्नियुक्त है ।

अथवा

(१) उदाहरण -- जो कर्म होता है वह फल वाला होता है (यथा, कृष्यादि व्यापार)

(२) उपनय -- होम भी कर्म है

(३) निगमन -- अतएव उससे भी फल की विद्यमानता इच्छित होनी चाहिए ।[1]

मानमेयोदयकार का कथन है कि भाट्ट मत में पुनरुक्ति को वजन न करके तीन ही अवयव -- प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण माने गए हैं, उदाहरणपर्यन्त अथवा उदाहरण से लेकर निगमन तक ।[2]

वेदान्तपरिभाषा तथा उसकी टीकाओं में अवयवों का प्रयोग पार्थसारथि मिश्र जी के अवयव-प्रयोग के समान है, अत: भाट्ट मीमांसा तथा वेदान्त का इस

---

१. शा० दी० पृ० १००-०६

देखिए च, भारतीय दर्शन में अनुमान -- डा० ब्रजनारायण शर्मा

२. मा० मे० पृ० ७०

विषय में साम्य उद्भासित होता है । श्लोकवार्तिक में इसका पृथक् विवेचन नहीं किया गया है ।

३.६ प्रतिज्ञाभास, हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास

परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त -- इन तीन अवयवों की आवश्यकता होती है । इन तीनों के सम्यक् अवबोधनार्थ प्रतिज्ञाभास, हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास का ज्ञान होना भी आवश्यक है । वेदान्तपरिभाषा में इनका उल्लेख अप्राप्त है किन्तु श्लोकवार्तिक में इन तीनों को विवेचित किया गया है ।

३.६.१ प्रतिज्ञाभास अथवा पक्षाभास

दूसरे व्यक्ति के अवबोधनार्थ प्रयुक्त पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहा गया है । जिज्ञासित धर्मविशिष्ट धर्मी पक्ष है अतः धर्मी में साध्य या साध्याभाव का पहले से निश्चय होने अथवा साध्य के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने पर न तो साध्य जिज्ञासित होता है और न उससे विशिष्ट धर्मी को पक्ष कह सकते हैं । इस प्रकार सिद्धविशेषणक, बाधितविशेषणक तथा अप्रसिद्धविशेषणक पक्ष[1] पक्षाभास कहलाते हैं तथा उनके बोधक प्रतिज्ञावाक्य प्रतिज्ञाभास कहे जाते हैं । कुमारिल ने इन प्रतिज्ञाभासों को दो वर्गों में विभाजित करके अवान्तर भेदों के साथ उनका सांगोपांग वर्णन किया है । सिद्धविशेषण, अप्रसिद्धविशेषण तथा बाधितविशेषण -- ये तीनों प्रथम वर्ग में समाविष्ट हैं ।

१- सिद्धविशेषण --

जब अनुमान के पूर्व ही प्रत्यक्षादि प्रबल प्रमाणों से प्रतिज्ञा का ज्ञान हो जाय तत्पश्चात् साध्य की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग किया जाय तो वह सिद्धविशेषण कहलाता है जैसे हाथी के प्रत्यक्ष दर्शनोपरान्त पुनः सूँड, पैर आदि को देखकर उसका अनुमान करना । जैसे, अग्नि उष्ण होती है--यह प्रतिज्ञा भी

---

१. भा० मे० पृ० ७७

सिद्धविशेषण प्रतिज्ञाभास है क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा वह्नि का उष्णत्व सर्वजनसिद्ध है।[1]

2- <u>अप्रसिद्धविशेषण</u> —

जब प्रतिज्ञा में सर्वथा अप्रसिद्ध अर्थ को साध्य के रूप से प्रयोग किया जाता है तो यह दोष होता है। जैसे -- पृथ्वी आदि की रचना सर्वज्ञ द्वारा हुयी है। यहाँ सर्वज्ञ-कर्तृकत्व साध्य सर्वथा अप्रसिद्ध है क्योंकि घट, पट आदि अन्य किसी भी स्थल में सर्वज्ञकर्तृकत्व की प्रसिद्धि नहीं है।[2]

3- <u>बाधितविशेषण</u> —

कुमारिल भट्ट ने छः प्रमाण माने हैं अतः यह भी छः प्रकार का होता है।[3]

(i) <u>प्रत्यक्षबाध</u> — 'वह्नि अनुष्ण है', 'शब्द प्रत्यक्षगम्य नहीं है' ये दोनों प्रतिज्ञायें प्रत्यक्षबाधित हैं क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि की उष्णता तथा कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है।[4] कालान्तरबाधित होने के कारण शून्यवादी बौद्ध अथवा मायावादी अद्वैत वेदान्ती की यह प्रतिज्ञा -- 'नामरूप प्रपञ्च असद्रूपात्मक है' भी प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा तो उसका सद्भाव ही दृष्टिगत होता है।

(ii) <u>अनुमान बाध</u> — जब कोई अनुमान किसी अन्य प्रबल अनुमान द्वारा बाधित होता है तब यह दोष होता है, जैसे --'शब्द अश्रावण है।' बौद्धों ने

---

1. श्लो० वा० अनु० ५६
   अपि च, न हि दृष्टानि दृश्यमाने पुनस्तत्साधनेनानुमानं फलवत्, अतो न तत् प्रमाणायेति।
   - न्या० र० पृ० २६८
2. श्लो० वा० अनु० ५७ अपि च, भा० मे० पृ० ७२

इस प्रतिज्ञा को प्रत्यक्षविरुद्ध बतलाया है किन्तु कुमारिल इसको प्रत्यक्षविरुद्ध का उदाहरण नहीं मानते हैं । उनके अनुसार श्रावणत्व प्रत्यक्षगम्य नहीं होता क्योंकि शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है । श्रोत्रेन्द्रिय के अभाव में शब्द की सत्ता नहीं रहती जैसे— बधिर व्यक्ति को शब्द का भान नहीं होता है । श्रोत्रेन्द्रिय के होने पर शब्द का ग्रहण अवश्यमेव होता है जैसे -- अन्धे आदमी को शब्द का श्रवण होता है । इस अन्वय व्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द श्रावणत्व का कारण है । अतः उक्त अनुमान से कथित प्रतिज्ञा `शब्द अश्रावण है` का `श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से शब्द श्रावण है । इस अनुमान से बाध होता है अतएव यह अनुमान बाधित प्रतिज्ञा दोष है[1] ।

(iii) शब्द बाध— शब्द विरोध को कुमारिल ने तीन प्रकार का बतलाया है --[2] (क) प्रतिज्ञाविरोध, (ख) पूर्वसंकल्पविरोध तथा (ग) सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध ।

(क) प्रतिज्ञाविरोध -- प्रतिज्ञाविरोध पुनः तीन प्रकार का होता है -- (अ) उक्तिबाध, (ब) धर्मबाध तथा (स) धर्मिबाध ।

(अ) उक्तिबाध— `जीवन भर मैंने मौन व्रत धारण किया है` इस प्रतिज्ञावाक्य का उच्चारण करते हुए यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाय

---

१. तेनाश्रावणत्वादि विरुद्धमनुमानतः ।
   न हि श्रावणता नाम प्रत्यक्षेणावगम्यते ।।
   सान्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यते बधिरादिषु ।
   - श्लो० वा० अनु० ६०-६१

२. त्रिधा शब्दविरोधः स्यात् प्रतिज्ञादिविभागतः ।
   प्रतिज्ञापूर्वसंकल्पसर्वलोकप्रसिद्धितः ।।
   - श्लो० वा० अनु० ६१-६२

तो उक्ति[1] विरोध होगा क्योंकि उच्चारण करने पर उसका मौन भङ्ग हो जाता है।

(ख) धर्मबाध — `सर्वं वाक्यं मृषा` इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा मृषात्व की उक्ति के द्वारा प्रतिज्ञा अर्थ मृषात्व का बाध होता है क्योंकि सम्पूर्ण वाक्यों के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर प्रतिज्ञा वाक्य भी मिथ्या प्रमाणित होगा। प्रतिज्ञा वाक्य का मृषात्व सभी वाक्यों का मृषात्व होने के कारण बाधित है।[2]

(ग) धर्मी बाध — `मम जननी वन्ध्या` यह प्रतिज्ञा `जननी` स्वरूप धर्मी की उक्ति से ही बाधित हो जाती है[3] क्योंकि जननीत्व तथा वन्ध्यात्व दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म हैं।

(३) पूर्वसंकल्प विरोध—

बौद्ध मानते हैं कि `सर्वं क्षणिकम्`। किन्तु, क्षणिकवादी बौद्ध यदि कहें `शब्द नित्य है` तो उनका यह प्रतिज्ञावाक्य `पूर्वसंकल्पविरोध` दोष[4] से ग्रस्त होगा क्योंकि यह प्रतिज्ञा उनके पूर्व कथित सिद्धान्त का विरोध करती है।

(४) सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध—

`शशी न चन्द्रशब्दाभिधेयः` इस प्रतिज्ञावाक्य का

---

१. यावज्जीवमहं मौनीत्युक्तिमात्रेण बाध्यते ॥

— श्लो० वा० अनु० ५२ की टि० पं०

२. सर्ववाक्यमृषात्वे तु धर्मोक्त्यैवात्मबाधनम् ।

३. धर्म्युक्त्यैवाहतो बाधः सा वन्ध्या जननी मम ।

— श्लो० वा० अनु० ५३

४. बौद्धस्य शब्दनित्यत्वं पूर्वोक्तेन बाध्यते ।
~~चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति~~ ॥

प्रयोग करने पर उक्त दोष[1] प्राप्त होगा क्योंकि चन्द्र, शशी शब्द का वाचक है, यह सर्वजनसिद्ध है ।

(i) उपमान बाध — 'गाय गवय के समान नहीं है' इस प्रतिज्ञा का प्रयोग यदि ऐसे व्यक्ति के समक्ष किया जाता है जिसे गौ तथा गवय के विषय में यह ज्ञान है कि गाय गवय के समान ही होती है[2] तब उपमान बाध होता है ।

( ) अर्थापत्ति बाध — छ: प्रकार की अर्थापत्ति कुमारिल ने माना है अत: अर्थापत्ति बाध भी छ: प्रकार का हुआ ।

(क) प्रत्यक्षपूर्विका-अर्थापत्तिबाध — प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि में दहनशक्ति की कल्पना करना ही प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है । इसके विरुद्ध यदि कोई यह कहे कि 'अग्नि में दहन शक्ति[3] नहीं होती है' तो यह प्रतिज्ञा प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिबाध है ।

(ख) अनुमानपूर्विका-अर्थापत्तिबाध — 'सूर्य में गमनशक्ति नहीं है' यह प्रतिज्ञा उक्त दोष से युक्त होगी क्योंकि देशान्तर प्राप्ति द्वारा सूर्य में गति के अनुमान से सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना करना अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति है । इसी प्रकार यदि यह कहा जाय कि 'शब्द में अभिधायक शक्ति नहीं है' तो यह प्रतिज्ञा उक्त दोषयुक्त होगी[4] ।

---

१. चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति ।
स लोकप्रसिद्धेन चन्द्रज्ञानेन बाध्यते ॥
— श्लो० वा० अनु० ६४-६५

२. ज्ञातगोगवयाकारं प्रति यः साम्यवेदिनम् ।
न गोर्गवयसादृश्यं तस्य बाधोपमानतः ॥
— श्लो० वा० अनु० ६५-६६

३. अग्नावदाहके वाच्ये शब्दे चानभिधायके ॥

४. वीणादिनादनाशानां च शब्दानित्यत्वसाधने ।

(ग) श्रुतार्थापत्तिबाध — 'देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी मोटा है' इस वाक्य को सुनने पर 'वह रात्रि में खाता होगा' यह कल्पना होती है, जो श्रुतार्थापत्ति है। 'वह रात्रि में भी नहीं खाता' यदि यह कहा जाय तो यह प्रतिज्ञा उक्त बाध से ग्रस्त होगी।[1]

(घ) उपमानपूर्विका-अर्थापत्तिबाध — गवय से जो गाय की उपमिति होती है उस ज्ञान के विषय होने की शक्ति की कल्पना उपमानपूर्विका अर्थापत्ति है। 'गाय में इस ज्ञान के विषय होने की शक्ति नहीं है' — इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना उक्त अर्थापत्तिबाध है।[2]

(ङ) अर्थापत्तिपूर्विकाबाध — शब्द वाचक शक्ति से युक्त है। यदि ऐसा नहीं होता तो उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इस अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि शब्द में वाचक शक्ति है। इस सिद्ध वाचक शक्ति से शब्द में नित्यत्व को सिद्ध करना अर्थात् 'शब्द नित्य है, अन्यथा वाचक शक्ति नहीं हो सकती' यह अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति है। यदि यह कहा जाय कि 'शब्द नित्य नहीं है' तो इस प्रतिज्ञा से उक्त बाध होगा।[3]

(च) अभावपूर्विका-अर्थापत्तिबाध — अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा जीवित चैत्र को गृह में न देखकर उसके बाहर होने की कल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्ति है। किन्तु 'वह बाहर भी नहीं है' ऐसा कहना उक्त अर्थापत्ति बाध होगा।[4]

(vi) अनुपलब्धिबाध —

'खर के शृङ्ग नहीं होते' यह ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। यदि यह कहा जाय कि 'खर के शृङ्ग होते हैं' तो यह उक्त बाध का उदाहरण होगा।[5]

---

१. श्लो० वा० अनु० ६८
२. श्लो० वा० अनु० ६६
३. श्लो० वा० अनु० ६८
४. श्लो० वा० अनु० ६६-६७
५. खशृङ्गाद्यभावविरोधोऽनुपलब्धित: । — श्लो० वा० अनु० [illegible]

कुमारिल ने द्वितीय वर्ग में (१) धर्मस्वरूपबाध, (२) धर्मविशेषबाध, (३) धर्मीस्वरूपबाध, (४) धर्मीविशेषबाध, (५) उभयस्वरूपबाध तथा (६) उभय-विशेषबाध -- इन छः भेदों को रखा है। इन दोषों में धर्म तथा धर्मी दोनों यथार्थ रहते हैं। धर्म तथा धर्मी का जो सम्बन्ध होता है उसका किसी प्रबल प्रमाण द्वारा बाध हो जाता है। जैसे -- कोई व्यक्ति तृणादि विक्रिया हेतु द्वारा `हिम अग्निमान् है` ऐसी प्रतिज्ञा करता है तो यह उचित नहीं है क्योंकि इस प्रतिज्ञा का प्रत्यक्ष द्वारा बाध हो जाता है। यहाँ यद्यपि धर्मी हिम तथा धर्म वह्नि दोनों ही यथार्थ हैं तथापि उनका सम्बन्ध दोषयुक्त है। इसलिये शैत्य के द्वारा उष्णत्व का बाध होने पर धर्मस्वरूपबाध होता है तथा उष्णत्व का बाध होने पर अग्निमत्व का धर्मविशेष बाध होगा। इसी प्रकार `अग्निषोमीय हिंसा अधर्म है` यदि ऐसी प्रतिज्ञा की जाय तो इसका आगम प्रमाण द्वारा बाध होता है। शास्त्रविहित अधर्म नहीं होता तथा अधर्म का शास्त्र द्वारा कभी भी विधान नहीं होता है, इसलिये उक्त प्रतिज्ञा आत्मव्याघाती हुयी। इस उदाहरण में अधर्म स्वरूप धर्मी का बाध होना धर्मीस्वरूपबाध तथा आगम द्वारा ऐसा बाध हो जाने पर अग्निषोमीय हिंसा में दुःख निमित्तत्व रूप धर्मी का बाध धर्मीविशेषबाध है। बौद्धों का यह प्रतिज्ञा प्रयोग `सकल ज्ञान अयथार्थ है` धर्मधर्मीस्वरूप तथा धर्मधर्मीविशेषबाध द्वारा ग्रस्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूप तद्विशेष क्षणिकत्व तथा यथार्थत्व एवं तद्विशेष आत्यन्तिकत्व का बाध उभयस्वरूप एवं उभयविशेष बाध होगा। इन दोनों की ग्राहक बुद्धियों में भी मिथ्यात्वाघात हो जाने से उक्त प्रतिज्ञा द्वारा[1] धर्मधर्मी स्वरूप तद्गत विशेष दोनों का बाध होने के कारण यह स्ववचन बाध भी है।

कुमारिल ने प्रतिज्ञाभासों का दो वर्गों में वर्णन किया है। मानमेयोदय[2] में कुमारिल द्वारा वर्णित प्रथम वर्ग के उक्त तीनों भेदों को स्वीकार किया है। किन्तु द्वितीय वर्ग के भेदों का निरूपण मानमेयोदयकार ने नहीं किया है।

---

१. श्लो० वा० अनु० ७७-७९

२. मा० मे० पृ० ७४

३.६.२ हेत्वाभास

'मीमांसासूत्र' तथा 'शाबरभाष्य' दोनों में ही हेत्वाभासों का वर्णन अप्राप्त है किन्तु कुमारिल ने इनका निरूपण किया है । कुमारिल ने किसी विशेष स्थल पर हेत्वाभासों की संख्या नहीं बतलायी है । श्लोकवार्तिक के सम्यक् अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने असिद्ध, अनैकान्तिक तथा बाध -- तीन ही हेत्वाभासों को माना है । किन्तु मानमेयोदय में इन तीनों के अतिरिक्त 'असाधारण' नामक चौथा हेत्वाभास भी स्वीकृत है ।[1]

(क) असिद्ध -- शबरस्वामी ने अपने भाष्य में अनुमानलक्षण में 'एकदेशदर्शनात्' पद का प्रयोग किया है । इस प्रयुक्त निश्चयमूलक 'दर्शन' शब्द से असिद्धि दोष का परिहार किया गया है । वादी प्रतिवादी दोनों अथवा दोनों में से एक का संशय, विपर्यय तथा अज्ञान जिसमें ज्ञापित हो उसे कुमारिल ने असिद्ध नामक हेत्वाभास कहा है क्योंकि वह अनिश्चित होता है । यह दो प्रकार का है -- स्वरूपासिद्ध तथा आश्रयासिद्ध । विपर्ययासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध तथा अज्ञानासिद्ध भेद से इन दोनों के तीन-तीन अवान्तर भेद किये गए हैं ।[2]

(१) स्वरूपासिद्ध

(i) विपर्ययासिद्ध -- 'वह्नि अदाहक है क्योंकि वह शैत्य है' इस अनुमान में हेतु वादी तथा प्रतिवादी दोनों के लिये विपरीत अर्थ का साधक है क्योंकि

---

१. असिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकोऽसाधारणश्चेति चत्वारस्तदाभासाः ।

- मा० मे० पृ० ७५

२. दर्शनादेकदेशस्योभयोर्वैकस्य दृश्यते ।।
अनिश्चयोभयोर्वापि संशयाज्ञानविपर्ययाः ।

- श्लो० वा० अनु० ७५-७६

दोनों ही वह्नि को दाहविहीन नहीं मानते हैं। इसके अतिरिक्त विपर्यासिद्ध का उदाहरण यह भी है -- 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से' यहाँ साध्य अनित्यत्व की सिद्धि हेतु यदि नैयायिक कृतकत्व हेतु को देते हैं तो वह प्रतिवादी (मीमांसक) असिद्ध होगा[1] और यदि मीमांसक स्वयं इस हेतु का प्रयोग करते हैं तो वादी असिद्ध होगा।

(ii) सन्दिग्धासिद्ध — 'सरोवर बाष्पयुक्त है, धूम होने से' इस उदाहरण में हेतु धूमत्व के द्वारा सरोवर में साध्य बाष्पत्व की सिद्धि वादी प्रतिवादी अन्यतर तथा उभय सभी के लिये सन्दिग्ध है[2]। इसलिये इसे संदिग्धासिद्ध कहा जाता है।

(iii) अज्ञानासिद्ध — अप्रसिद्धार्थक पद को प्रयुक्त करने से यह दोष होता है। श्लोकवार्तिक में इसका कोई उदाहरण या लक्षण नहीं प्राप्त होता है।

(२) आश्रयासिद्ध --

आश्रय के द्वारा हेतु की असिद्धि भी वादी-प्रतिवादी अन्यतर तथा उभय के विपर्यय, संशय तथा अज्ञान से तीन प्रकार की होती है। जैसे, आत्मा सर्वगत है, दृष्ट कार्य होने से। यदि बौद्धों के लिये इस अनुमान का प्रयोग किया जाय तो यह विपर्ययासिद्ध होगा क्योंकि उनके सिद्धान्त में आत्माभाव का निश्चय है। लौकिक

---

१. शैत्यादम्भ दाहको वह्निरपामुष्णत्वादनित्यता ॥
शब्दस्येत्येवमादौ तु द्वयोः सिद्धो विपर्ययः ।
कृतकत्वगुणत्वादौ परोक्ते वादिनं प्रति ॥
स्वोक्ते चैवम्प्रकारे स्यादसिद्धोऽन्यतरस्य तु ।
- श्लो० वा० अनु० ७६-७७

२. बाष्पादिभावसन्दिग्धौ द्वयोरन्यतरस्य वा ॥
धूमादिनाप्यसिद्धः स्यात् एवं तावत् स्वरूपतः ।
- श्लो० वा० अनु० ७८-७९

पुरुषों के लिये संदिग्धासिद्ध होगा क्योंकि उनको देहादि से अतिरिक्त पुरुष के विषय में सन्देह होगा । इसके अतिरिक्त पक्ष कोटि में अप्रसिद्धार्थक शब्द का प्रयोग होने से अज्ञानासिद्ध होगा ।[1]

(ख) अनैकान्तिक --

अनैकान्तिक हेतु भी शाबरभाष्यप्रयुक्त `ज्ञातसम्बन्ध` पद से निरस्त है । अनैकान्तिक हेतु सन्देह का कारण होता है तथा विरुद्ध हेतु विपर्यय का कारण होता है । इन दोनों में व्याप्ति का अभाव होने से व्याप्ति के वाचक `ज्ञातसम्बन्ध` पद से इन दोनों की व्यावृत्ति की गयी है । कुमारिल ने अनैकान्तिक को[2] तीन प्रकार का बतलाया है -- साधारण, असाधारण तथा विरुद्धाव्यभिचारी ।

(१) साधारण -- कुमारिल के अनुसार जो हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में विद्यमान होता है उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं । जैसे -- शब्द नित्य है, प्रमेय होने से । यहाँ हेतु है प्रमेयत्व जो सपक्ष-आकाशादि नित्य पदार्थों में तो पाया ही जाता है साथ ही विपक्ष - पट,घट आदि अनित्य पदार्थ में भी पाया जाता है । कुमारिल ने इसके अतिरिक्त ; (i) शब्द प्रयत्नोत्थ है, अनित्य होने से, (ii) शब्द यत्नोत्थ है,अमूर्त होने से तथा (iii) शब्द, अनित्य है, धर्म होने से -- इन तीनों[3] को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ।

(२) असाधारण -- जो हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो उसे असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है । जैसे -- पृथिवी नित्य है, गन्ध होने से ।[4] यहाँ गन्धवत्त्व हेतु पक्ष पृथिवी मात्र वृत्ति होने के कारण सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में उपलब्ध नहीं होता ।

---

१. श्लो० वा० अनु० ७५-८१

२. सन्देहविपरीतत्वहेतू चात्र निराकृतौ ।।
ज्ञातसम्बन्धवचनात् मत: संशयहेतव: । - श्लो० वा० अनु० ८३-८४

३. श्लो० वा० अनु० ८५-८६

(३) <u>विरुद्धाव्यभिचारी</u> — विरुद्ध अर्थ से व्याप्त दो हेतुओं का एक धर्मी में दर्शन होना विरुद्धाव्यभिचारी दोष है।[1] इसी को न्यायसूत्र में सत्प्रतिपक्ष कहा गया है। जैसे — 'वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, रूपहीन होने से। वायु का प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श होने से।'

(ग) <u>बाध</u> — अनुकूल वाक्य में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से विपरीत हेतु भी निराकृत हो जाता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार अभिलषित साध्य की सिद्धि के लिये विपरीत हेतु का उद्भावन करना ही विरुद्ध दोष है।[2] बाध को अन्य सिद्धान्तों में विरुद्ध कहा है। धर्मस्वरूपबाध, धर्मविशेषबाध, धर्मिस्वरूपबाध, धर्मिविशेषबाध, उभयस्वरूपबाध एवं उभयविशेषबाध — उक्त छः प्रकार के बाध दोष माने हैं।

(i) <u>धर्मस्वरूपबाध</u> — 'शब्द नित्य है, कृतक होने से' इस उदाहरण में धर्म पद से साध्य का ग्रहण किया गया है। हेतु कृतकत्व द्वारा साध्य नित्यत्व का स्वरूपतः बाध होने के कारण ही इसे धर्मस्वरूपबाध कहा जाता है क्योंकि नित्य पदार्थ कृतक नहीं हो सकता है।

(ii) <u>धर्मविशेषबाध</u> — 'शक्ति निश्चय के पूर्व भी शब्द अर्थविशिष्ट होता है, निमित्तविशिष्ट होने से' — यहाँ शक्ति निश्चय के पूर्व यदि हेतु निमित्तत्व का उपादान किया जाय तो अर्थ बोधकत्व रूप धर्मविशेष का बाध होता है।

(iii) <u>धर्मिस्वरूपबाध</u> — 'समवाय, द्रव्य आदि से अतिरिक्त पदार्थ है, विशिष्ट ज्ञान का हेतु होने से।' मीमांसा मत में यह धर्मिस्वरूपबाध का उदाहरण है क्योंकि उनके मत में समवाय नामक कोई पृथक् पदार्थ नहीं है तथा 'यह घट यहाँ है' संयोग द्वारा ही यह व्यवहार होता है।

---

१. श्लो० वा० अनु० ८६   २. श्लो० वा० अनु० ८३-८४,९९

(iV) धर्मीविशेषबाध — 'समवाय एक है, विशिष्टज्ञान का हेतु होने से सत्ता के समान ।' यहाँ इहप्रत्ययहेतुत्व संयोग के समान भेद के व्याप्त होने से एकत्वरूप विशेष का बाध होता है ।[1]

(V) धर्मधर्मी-उभयबाध — 'आत्मा नित्य है, अवयवशून्य होने से, आकाश के समान ।' इस उदाहरण में हेतु अवयवाभावत्व को यदि सौत्रान्तिक बौद्धों के प्रति प्रयुक्त किया जाय तो आत्मा रूप धर्मी तथा नित्यत्व रूप धर्म दोनों का बाध होगा[2] क्योंकि वे आत्मा तथा उसके नित्यत्व दोनों को ही नहीं मानते हैं ।

(VI) धर्मधर्मी-उभयविशेषबाध -- चक्षु आदि इन्द्रियाँ पर के लिये हैं, संघात होने से, शय्या आदि के समान ।

यहाँ सांख्यमतावलम्बियों के लिये यदि हेतु संघातत्व का प्रयोग किया जाय तो उक्त दोष होगा ।[3]

यद्यपि कुमारिल ने उक्त छः बाध दोषों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है किन्तु सिद्धान्ततः उन्हें एक धर्मिबाध ही अभिप्रेत है । यह दोष प्रतिज्ञा अर्थ का बाधक होने के कारण मुख्यतः 'धर्मिस्वरूप बाध' नामक एक ही प्रकार का होता है जिसके अवान्तर भेद किये गये हैं ।

वेदान्तपरिभाषा तथा उसकी टीकाओं -- शिखामणि, मणिप्रभा, अर्थदीपिका आदि में हेत्वाभासों का विवेचन या खण्डन उपलब्ध नहीं होता है ।

---

१. श्लो० वा० अनु० १०२-१०३

२. वही १०३-१०४

३. वही १०५-१०७

३.६.३ दृष्टान्ताभास

दृष्टान्ताभास, निदर्शनाभास अथवा उदाहरणाभास पर्याय ही हैं। दृष्टान्त साधर्म्य तथा वैधर्म्य दो प्रकार के होते हैं अत: साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा वैधर्म्य दृष्टान्ताभास दो प्रकार के दृष्टान्ताभास भी हुये। श्लोकवार्तिक में भी उक्त दो दृष्टान्ताभासों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसको रचनादोष तथा अर्थ अन्यथात्व दोषों में वर्गीकृत किया गया है। रचनादोष --'यत्र-यत्र धूम: तत्र तत्र वह्नि: यथा महानस:' तथा 'यत्र यत्र वह्न्यभाव: तत्र तत्र धूमाभाव: यथा ह्रद:' -- इन दो उदाहरणों में प्रथम साधर्म्य दृष्टान्त पाकशाला तथा द्वितीय वैधर्म्य दृष्टान्त जलाशय में नियत व्याप्तिक्रम की व्यवस्था की गयी है। किन्तु इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि 'यत्र यत्र वह्नि: तत्र तत्र धूम:' अथवा 'यत्र-यत्र धूमाभाव: तत्र तत्र वह्न्यभाव:' तो वह रचना दोष होगा। इस प्रकार विपरीत व्याप्ति का क्रम होना ही रचना दोष हुआ। अर्थान्यथात्व -- जब वाक्य का सम्यक् प्रयोग करने पर भी साध्य हेतु तथा व्याप्ति का अभाव होने के कारण यदि उस प्रकार का अर्थ निष्पन्न न हो तो वहाँ पर अर्थान्यथात्व दोष होता है। जैसे-- ध्वनि नित्य है, अमूर्त होने से, कर्म, परमाणु अथवा घट की भाँति। यहाँ प्रथम दृष्टान्तकर्म साध्यशून्य, द्वितीय दृष्टान्त परमाणु, साधनविहीन तथा अन्तिम दृष्टान्त घट में व्याप्ति का अभाव होने के कारण उभय-वैकल्य है। इसी प्रकार-- 'ध्वनि अनित्य है,मूर्त होने से 'अणु, बुद्धि अथवा आकाश के समान'[1]। इस प्रयोग में प्रथम दृष्टान्त अणु साध्याभाव, द्वितीय दृष्टान्त बुद्धि साधनाभाव तथा अन्तिम दृष्टान्त आकाश व्याप्ति के अभाव अर्थात् उभय से शून्य है। इस प्रकार, उचित क्रम के अनुसार व्याप्ति प्रतिपादन न होने से केवल साहित्यमात्र से व्याप्ति प्रतिपादन करना रचना दोष और उभयशून्य होने पर अर्थान्यथात्व दोष होता है।

---

१. श्लो० वा० अनु० १०७-२६

अपि च,

दृष्टव्य - भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ० ४००

- डा० ब्रजनारायण शर्मा

अधिकांश सिद्धान्तों में हेत्वाभास के अतिरिक्त अन्य आभासों का पृथक् वर्णन नहीं किया गया है क्योंकि हेत्वाभास के अवान्तर भेदों में किसी न किसी रूप में उनका अन्तर्भाव हो जाता है । श्लोकवार्तिक में अवयवत्रय का प्रयोग हुआ है अतएव तीन आभासों का भी वर्णन किया गया है जबकि वेदान्तपरिभाषा में हेत्वाभासादिकों का वर्णन नहीं प्राप्त होता है ।

-0-

चतुर्थ अध्याय

उपमान प्रमाण

४.१ लक्षण तथा स्वरूप

४.१.१ कुमारिल द्वारा न्यायमत का खण्डन

४.२ अन्य प्रमाणों में उपमान के अन्तर्भाव की सम्भावना

४.२.१ क्या उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हो सकता है ?

४.२.२ उपमान प्रमाण न तो अंशतः प्रत्यक्ष है और न ही अंशतः स्मृति।

४.२.३ क्या उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है ?

४.३ सादृश्य क्या है ?

४.४ उपमान प्रमाण का महत्व

उपमान प्रमाण

मीमांसा, अद्वैत वेदान्त तथा न्यायदर्शन ने प्रमा के साधन के रूप में 'उपमान' को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है। जैन, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य तथा योग इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में नहीं मानते। चार्वाक तथा बौद्ध तो उपमान का प्रामाण्य कथमपि स्वीकार नहीं करते, जबकि जैन, वैशेषिक, सांख्य तथा योग दर्शन ने उपमान का अप्रामाण्य तो नहीं बतलाया वरन् उसे अन्य प्रमाणों में ही अन्तर्भूत माना है। उपमान के स्वरूप के विषय में मीमांसा तथा न्याय के मत पूर्णतया भिन्न हैं जबकि भाट्ट तथा अद्वैत वेदान्त में समानता पाई जाती है। मीमांसासूत्रकार महर्षि जैमिनि ने उपमान के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। भाष्यकार शबर ने उपमान के स्वरूप पर प्रकाश डाला है जिसका स्पष्टीकरण प्रभाकर तथा कुमारिल ने अपनी-अपनी टीकाओं में किया है। इन दोनों के मतों में सूक्ष्म अन्तर यह है कि कुमारिल सादृश्य को केवल गुण मानते हैं, जो समान गुणों या धर्मों को धारण करने वाली एकाधिक वस्तुओं में अवस्थित रहता है जबकि प्रभाकर सादृश्य को गुण नहीं प्रत्युत एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। उपमान प्रमाण से सादृश्यज्ञान होता है - इस बात में वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों ही समानता रखते हैं। इन दोनों में ही उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण के रूप में माना गया है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्ष के पश्चात् क्रमश: अनुमान तथा उपमान का वर्णन किया है जबकि श्लोकवार्तिककार ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के पश्चात् उपमान प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रमाणों की क्रमविभाजक यह भिन्नता महत्त्वहीन है अत: सूचीकटाहन्याय से प्रत्यक्ष और अनुमान के पश्चात् उपमान प्रमाण का ही निरूपण किया जा रहा है।

४. १ लक्षण तथा स्वरूप :-

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'सादृश्य' प्रमा के

असाधारण कारण को उपमान प्रमाण बतलाया है।[1] नगरों में गोपिण्ड देखे हुए पुरुष के वन में जाने पर गवयपिण्ड के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर यह प्रतीति होती है कि 'अयं पिण्डो गोसदृशः' (यह पिण्ड गाय के समान है)। इसके पश्चात्, उसे निश्चय होता है कि इसी (गवय) के समान मेरी गाय है— 'अनेन सदृशी मदीया गौः'। इन दोनों निर्णयों में प्रथम (गवयपिण्ड गोपिण्ड के सदृश है) का ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय का गवयपिण्ड के साथ सन्निकर्ष होने पर ही गवय में रहने वाले गो के सादृश्य का ज्ञान होता है। गवय में रहने वाला गो के सादृश्य का यह ज्ञान ही करण होने से उपमान प्रमाण है तथा गो में रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान उपमिति रूप फल है।[2]

मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने उपमान के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु शबरस्वामी ने मीमांसासूत्रों के भाष्य में लिखा है 'उपमान सादृश्य है, जो उस वस्तु का ज्ञान कराता है जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है'।[3] उपमान की उपर्युक्त परिभाषा में शबर ने 'उपमान' शब्द का साधन (करण) के रूप में प्रयोग किया है। शबर ने अन्य प्रमाणों के वर्णनस्थल पर प्रमा रूप फल को ही परिभाषित किया है किन्तु उपमान का वर्णन करते समय उपमान प्रमाण अर्थात् साधन का लक्षण दिया है। शबर

---

1. तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम् ।

   — वे० प०, पृ० १६२

2. नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, 'अयं पिण्डो गोसदृश' इति । तदनन्तरं भवति निश्चयः, अनेन सदृशी मदीया गौरिति । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणम् । गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।

   — वही, पृ० १६२

3. उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति ।

   — शा० भा०, पृ० ३०

की व्याख्या नहीं कर पाती है, अतः शबर ने उसे इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है—'जिस प्रकार गवय का प्रत्यक्ष गोस्मरण का कारण है'[1]। ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त लक्षण में तो शबर ने उपमिति का कारण 'सादृश्य' बतलाया था, किन्तु उदाहरण में 'गवय-दर्शन' को करणरूप कहा है। यहाँ पर 'गवयदर्शन' से यथार्थतः 'गवय का दर्शन' अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत 'गवयदर्शन' से 'गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन' को करण मानना चाहिए और करणरूप होने के कारण 'गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन' उपमान प्रमाण हुआ। शबर के शब्दों में इस उपमान प्रमाण का फल 'गोस्मरण' है किन्तु कुमारिल तथा धर्मराजाध्वरीन्द्र दोनों ने ही गो में रहने वाले गवय के सादृश्य के ज्ञान को ही फल माना है। शबर के अनुसार उपमान का फल असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान है जो गोस्मरणरूप है। यहाँ स्मरण किया जाने वाला अर्थ 'गो' इन्द्रियासन्निकृष्ट है, किन्तु ऐसा मानने पर तो उपमान तथा स्मरण में कोई भेद नहीं रह जायेगा। इसी कारण कुमारिल ने शबर के इस मत का खण्डन इस प्रकार किया है—गोसादृश्यविशिष्ट गवय का प्रत्यक्ष जिस गोविषयक स्मरण की भांति उत्पन्न करता है, उसी स्मरण को उपमान कहा गया है। किन्तु, वह स्मरणात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तब तो देवताओं के ध्यानात्मक स्मरण तथा इस गोस्मरण में कोई भिन्नता ही नहीं रहेगी[2]।

कुमारिल ने गवयसादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो को अथवा पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य को उपमान का प्रमेय बतलाया है[3]। कोई व्यक्ति जिसने

---

1. यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य ।

   — शा० भा०, पृ० ३०

2. सदृशादृष्टवाक्येन या मतिः सदृशान्तरे ।
   ध्यानादिस्मृतितुल्यत्वात् सा प्रमाणं कथं भवेत् ॥

   — श्लो० वा०,उप० ४

3. तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
   प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ — श्लो० वा० उप० ३७

गाय को तो देखा है किन्तु गवय को कभी नहीं देखा है जब अरण्य में जाता है तथा गवय को देखता है तब वह गवय के प्रत्यक्ष के द्वारा उसमें गो के समान चिह्नों को पाता है। तत्पश्चात्, उसे स्मरण होता है कि पूर्वदृष्ट गो इस गवय के समान है और इसप्रकार गो में गवय के सादृश्य का ज्ञान प्राप्त करता है। गवय के सादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो ही उपमान का विषय (प्रमेय) है। कुमारिल ने 'वा' कहकर विकल्प के रूप में 'पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य' को भी उपमान का प्रमेय माना है। 'स्मृत गो गवय के सदृश है' यह ज्ञान ही उपमान प्रमाण का फल (प्रमा) हुआ। वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक में उपमान प्रमाण तथा उसके फल को लेकर समानता पाई जाती है क्योंकि दोनों ने ही गवय में रहने वाले गो के सादृश्य के ज्ञान को प्रमाण माना है तथा गो में रहने वाले गवय के सादृश्यज्ञान को फल माना है।

पार्थसारथि मिश्र भी इस विषय में कुमारिल से समानता रखते हैं। उन्होंने उपमान शब्द का प्रयोग 'फल' बतलाने के लिए किया है और इस प्रकार[1] उपमिति के अर्थ में उपमान शब्द का प्रयोग कर उपमान की परिभाषा दी है। नारायण पण्डित ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने भाट्ट मत के आधार पर रचित मानमेयोदय में उपमान प्रमाण तथा उपमिति को अलग-अलग स्पष्टरूप से परि-भाषित किया है।[2] वेदान्तपरिभाषा में भी[3] उपमान प्रमाण तथा उपमिति को स्पष्टरूपेण परिभाषित किया गया है। उपमान प्रमाण तथा उपमिति

---

१. पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम् — यथावनगामिनोऽरे दृष्टा गौः सानेन गवयेन सदृशीति ।

- शा० दी०, पृ० १४०

२. गवयस्थितसादृश्यधीं करणं मतम् ।
फलं गोगतसादृश्यज्ञानमित्यवगम्यताम् ॥

- मा०मे० पृ० ११०

३. ..... गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।

- वे० प०, पृ० १६२

के विषय में भाट्टानुयायियों तथा वेदान्तियों में पूर्णतया समानता पाई जाती है जिसको संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है -- ऐसा व्यक्ति, जिसने पहले गाय तो देखी है किन्तु गवय नहीं देखा है, वन में जाता है । गवय के प्रत्यक्ष से उसे ज्ञान होता है कि यह गवय, गाय के सदृश है । गवय गाय के सदृश है-- यह ज्ञान तो प्रत्यक्षजन्य है क्योंकि गवय के साथ नेत्रेन्द्रियसन्निकर्ष से हो रहा है । गवय के प्रत्यक्ष से उत्पन्न `गवय, गाय के सदृश है` यह सादृश्यज्ञान ही उपमान प्रमाण है । इसके पश्चात् उसे ज्ञान होता है कि `स्मरण की गई गाय इस गवय के सदृश है`--यह सादृश्यज्ञान उपमान का फल अर्थात् उपमिति है । प्रश्न उठता है कि उपमान तथा उपमिति दोनों ही सादृश्यज्ञानरूप हैं तब दोनों में भिन्नता क्या है ? इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम सादृश्यज्ञान, जो उपमान है, प्रत्यक्ष द्वारा होता है; तथा द्वितीय सादृश्यज्ञान, जो उपमिति है, वह प्रत्यक्ष द्वारा नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष के अनन्तर हुए सादृश्यज्ञान (अयं पिण्डो गोसदृशः) से होता है (अनेन सदृशी मदीया गौः) । वेदान्तपरिभाषाकार तथा कुमारिल के मतों में पूर्ण समानता होते हुए भी उपमान प्रमाण के फल के विषय में केवल यह भिन्नता है कि कुमारिल ने `सादृश्यं वा तदन्वितम्` कहकर फल के विषय में एक विकल्प भी[1] दिया है जबकि परिभाषाकार ने कोई अन्य विकल्प नहीं स्वीकार किया है ।

४.१.१. कुमारिल द्वारा न्याय मत का खण्डन :-

न्यायसूत्रकार आचार्य गौतम ने उपमान का लक्षण इसप्रकार दिया है --प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने वाला उपमान प्रमाण होता

---

१. तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ।।
- श्लो० वा० उप० ३७

है।[1] वात्स्यायन ने संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध को उपमान प्रमाण का फल माना है। प्राच्य तथा नव्य नैयायिकों के मतों में उपमान प्रमाण (करण) को लेकर भिन्नता पाई जाती है क्योंकि प्राच्य नैयायिक आप्त पुरुष के वचन (अतिदेशवाक्य) को ही करण मानते हैं जबकि नव्य नैयायिक अतिदेशवाक्यस्मृतिसापेक्ष सादृश्य के इन्द्रियजन्य ज्ञान को करण के रूप में स्वीकार करते हैं। कुमारिल ने इन दोनों प्रकार के नैयायिकों के उपमानविषयक सिद्धान्तों की आलोचना की है। प्राच्य नैयायिकों के उपमान प्रमाण को कुमारिल ने शब्दप्रमाण में ही अन्तर्भूत माना है, क्योंकि नैयायिक आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते हैं[2] तथा उपमान भी आरण्यक के 'यथा गौर्गवयस्तथा' इस अतिदेशवाक्य के द्वारा होता है, अतः उपमान आगम प्रमाण से भिन्न नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि शबरस्वामी ने उपमान का पृथक् लक्षण प्रस्तुत किया है। आरण्य-वासी पर विश्वास करने के कारण ही उस पुरुष को गवय का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति से पूछने पर कि 'अमुक वस्तु कहाँ है'? उस वस्तु का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है।[3]

---

१. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।

- न्या० सू० ६

२. आप्तोपदेशः शब्दः ।

- न्या० सू० ७

३. 'कीदृग्गवय' इत्येवं पृष्टो नागरिकैर्यदि ।
ब्रवीत्यारण्यको वाक्यं 'यथा गौर्गवयस्तथा' ।।
तत्रासन्नमुपमानत्वं प्रसिद्धं शाबरे पुनः ।
तस्यागमाविनिर्भेदाद् अन्यत्रोपमानितम् ।।
पुरुषप्रत्ययेनैव तदर्थः सम्प्रतीयते ।
तदीयवचनत्वेन तस्मादागम एव सः ।।

- श्लो० वा० उप० १-३

उद्योतकर आदि अन्य नैयायिकों के अनुसार जिज्ञासु व्यक्ति 'गाय के सदृश गवय होता है' इस अतिदेशवाक्य को आरण्यकवासी से सुनकर अरण्य में जाता है तथा एक ऐसे पिण्ड का दर्शन करता है जो गोसदृश है। उस अतिदेशवाक्य के स्मरण के साथ यह सादृश्यज्ञान ही उपमान है। किञ्च, यह सादृश्यज्ञान इन्द्रियजन्य है जो स्मरण के साथ अप्रसिद्ध पिण्ड (गवय) में प्रसिद्ध पिण्ड (गो) का सादृश्य उत्पन्न करता है। अतः अतिदेशवाक्यस्मृतिसापेक्ष सादृश्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान ही उपमान प्रमाण होता है तथा उपमान प्रमाण से जन्य 'यह पिण्ड गवय शब्द वाच्य है' इस प्रकार के संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान ही उसका फल अर्थात् उपमिति है।[1] कुमारिल ने उपर्युक्त नैयायिक मत का भी खण्डन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार न्याय का यह उपमान स्मृति सहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें गवय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय में गोसादृश्य, अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्वकथित होने के कारण पूर्वानुभूत है, अतः वह स्मृति है। इस पर नैयायिक यह कह सकते हैं कि गवय तथा सादृश्य का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष तथा स्मृति से होता है तथापि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान न तो स्मृति से होता है और न ही प्रत्यक्ष से वरन् उपमान नामक पृथक् प्रमाण से ही होता है। कुमारिल का कथन है कि इसको स्वीकार करने से पूर्व यह परीक्षा करनी चाहिए कि गोसादृश्ययुक्त अर्थ का ज्ञान अतिदेशवाक्य से अधिक होता है या उतना ही होता है जितना अतिदेशवाक्य में कहा गया है अर्थात् अतिदेशवाक्य की अपेक्षा अगृहीतग्राहिता है अथवा नहीं है। यदि नहीं है तो यह सादृश्यज्ञान स्मृति ही है अतः प्रमाण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अतिदेशवाक्य से तो केवल सामान्यज्ञान ही होता है तथा सादृश्य के ज्ञान से इसमें विशिष्टता आती है अतः इसमें अगृहीतग्राहिता है, तो कुमारिल के अनुसार इस अगृहीतग्राहिता को

---

१. न्यायवार्तिक पृ० १६६- पं० ६ तथा न्यायमञ्जरी १, पृ० १२६ पं० १४-१६ तात्पर्यटीका पृ० १६७, पं० २०-२४ ।

प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात हो जाना चाहिए अतः उपमान को पृथक् प्रमाण मानना ही व्यर्थ है । इस पर यदि नैयायिक यह कहें कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता क्योंकि उस काल में गाय परोक्ष है; तो उनका कथन असंगत है क्योंकि कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान तभी होता है जब इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं (इन्द्रियाँ करण होती हैं) नेत्रेन्द्रिय के खुले रहने पर ही यह देखा जा सकता है कि 'यह पशु गोसदृश है', नेत्रेन्द्रिय के बन्द रहने पर यह ज्ञान कदापि नहीं हो सकता ; अतः सादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान से इतर नहीं है । गवय का गोसदृश होना अंशतः गवय तथा अंशतः गाय में भी नहीं रहता है अतएव गाय का परोक्ष होना सादृश्य के प्रत्यक्ष में किसी प्रकार भी बाधक नहीं है । गवय तथा उसमें स्थित सादृश्य दोनों का ही प्रत्यक्ष होता है । किञ्च, अतिदेशवाक्य भी व्यर्थ है क्योंकि जिसने अतिदेशवाक्य को नहीं सुना है किन्तु गो को नेत्रों से प्रत्यक्ष किया है उस व्यक्ति को भी गवय के देखने पर 'अयं गोसदृशः' रूप ज्ञान होता है । यह सच है कि इस प्रकार के व्यक्ति को वाक्यानुसन्धान नहीं होता, और 'गवय' पद में गवयपदवाच्यत्व की प्रतीति न होने से कोई हानि नहीं है क्योंकि उपमान के द्वारा सादृश्य का ही ज्ञान होता है और यह सादृश्यज्ञान तो अतिदेशवाक्य के बिना भी हो जाता है । शब्दार्थसम्बन्ध (संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध) का ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा होता है यह भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार का संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध तो अतिदेशवाक्य द्वारा ही ज्ञात हो जाता है । अतः उपमान नामक नवीन प्रमाण के मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? इसके अतिरिक्त गवय के प्रत्यक्ष से 'अयं गवयपदवाच्यः' यह ज्ञान होता है जो सविकल्पक प्रत्यक्ष ही है अतः कुमारिल का कथन है कि नैयायिक मत में तो सादृश्यज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है जिससे उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । अतः कुमारिल भट्ट के

अनुसार सादृश्ययुक्तार्थरूप प्रमेय को असाधारण होना चाहिए ।[1]

कुमारिल तथा न्याय दोनों मतों में उपमान को सादृश्यज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु उपमान प्रमाण के फल में दोनों में भिन्नता है । न्यायमत में सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान ही उपमान का फल माना गया है (अयं गवयपदवाच्यः) किन्तु कुमारिल ने सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध को उपमान का फल न मानकर परोक्ष गौ में गवय के सादृश्यज्ञान को उपमान प्रमाण का फल माना है (अनेन सदृशी मदीया गौः) वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक का उपमान प्रमाण तथा फल को लेकर पूर्णतया साम्य स्पष्ट प्रतिपादित किया जा चुका है ।

---

१. श्रुतातिदेशवाक्यानामरण्ये गवये मतिः ।
   या सोपमानं केषाञ्चिद् गोसादृश्यानुरञ्जिता ॥ -श्लो० वा० उप ६
   प्रत्यक्षेणावगतत्वात् सादृश्यस्मृतिरस्तु तु ।
   गवसादृश्ययुक्तेऽर्थे न स्मृतीन्द्रियाद् गतिः ॥ - वही ७
   पूर्ववाक्यार्थविज्ञानान्नाधिकं गवये यदि ।
   स्मरणादविशिष्टत्वात् तद्गतेर्न प्रमाणता ॥ - वही ८
   अथ त्वधिकता काचित् प्रत्यक्षादिगताद् भवेत् ।
   यावदीन्द्रियसम्बन्धस्तावत् प्रत्यक्षमिति स्थितम् ॥ - वही ९
   स्मर्यमाणस्य चांशस्य विवेकेनाप्रमाणता ।
   श्रुतातिदेशवाक्यत्वं न चातीवोपयुज्यते ॥ - वही १०
   येऽपि ह्यश्रुततद्वाक्यास्तेषामपि भवत्यदः ।
   प्रत्यक्षदृष्टगोत्वानां गवि गवयदर्शिनाम् ॥ - वही ११
   अथ च ज्ञानमुत्पन्नं तेषां नास्तीति कथ्यते ।
   न नाम वस्तु तत् तावद् यथा तैः प्रतीयते ॥ - वही १२
   न च शब्दार्थसम्बन्धः प्रमेयोऽत्र तदिष्यते ।
   सादृश्यमात्रमुक्ते वाक्ये वाक्यावयवगो यथा ॥ - वही १३
   दृष्टानुमितार्थेऽपि प्रत्यक्षमुपपादितम् ।
   तस्मात् सादृश्ययुक्तार्थः प्रमेयोऽपूर्व उच्यताम् ॥ - वही १५
   अपि च, द्रष्टव्य उपर्युक्त कारिकाओं पर 'काशिका' टीका ।

४.२ अन्य प्रमाणों में उपमान के अन्तर्भाव की सम्भावना

४.२.१ क्या उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हो सकता है ?

सांख्य दर्शन ने प्रत्यक्ष में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव किया है। उसके अनुसार गवय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है। ठीक उसी प्रकार 'गो' का स्मरण होने के पश्चात् 'गो' में रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान[1] (जिसे वेदान्त तथा मीमांसा में उपमिति कहा गया है) प्रत्यक्षरूप ही है। गवय में भासित होने वाला सादृश्य गो में भासित होने वाले सादृश्य से भिन्न नहीं है। गवयनिष्ठ सादृश्य ही गोनिष्ठ है क्योंकि किसी एक जाति का अन्य जाति में रहने वाले भूयोऽवयव-सामान्ययोग (बहुत से अवयवों के साम्यरूप सम्बन्ध) को ही सादृश्य कहते हैं। इस प्रकार के सादृश्य का गवय में जिसप्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, उसी प्रकार गो में भी उसका प्रत्यक्ष होना ही उचित है। इसी कारण सादृश्य प्रमाणान्तर नहीं है, उसका प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु, सांख्याचार्यों का यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि 'गोसदृशो गवयः' इस ज्ञान में गवय में गो का सादृश्य भासित होता है अतः इस सादृश्य का धर्मी या अनुयोगी तो 'गवय' है तथा 'गो' प्रतियोगी है, किन्तु 'गवय सदृशी गौः' इस ज्ञान में गो धर्मी या अनुयोगी है तथा गवय प्रतियोगी। अतः प्रत्येक व्यक्ति में 'सादृश्य' पृथक् पृथक् होता है। इसी कारण गवयप्रत्यक्ष में गवय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है अतः तद्गत सादृश्य प्रत्यक्ष भासित होता है किन्तु 'गो' व्यक्ति के वहाँ पर उस समय समीप न होने से उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता इसलिए गोनिष्ठसादृश्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता।[2] यही

---

१. अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् ।
— त० कौ०, पृ० १२७

२. न चेदं प्रत्यक्षेण सम्भवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात् ।
— वे० प०, पृ० १६४

कारण है कि वेदान्तपरिभाषाकार ने उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं माना है। श्लोकवार्तिक में भी उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं स्वीकार किया गया है। वार्तिककार कुमारिल के अनुसार, गवय का प्रत्यक्ष होता है तथा गोसादृश्य स्मृति का विषय है किन्तु, `गोसादृश्य-विशिष्ट गवय` (सादृश्य युक्त अर्थ) पूर्वज्ञात नहीं है इसीलिए वह न तो स्मृति हो सकता है और न ही विशिष्ट प्रत्यक्ष द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है[1] अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न उपमान प्रमाण माना गया है।

४.२.२. उपमान प्रमाण न तो अंशतः प्रत्यक्ष है और न ही अंशतः स्मृति—

कुछ आलोचकों की मान्यता है कि `मेरी गाय इस गवय के सदृश है` इसमें उद्देश्य पद गाय का ज्ञान तो स्मृति से होता है तथा विधेय पद `गवय के सदृश` का ज्ञान गवय में सादृश्य के आधार पर प्रत्यक्ष से होता है। इसप्रकार `गौ` का स्मृति से तथा `गवय` का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने पर `उपमान` नामक अन्य प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसका समाधान श्लोकवार्तिककार इस प्रकार करते हैं कि स्मर्यमाण गोनिष्ठ गवय के सादृश्य का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जो किसी अन्य प्रमाण से सम्भव नहीं है जो किसी अन्य प्रमाण से सम्भव नहीं है अतः उपमान की प्रमाणता सिद्ध है[2]। यदि आलोचक की बात पर ध्यान दिया जाय तब तो अनुमान को भी स्वतन्त्र

---

१. प्रत्यक्षो गवयस्तावत् सादृश्यस्मृतिरत्र तु ।
न तु सादृश्ययुक्तोऽर्थो न स्मृतेरिन्द्रियात् मतिः ॥
— श्लो० वा० उप० ७

२. प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥
— वही ३८

प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि --

'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है,

यह पर्वत धूमवान् है,

अत:, यह पर्वत वह्निमान् है' -- इस अनुमान में 'यह पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमिति की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि पर्वत का ज्ञान तो प्रत्यक्ष द्वारा होता है तथा वह्नि का ज्ञान स्मृति द्वारा हो जाता है। किन्तु, जिस प्रकार पर्वतादि देश का ग्रहण प्रत्यक्ष से तथा वह्नि आदि साध्य का ग्रहण स्मृति से होता है तथापि 'वह्निविशिष्ट-पर्वत' रूप विषय के ग्रहण के लिए अनुमान की प्रमाणता होती है[1] उसी प्रकार गवयसादृश्यविशिष्ट गौ के ज्ञान के लिए उपमान की प्रमाणता सिद्ध होती है। इसीकारण वेदान्त-परिभाषा तथा श्लोकवार्तिक में उपमान की प्रमाणता सिद्ध किया गया है।

४.२.३. क्या उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है?

प्रमाणद्वयवादी वैशेषिक अनुमान में ही उपमान को अन्तर्भूत मानते हैं। वैशेषिकों की इस मान्यता का निराकरण करने के लिए वेदान्तपरिभाषा-कार का कथन है कि अनुमान प्रमाण से सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि गवय में रहने वाला गौ का सादृश्य गौ में रहने वाले गवय के सादृश्य का लिङ्ग[2] (साधक हेतु) नहीं बन सकता। अनुमान प्रमाण में उपमान का अन्तर्भाव मानने वाले वैशेषिकों के अनुसार अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा--

प्रतिज्ञा -- मेरी गौ इस गवय से निरूपित (गवयप्रतियोगिक) सादृश्य से युक्त है,

---

१. प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके।
विशिष्टविषयत्वेन नानुमानप्रमाणता ॥
- श्लो० वा० उप० ३६

२. नाप्यनुमानेन गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात्।
- वे० प०, पृ० १६४

हेतु -- क्योंकि वह गोनिरूपित (गोप्रतियोगिक अर्थात् 'गो' जिसका प्रतियोगी है तथा गवय जिसका अनुयोगी है) सादृश्य से युक्त है,

उदाहरण- इस गवय के समान ।

किन्तु, वैशेषिकों का यह अनुमान सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें 'गोप्रतियोगिक सादृश्यरूप हेतु' पक्ष में नहीं रहता (स्वरूपासिद्धि दोष)। गो में गवयनिरूपित सादृश्य रहेगा किन्तु गो में गोप्रतियोगिक सादृश्य (स्वयं गो का सादृश्य) भला कैसे रह सकता है ? इस प्रकार हेतु के पक्ष में न रहने से साध्यसिद्धि सम्भव नहीं हो सकती, अतः इसे अनुमान नहीं माना जा सकता है। उपर्युक्त दोष के निवारणार्थ यदि वैशेषिक निम्न प्रकार से अनुमान करते हैं —

प्रतिज्ञा -- मेरी गाय इस गवय जैसी है,

हेतु -- क्योंकि उसमें एतद्गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है,

उदाहरण -- जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके जैसा होता है। जैसे - चैत्र मैत्रगत सादृश्य का प्रतियोगी होने से मैत्रसदृश है,/ अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य होगा ।

और, इस अनुमान के द्वारा उपमान को अनुमान में ही अन्तर्भूत मानते हैं, तब एक असङ्गति और उत्पन्न होती है। वेदान्तपरिभाषा में वर्णित है कि यद्यपि उपर्युक्त अनुमान निर्दोष है तथापि इस अनुमान के बिना भी 'मेरी गौ इस गवय के सदृश है' —यह अनुभवसिद्ध ज्ञान होता है। फिर, सदैव ही 'अहं उपमिनोमि' अर्थात् मैं उपमान करता हूँ - ऐसा अनुव्यवसाय होता है ; 'अहं अनुमिनोमि' यह अनुव्यवसाय कदापि नहीं होता है। अतः गोनिष्ठ गवयसादृश्य अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक ही है। इसी कारण उपमान

एक स्वतन्त्र प्रमाण है।[1]

वेदान्तपरिभाषा की ही भाँति श्लोकवार्तिक में भी अनुमान में उपमान को अन्तर्भूत नहीं माना गया है। कुमारिल का यह प्रमुख तर्क है कि उपमान में अनुमान के लिए आवश्यक शर्तों की पूर्ति नहीं हो पाती है अत: उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता है। अनुमान के लिए तो 'व्याप्ति' आवश्यक है साथ ही हेतु की पक्ष में स्थिति भी आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक की भी अनुपस्थिति से अनुमान दूषित हो जाता है। हेतु तथा साध्य का सार्वभौम सम्बन्ध होने के साथ ही हेतु को पक्ष में रहना भी चाहिए। ऐसा न होने पर हेत्वाभास हो जाता है। प्रकृत में पक्षधर्मता का अभाव है इसीलिए अनुमान प्रमाण नहीं माना जा सकता है।[2] सादृश्य को हेतु नहीं माना जा सकता। हेतु मान लेने पर वह पक्ष में नहीं रहता क्योंकि उपमिति के पहले धर्म के रूप में इसकी स्थिति नहीं रहती है।[3] यथाहि, गोगत गवय 'सादृश्य' को गोस्वरूप पक्ष का धर्म उपमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है। यह सादृश्यरूप धर्म गोस्वरूप पक्ष में उपमिति के पूर्व नहीं रहता है। किञ्च, गवयनिष्ठ गोसादृश्य भी हेतु नहीं हो सकता

---

१. नापि 'मदीया गौरेतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यो यन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृशः, यथा 'मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृश' इत्यनुमानादेवेदं इति वाच्यम्। एवंविधानुमानानवतारेऽपि अनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।

— वे० प०, पृ० ११६

२. न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्।

३. प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं न धर्मत्वेन गृह्यते ।।

— श्लो० वा० उप० ४३

क्योंकि यह गवय में दृष्टिगत होता है तथा गो रूप पक्ष से असम्बद्ध होता है जबकि हेतु को पक्ष से सम्बन्धित होना चाहिए। गोगत गवयसादृश्य को हेतु मानने में एक बाधा यह है कि 'गौः गवयसादृश्यवान्' इस प्रतिज्ञा का 'गवयसादृश्य' एक अंश ही है।[1] गोसादृश्यविशिष्ट गवय भी हेतु नहीं बन सकता क्योंकि यह गोस्वरूप पक्ष का धर्म नहीं है। इसके अतिरिक्त इसी के द्वारा गवय का यह सादृश्य गोसादृश्य के साथ व्याप्ति रूप में नहीं देखा जाता। गवय का दर्शन तो प्रथम बार होता है और व्याप्ति के लिए भूयो सहचारदर्शन आवश्यक है। एवं जिस व्यक्ति ने गो तथा गवय को एक ही समय में नहीं देखा है वरन् गो को देखने के पश्चात् वन में जाकर गवय देखता है उसको भी गो में गवय के सादृश्य की प्रतीति होती है। यह प्रतीति[2] अनुमान से नहीं हो सकती है। अतः उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है। यदि विपक्षी कहता है कि गोगत-गवयसादृश्य का अनुमापक दोनों में रहने वाले शृङ्ग आदि धर्म हैं तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि शृङ्गित्वादि धर्म तो गवय में केवल सादृश्यज्ञान को उत्पन्न करके ही उपक्षीण (कृतार्थ) हो जाते हैं। अतएव उनसे भी गो में गवय के

---

१. गवये गृह्यमाणं च न गवामनुमापकम् ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥

— श्लो० वा० उप० ४४

२. गवयस्याप्यसम्बन्धान्न गोर्लिङ्गत्वमृच्छति ।
सादृश्यं न च धर्मेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥

— वही ४५

एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने ।
सादृश्येन सहैवास्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥

— वही ४६

सादृश्य का ज्ञान नहीं हो पाता।[1] वार्त्तिककार का कथन है कि यदि शृङ्ग-गत्वादि द्वारा कुछ प्रतीति हो, तो वह प्रतीति सादृश्यरहित होगी क्योंकि 'गौ' शृङ्गादि के सदृश न होकर गवय के सदृश होता है।[2] शृङ्गादि के प्रत्यक्ष से गौ का गवयसदृश होना सिद्ध नहीं हो पाता है। सर्वप्रथम शृङ्ग-गत्वादि का प्रत्यक्ष होता है तत्पश्चात् गवय में गोसादृश्य की प्रतीति होती है और तब यह निश्चित होता है कि 'गौ गवय के सदृश है'।[3] इस प्रकार प्रथम चरण (शृङ्गादि का प्रत्यक्ष) तृतीय चरण (गौ का गवय के सदृश होना) का लिङ्ग नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शृङ्गादि अवयवों के सादृश्य से तो अवयवों की समानता का ही ज्ञान हो सकता है न कि 'सम्पूर्ण व्यक्ति का'।[4] शृङ्गादि तो गौ का अनुमापक लिङ्ग भी नहीं है।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्त्तिक दोनों में ही उपमान प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत मानने वाले मतों का खण्डन किया गया है।

---

१. शृङ्गगत्वादेरथोच्येत सम्बन्धाल्लिङ्गता गवि ? ।
न तेषां गवयज्ञानव्यापारं प्रत्युपस्थयात् ।।
— श्लो० वा० उप० ४७

२. यदि तेभ्यः प्रतीतिः स्यान्निःसादृश्यैव सा भवेत् ।
न गौः शृङ्गादिसदृशी सदृशी गवयेन तु ।।
— वही ४८

३. सदृशप्रत्ययं दृष्ट्वा शृङ्गादिप्रत्ययात् परम् ।
गवयप्रत्ययादेव गोज्ञानमुपजायते ।।
— वही ४९

४. सदृशावयवत्वे तु तेषामेवोपमा भवेत् ।
न च शृङ्गादयो यत्र तत्र गौरनुमीयते ।।
— वही ५०

४.३ सादृश्य क्या है ?

उपमान प्रमाण द्वारा सादृश्य का ज्ञान होता है। प्रश्न उठता है कि यह सादृश्य है क्या ? इसका विवेचन श्लोकवार्तिक में प्राप्त होता है। कुमारिल ने सादृश्य को गुण माना है, जबकि प्रभाकर इसे पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। कुमारिल के अनुसार सादृश्य की वास्तविक सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1] सादृश्य का लक्षण इसप्रकार किया गया है -- दो गो व्यक्तियों में गोत्वरूप एक जाति होने के कारण समानता होती है, किन्तु जहाँ इस समानता का कारण जाति नहीं होता वरन् बहुत से अवयवों का समानयोग होता है, वह सादृश्य है।[2] अर्थात्, विभिन्न जातियों वाले व्यक्तियों में अवयवों की समानता को ही सादृश्य कहते हैं। इस समानता का कारण जाति नहीं वरन् बहुत से अवयवों का सामान्ययोग होना चाहिए। जैसे, गो में गोत्व जाति है तथा गवय में गवयत्व जाति है। अतः, गो की गवय के साथ समानता में जाति कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जाति के द्वारा तो दोनों की भिन्नता का ही ज्ञान होता है। अतः जाति नहीं, वरन् बहुत से अवयवों की समानता ही सादृश्य है। कुमारिल ने सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ नहीं माना है। पार्थसारथि मिश्र ने इसे स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, भिन्न जातियों में रहने वाला जो सम्बन्धिसामान्य है उसका भिन्न जाति का वैसा ही योग सादृश्य कहलाता है।[3] जिस प्रकार, गो जाति में रहने वाला जो

---

1. सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम् ।
2. भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तु ।।

   - श्लो० वा० उप० १८

3. किं पुनः सादृश्यम् ? जात्यन्तरवर्तिभिः सम्बन्धिसामान्यैर्जात्यन्तरस्य सादृश्ययोगः सादृश्यम् ।

   - शा० दी०, पृ० १५०

कर्ण आदि अवयवसामान्य हैं, उनका गवय जाति में योग, गवय का गौ के साथ सादृश्य है।[1] सामान्य (जाति) तो अनुवृत्ति का ज्ञान कराती है जैसे गोत्व जाति के कारण ही सभी गायों में 'यह गाय है, यह गाय है'— ऐसी प्रतीति होती है। भट्ट के अनुसार सादृश्य, सामान्य अथवा जाति से भिन्न है, जिसके कारण ही सादृश्यज्ञान होता है न कि अनुवृत्तिज्ञान। यह सादृश्य सामान्य में भी होता है अतः सामान्य से भिन्न है। यह सादृश्य केवल अवयवी में ही नहीं होता वरन् उसके अवयवों में भी होता है। कुमारिल एक उदाहरण द्वारा इसको स्पष्ट करते हैं। कमल के दल के सदृश स्त्री का नेत्र है—यह सादृश्य अवयवों की समानता पर ही आधारित है।[2] इस प्रकार अवयवी उसके अवयवों तथा अवयवों के भी अवयवों में समानता के आधार पर सादृश्य होता है जब तक कि अवयवों के अवयव परमाणुपर्यन्त न पहुँच जायें। द्व्यणुकपर्यन्त तक तो अवयव परम्परा से समानता के आधार पर सादृश्य होता है। परमाणु में अवयवों के न होने पर वहाँ सादृश्य नहीं होता वरन् सामान्य रूप परमाणुत्व ही समानता का आधार होता है।[3] यह नहीं कहा जा सकता है कि इस वस्तु के परमाणु उस वस्तु के परमाणु समान हैं। अतः सादृश्य तो अवयवी में ही होता है निरवयव परमाणुओं में नहीं। निरवयव परमाणुओं को समान तो कहा जा सकता है किन्तु सदृश नहीं।

---

१. यथा गोजातियोगिभिः कर्णाद्यवयवसामान्यैर्गवयजातेर्योगो गवयस्य गोसादृश्यम्।

— शा० दी०, पृ० १५०

२. सदृशावयवत्वं तु यत्र पद्मदलादिवत्।
तत्र स्वकस्वकावयवसामान्ययुक्ता तेषां भविष्यति॥

— श्लो० वा० उप० १९

३. सदृशावयवत्वं तु यत्र नाम प्रतीयते।
तदप्यवयवानां स्यात् समानावयवान्तरैः॥

— वही २७

एवं तावद् यतो नास्ति परानेककल्पना।
ततः परं तु सामान्यं भवेत् सादृश्यवर्जितम्॥

— वही २८

यह सादृश्य केवल अवयवों में ही नहीं होता है वरन् (१) जाति, (२) गुण, (३) द्रव्य,(४) क्रिया,(५) शक्ति एवं (६) स्वधर्म प्रभृति सामान्य (समानता) के योग से अर्थात् कहीं एक सामान्य के योग से तथा कहीं दो[1] सामान्यों के योग से और कहीं तीन सामान्यों के योग से विविध होता है। पार्थसारथि मिश्र ने बतलाया है कि जन्ममूलक सादृश्य का व्यवहार अग्नि तथा ब्राह्मण में होता है क्योंकि दोनों ही 'प्रजापति' के मुख से उत्पन्न हुए हैं। गुणसामान्य के योग से दो मित्रों में सादृश्य व्यवहृत होता है। द्रव्यों का सादृश्य समान अलङ्कार धारण करने वालों अथवा समान धनवान पुरुषों में होता है। क्रिया सामान्य (समानता) के योग से श्येनयाग में अन्य यागों से सादृश्य का व्यवहार होता है। समान शक्ति के कारण सिंह तथा देवदत्त में सादृश्य का व्यवहार होता है (सिंहो वै देवदत्तः)। प्रथमावस्थारांश[2] तथा द्वितीय प्रवाह में स्वधर्म सामान्य-योग से सादृश्य का व्यवहार होता है। सादृश्य की परिभाषा से प्रतीत होता है कि यह सादृश्य दो वर्गों के ही मध्य होता है जैसे गौ तथा गवय दो वर्गों के प्रतिनिधि हैं, किन्तु कुमारिल दो व्यक्तियों में भी सादृश्य मानते हैं जो एक ही वर्ग 'मानव' के सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त, सादृश्य के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह बहुत में ही विद्यमान रहे। यह सादृश्य कभी बहुत तथा कभी कम व्यक्तियों में भी होता है तभी तो यमज में भी सादृश्य बतलाया जाता है, जबकि वहां व्यक्ति दो ही हैं।

---

१. एवं जातिगुणद्रव्यक्रियाशक्तिस्वधर्मतः ।
एकद्वित्रिसमस्तत्वभेदाभेदेन भिन्नता ॥
— श्लो० वा० उप० २०

२. न्यायरत्नाकर, पृ० ४१२

३. यमयोः कपोतयोर्हि दृष्टत्वात् किञ्चिदुच्यते ।
क्वचिद्धि भूयसामेव क्वचिदल्पीयसामपि ॥
— श्लो० वा० उप० २२

४.४ उपमान प्रमाण का महत्त्व

वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म साक्षात्कार के लिए उपमान प्रमाण का कोई उपयोग दृष्टिगत नहीं होता । अनुमान के द्वारा जगत् मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है अतः इस प्रमाण को मानना सर्वथा असङ्गत है -- ऐसे पूर्वपक्ष के निराकरण में वेदान्त का कथन है कि ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व तक चित्तशुद्धि के लिए वेदोक्त कर्म का सम्पादन अत्यन्तावश्यक है अतः वेदोक्त कर्म के सम्पादन की विधि जानना आवश्यक है । वेदोक्त कर्म के विषय में यह नियम है कि 'प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या' अर्थात् सम्पूर्ण अङ्ग वाले प्रकृति यागों के समान ही अल्प अङ्ग वाले विकृति यागों को करना चाहिए । प्रकृति तथा विकृति यागों के रूप में श्रौतयाग दो प्रकार के होते हैं । वेदान्त मत में ब्रह्मसाक्षात्कार हेतु चित्तशुद्धि आवश्यक है तथा श्रौतकर्मानुष्ठान से ही चित्तशुद्धि सम्भव है । उस श्रौत कर्मानुष्ठान के विधानज्ञानार्थ उपमान प्रमाण की आवश्यकता होती है क्योंकि दर्शपूर्णमासादि प्रकृति यागों के समान ही सौर्यादि विकृति यागों को करना चाहिए- इस प्रकार का सादृश्यमूलक ज्ञान उपमान प्रमाण से ही सम्भव है । कुमारिल ने भी उपमान प्रमाण की इस उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित कराया है । उनके अनुसार सौर्य याग में होने वाले क्रियाकलापों का वर्णन अप्राप्त होने तथा आग्नेय याग का विस्तृत वर्णन प्राप्त होने के कारण सौर्य याग भी आग्नेय याग की ही भाँति सम्पादित होता है, क्योंकि दोनों ही यागों के अधिष्ठाता एक ही हैं, अतः उपमान प्रमाण द्वारा दोनों का सादृश्य ज्ञापित होता है।[१] इसके अतिरिक्त, यज्ञहेतु व्रीहि की आवश्यकता होती है किन्तु व्रीहि के नष्ट हो जाने अथवा उसके चुरा लिए जाने पर उसके प्रतिनिधि के

---

१ ....सौर्यादिक्रियाकर्मेष्वपि दृश्यताम् ।
सादृश्यतो ऽन्यथा विद्धं कथं नु
प्रत्यायकैरित्युपलभ्यते नः ।।
- श्लो० वा० उप० ५२

रूप में नीवार का याज्ञिक प्रयोग किया जा सकता है। यह विश्वास रहता है कि दोनों का फल समान ही होगा। इसप्रकार सादृश्य के आधार पर 'व्रीहिभिर्यजेत' से प्राप्त व्रीहि की अप्राप्ति[1] दशा में व्रीहिसदृश नीवार नामक अन्न से यागसम्पादन किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उपमान प्रमाण से जगत् में रजतसादृश्य की सिद्धि होती है। अत: जैसे 'इदं रजतम्' में अध्यस्त रजत मिथ्या है उसी प्रकार ब्रह्म में अध्यस्त जगत् मिथ्या है।

वेदान्त तथा मीमांसा मतों में उक्त कारणों से उपमान प्रमाण महत्त्वपूर्ण माना गया है।

---

१. प्रतिनिधिरपि चैवं व्रीहिसादृश्ययोगात्,
भवति तदपचारे यत्र नीवारजातौ।
तदपि फलमभीष्टं तदा तस्योपमाया:
- श्लो० वा० उप० ५३

५ वाँ अध्याय

शब्द प्रमाण

शब्द प्रमाण

संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में शब्द एवं अर्थ की अवधारणा का पर्याप्त विकास हो चुका था। प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ ऋग्वेद में भाषा के स्वरूप पर विचार किया जाने लगा था। वैदिक ऋषियों ने वाक् की स्थिति ब्रह्म पर्यन्त मानी[1] तथा वाक्-व्यवहार एवं अर्थबोध को वाक् पर निर्भर माना। उपनिषदों में भाषा का सर्वोच्च रूप दृष्टिगत होता है। वस्तुत: सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय लेखन परम्परा के अभाव में श्रवणपरम्परायुक्त होने के कारण शब्दरूप ही था।

जहाँ पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भी गति नहीं होती वहाँ पर शब्द प्रमाण से अर्थबोध होता है। वेदान्त दर्शन में तो श्रुति प्रमाण का विशेष महत्त्व है। आचार्य शङ्कर तथा उनके परवर्ती विद्वानों ने भी शब्द के प्रामाण्य को मान्यता दी तथा उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया। मीमांसाचार्यों ने शब्दप्रमाण को एकमात्र धर्मज्ञान का स्रोत बताया। क्रिया-प्रवर्तक वेदवाक्यों के द्वारा ज्ञापित विषय को धर्म कहते हैं[2] और इस चोदना विधान में केवल शब्द ही समर्थ है[3] क्योंकि शब्दों में प्रत्यक्षायोग्यता तथा अर्थों को सङ्केतित करने की नित्य शक्ति होती है। उच्चरित पदों से होने वाले अर्थबोध के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पदों से स्पष्ट होने वाला अर्थ केवल पदों पर ही

---

१. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

— ऋ० सं० १०।१०।११४। ८

२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

— मी० सू० १।१।२

३. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।

— मी० सू० १।१।५

अवलम्बित है । प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्षीय होने के कारण धर्म का स्वरूप निश्चित कराने में असमर्थ हैं और अनुमान तथा उपमान में भी (प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण) धर्म का स्वरूप स्पष्ट करने का सामर्थ्य नहीं है । तात्पर्य यह है कि धर्म का अस्तित्व भौतिक नहीं है अतः इन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता । अग्निष्टोम करने वाला स्वर्ग को जाएगा -- इस विषय में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण कुछ भी नहीं कह सकते । इस विषय का ज्ञान तो केवल शब्द रूप वैदिक प्रामाण्य से ही सम्भव है । अन्य प्रमाणों का विवेचन मीमांसा दर्शन में इसलिए किया गया है कि धर्म का ज्ञान कराने में उनकी अनुपयुक्तता को सिद्ध किया जा सके ।

नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है । उनके अनुसार यह आकाश में ही उत्पन्न होकर आकाश के ही एक विशेष रूप श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है । नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित शब्द के क्षणिकत्व का कुमारिल द्वारा विशद रूप से खण्डन किया गया है । पार्थसारथि मिश्र के अनुसार शब्द दो रूपों वाला होता है --ध्वनिरूप तथा वर्णरूप[१] । भेरी, मृदङ्ग तथा मेघगर्जन के समय जो सुनाई पड़ता है वह ध्वनिरूप शब्द है । मुखगुहा के विभिन्न अवयव-संस्थानों में प्राणवायु के टकराने से स्वरतन्त्रियों द्वारा उत्पन्न होने वाले शब्द वर्णरूप शब्द हैं ।

---

१. द्विविधो हि शब्दः — वर्णाः, ध्वनिश्च । द्वयोरनुगतं शब्दत्वम्, वर्णत्वं ध्वनित्वं च तदवान्तरसामान्ये, वर्णविशेषा गकारपकारादयः, ध्वनिविशेषाः शङ्खघोषादयः । ध्वन्यात्मकश्च शब्दो वायुगुणः, स एव च वर्णात्मकानां गकारादीनामभिव्यञ्जकः, प्रमाकमपि भावान्तराणाम् ।

— स्फोट०, श्लोक० ३६ न्या० र०, पृ० ३४७

(क) ५.१ शब्द-प्रमाण का लक्षण

वेदान्तपरिभाषा में उपमान प्रमाण के पश्चात् क्रमप्राप्त शब्द प्रमाण का वर्णन किया गया है । वेदान्तपरिभाषाकार ने आगम प्रकरण में शब्द-प्रमाण का निरूपण करते हुए कहा है कि जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयभूत संसर्ग[1] अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता वह वाक्य-प्रमाण कहा जाता है । शब्द प्रमाण में कभी-कभी तात्पर्य-अर्थ आपाततः अर्थ से भिन्न हो जाता है, अतः शब्द का अर्थ करते समय ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाणान्तर से आपात अर्थ का बाध हो सकता है किन्तु तात्पर्य अर्थ का प्रमाणान्तर से बाध नहीं होता । इसीलिए वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने शब्द प्रमाण के लक्षण में वाक्य के संसर्ग में `मानान्तराबाधितत्व` और `तात्पर्यविषयीभूतत्व` ये दो विशेषण दिए हैं । वाक्य की प्रमाणता के लिए इन दोनों विशेषणों की अत्यन्त उपयोगिता है । जैसे, `वह्निना सिञ्चति` अन्य प्रमाण से बाधित है अतः `मानान्तराबाधितत्व` विशेषण इस परिभाषा को अव्याप्ति दोष से बचाता है । इसी प्रकार इस परिभाषा में दिया गया `तात्पर्यविषयीभूतत्व` विशेषण इसे अव्याप्ति दोष से बचाता है । जैसे— `स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्`— इसमें अपनी वपा का स्वयं उच्छेद करना रूप अर्थ प्रमाणान्तर से बाधित है क्योंकि वपोत्खेद होने पर जीवित ही नहीं रहा जा सकता । किन्तु यदि इसके तात्पर्य की ओर ध्यान दिया जाय तो इसका तात्पर्य केवल पशु याग की प्रशंसा करने में है, वपोत्खेद में नहीं । प्रशंसा अर्थ का प्रमाणान्तर से बाध नहीं होता । अतः यहाँ कोई दोष नहीं है । इसी प्रकार सर्वत्र तात्पर्य के अनुसार ही शब्द का अर्थ करना चाहिए ।

धर्म का ज्ञान कराने में शब्द-प्रमाण की ही सामर्थ्य होने के कारण मीमांसा दर्शन में शब्दप्रमाण की विशेष महत्ता है । श्लोकवार्तिककार ने प्रत्यक्ष

---

१. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तद्वाक्यं प्रमाणम् ।

— वे० प० आ० प० पृ० १६६

तथा अनुमान प्रमाण के निरूपण के पश्चात् शब्दप्रमाण का ही वर्णन किया है तत्पश्चात् उपमान प्रमाण का निरूपण किया है। मीमांसादर्शन के सभी सम्प्रदायों ने शब्द प्रमाण के इस महत्त्व को स्वीकार किया है, भले ही उनकी शब्दप्रमाण-विवेचना पृथक्-पृथक् हो।

शब्द सुनने के पश्चात् शब्दार्थसंगतिग्रह व्यक्ति को पदार्थ का स्मरण होने पर, उन्हीं शब्दों से ज्ञात और अबाधित अर्थविषयक जो विशिष्ट वाक्यार्थज्ञान होता है, उसे शाब्दीप्रमा कहते हैं तथा उसे कराने वाले शब्द को शब्द प्रमाण कहते हैं। नैयायिक शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पदज्ञान को ही कारण मानते हैं किन्तु भाट्ट मीमांसक पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है उसे ही शब्द प्रमाण मानते हैं। नारायण भट्ट (मानमेयोदयकार) का भी यही अभिमत है।[1] तात्पर्य यह है कि स्मृत हुए पदार्थ ही लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ के बोधक होते हैं, नैयायिकों की मान्यता की तरह पद नहीं।

भाष्यकार शबर ने शब्द प्रमाण की विशेष व्याख्या में शास्त्र रूप शब्द विशेष का लक्षण किया है। उनके अनुसार शास्त्र वह प्रमाण है जिससे शब्द ज्ञान के बाद इन्द्रिय से असम्बद्ध पदार्थ (जैसे - धर्म, अधर्म) का विशेष ज्ञान होता है।[2] यहाँ पर भाष्यकार ने शास्त्ररूप शब्द प्रमाण विशेष का ही वर्णन किया है। भाष्यकार के ऊपर आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होंने शब्द प्रमाण सामान्य का

----

१. तत्र तावत्पदैर्ज्ञाति पदार्थस्मरणे कृते।
असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं शाब्दमितीर्यते ॥

- मा० मे० पृ० ६५

२. शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्।

- शा० भा० पृ० ३०

लक्षण न करके अपने मत को दोषयुक्त कर लिया है क्योंकि सामान्य को समझे बिना विशेष को नहीं समझा जा सकता । वार्तिककार ने 'शास्त्र' की समुचित व्याख्या कर भाष्यकार के मत के औचित्य को प्रस्तुत किया है ।

५.१.१ शास्त्र का लक्षण—

नित्य (वेद) अथवा पौरुषेय वाक्य प्रभृति जिस किसी वाक्य से पुरुष के लिए प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का निर्देश किया जाय, वही शब्द शास्त्र[१] है । धर्मज्ञान में विधि का विशेष स्थान होने के कारण उसे ही शास्त्र कहा गया है । साक्षात् प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का बोध न कराने वाले केवल निष्पन्न वस्तु मात्र के बोधक अर्थवाद वाक्य भी शास्त्र हैं क्योंकि ये वाक्य प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के बोधक वाक्य के अंग हैं । प्रवृत्ति की उत्पत्ति साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता -- तीनों ही अंशों से युक्त भावना द्वारा होती है । भावना की उत्पत्ति अर्थवाद वाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न स्वर्गकामादिपदघटित विधिवाक्य से ही हो सकती है । अत: इन सभी से युक्त विधिप्रत्यय ही प्रवर्तक होने के कारण शास्त्र हैं, केवल विधि प्रत्यय या केवल पदादि शास्त्र नहीं हैं[२] ।

५.१. २ शास्त्र लक्षण का औचित्य —

भाष्यकार द्वारा प्रमाणों के प्रतिपादन का उद्देश्य वेद की न्याययुक्त

---

१. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ।।
— श्लोक० शब्द० ४

२. एकदेशवर्तनं यत्तु कस्यचित् तत्र दृश्यते ।
तदङ्गत्वेन तस्यापि शास्त्रत्वमवगम्यते ।।
— श्लोक० शब्द ५

भावनायां समस्तायां वाक्यादेवोपजायते ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा तच्छास्त्रं न पदाद् यत: ।।
— श्लोक० शब्द ६

व्याख्या करना था । वेद की व्याख्या में अनुपयोगी प्रमाणों का लक्षण भाष्य-
कार को अभीष्ट नहीं था । भाष्यकार प्रमाणों को अपरीक्षणीय मानते थे । वेद
की व्याख्या में शब्दप्रमाण-सामान्य का कोई उपयोग न होने के कारण इसका
प्रतिपादन भाष्यकार को अनभीष्ट था ।[1] इसीलिए उन्होंने शास्त्ररूप शब्दप्रमाण-
विशेष का लक्षण किया । ज्ञातव्य है कि सभी प्रमाणों का वेद की व्याख्या में
उपयोग होता है । जैसे, वर्णादि स्वरूप शास्त्र के स्वरूप के अवधारण द्वारा प्रत्यक्ष
प्रमाण का उपयोग वेद की व्याख्या में होता है । विश्वजिदादि यागों के स्वर्गादि
फलों की कल्पना में एवं यागों की 'इयत्ता' प्रभृति के अवधारण में अनुमानादि
प्रमाणों का उपयोग होता है । सौर्यादि इष्टियों में सादृश्य से आग्नेय आदि
यागों की इतिकर्तव्यता का कथन उपमान प्रमाण से होता है ।[2] अर्थापत्ति का भी
वेद की व्याख्या में उपयोग है । पद एवं वाक्य की संख्या के निश्चय में तथा देवता
का अभाव होने पर अनुपलब्धि प्रमाण अव्यक्त विधिभाव के निश्चय में उपयोगी है ।
इस प्रकार अन्य प्रमाणों की तरह वेद के व्याख्यान के लिये उपयोगी 'शास्त्र' रूप
शब्दप्रमाणविशेष का लक्षण भाष्यकार ने किया है । किञ्च, शास्त्रप्रभृति विशेष
शब्दों को छोड़कर शब्द सामान्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है क्योंकि विशेष कभी भी
सामान्य के बिना नहीं हो सकता है । अत: शास्त्र रूप शब्द प्रमाण विशेष के

---

१. अपरीक्षाभिधेयानि लक्षणानि वदत्ययम् ।
न ह्यतन्त्रोपयोगित्वनिरपेक्षाणि वक्ष्यति ।। – श्लोक० शब्द० ७
तत्र यल्लौकिकं वाक्यं कथयेच्छब्दलक्षणम् ।
वेदं व्याख्यातुकामस्य तन्नातीवोपयुज्यते ।। – वही ,, ८

२. प्रत्यक्षानुपयोगं तु वर्णानामादितः पुरः ।
शास्त्रार्थज्ञानवेलायां मत्वा तल्लक्षणं कृतम् ।। – वही ,, ९

अपि च,
सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः ।
– तै० ब्रा० २।३।२

लक्षण से शब्द प्रमाण सामान्य की भी सिद्धि हो जाती है।[1] शास्त्र एक योगरूढ़ शब्द है अतः विधिप्रत्ययघटित `गामानय` इत्यादि लौकिक वाक्यों में इस शास्त्रलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

`शब्दविज्ञानादसंन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्` -- इस लक्षण में प्रयुक्त सामान्यवाचक `शब्द` पद से `प्रवृत्तिजनक चोदना` स्वरूप `शब्दविशेष` तथा `अर्थ` पद से धर्माधर्मस्वरूप `अर्थविशेष` ही अभिप्रेत है। यहाँ जिस शास्त्र का लक्षण किया गया है उसका लक्ष्य `चोदना` एवं उपदेशस्वरूप वाक्य ही है, यह बात `चोदना-चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः` वार्तिकांश द्वारा स्पष्ट की गई है।[2] जिस प्रकार सामान्य रूप से सभी प्रवर्तक वाक्यों का बोधक `चोदना` शब्द वैदिकवाक्यस्वरूप शब्दप्रमाणविशेष के लिए ही प्रयुक्त होता है उसी प्रकार भाष्य के शास्त्रलक्षण वाक्य के सन्दर्भ में प्रयुक्त `शब्दविज्ञान` पद और `अर्थविज्ञान` पद क्रमशः[3] शास्त्र स्वरूप शब्दविशेष एवं `धर्माधर्म` स्वरूप अर्थविशेष के ही बोधक हैं। अतः शास्त्ररूप शब्दप्रमाणविशेष का लक्षण वेदव्याख्यान में उपयोगी होने से सम्बद्ध ही है। अतः शास्त्र रूप शब्दप्रमाण का लक्षण ही अभीष्ट है।

वेदान्तपरिभाषा की अपेक्षा श्लोकवार्तिक में शब्दप्रमाण का विशदतया विवेचन किया गया है। वेदान्तपरिभाषाकार ने शब्द प्रमाण के लक्षण में सामान्य अथवा विशेष किसी पृथक् भेद की चर्चा ही नहीं की। मीमांसाकार शबर ने वेद व्याख्यान में उपयोगिता अभीष्ट होने के कारण शास्त्रस्वरूप शब्द प्रमाण विशेष

----

१. विशेषश्च न सामान्यमन्तरेणास्ति कश्चन ।
तस्मात् तदप्युदाहृत्य सामान्यं लक्षयेत् ध्रुवम् ॥ - श्लोक० शब्द ११

२. सामान्यरूपमप्येतदधिकाराद् विशिष्यते ।
चोदना चोपदेशश्च शास्त्रमित्युदाहृतम् ॥ - ,, ,, १२

३. यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते ।
[illegible]
शब्दज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ ॥
- श्लोक० शब्द १३

का प्रतिपादन किया जिसकी व्याख्या श्लोकवार्त्तिककार कुमारिल भट्ट ने करके शब्द प्रमाण लक्षण का परिष्कार किया। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जब किसी ज्ञान का कारण शब्द या वाक्य होता है तब वह ज्ञान शाब्द ज्ञान कहलाता है तथा उसका कारणभूत शब्द ही शब्द प्रमाण कहलाता है। किन्तु, शब्द से उत्पन्न प्रत्येक ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता क्योंकि विक्षिप्त या भ्रमित व्यक्ति के ज्ञान का कोई महत्व नहीं होता। अत: जो शब्द प्रमा को उत्पन्न कर सकने की क्षमता रखता हो वही शब्द प्रमाण कहा जाता है। नैयायिकों ने आप्तोपदेश को शब्द प्रमाण कहा है।[1] मीमांसक वेदों का स्वत: प्रामाण्य मानने के कारण इस लक्षण का निषेध करते हैं। उनके अनुसार शब्द अपौरुषेय हैं अत: आप्तवचन हो ही नहीं सकते। लौकिक शब्दों का प्रामाण्य भी उनके आप्तोक्तत्व में नहीं है क्योंकि लौकिक वैदिक सभी वाक्यों का स्वत: प्रामाण्य है।[2] इस प्रकार कुमारिल ने नैयायिकों के शब्द प्रमाण का खण्डन किया है।

५.२ शब्द प्रमाण के भेद —

वेदान्तपरिभाषाकार ने पौरुषेय तथा अपौरुषेय के भेद से शब्द प्रमाण के दो प्रकार माने हैं।[3] पौरुषेय शब्द प्रमाण-पुरुषप्रणीत होने के कारण लौकिक शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। ईश्वरकृत होने पर भी वेदान्त-परिभाषाकार ने वेद को पौरुषेय नहीं माना, अत: वैदिक शब्दप्रमाण अपौरुषेय

---

१. आप्तोपदेश: शब्द:। न्या० सू० १।१।७

२. तेन चाप्तोपदेशत्वं न स्याद्वागमलक्षणम्।
नाप्तत्व सम्भवो वेदे लौके नास्मात् प्रमाणता।।
पुरस्ताद् वर्णितं ह्येतत् तस्माच्छब्देन या मति:।
तस्या स्वत: प्रमाणत्वं न हेतु स्याद्दोषवर्जनम्।।

— श्लोक० शब्द ५२-५३

३. एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपित:।

— वे० प० आ० प० पृ० २७४

कहा जाता है । वार्तिककार कुमारिल वेद को अपौरुषेय मानते हैं अत: उन्होंने भी लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार का शब्द प्रमाण स्वीकार किया है । आचार्य प्रभाकर का मत है कि वैदिक ही शब्द प्रमाण होता है, लौकिक नहीं क्योंकि पुरुष वचन केवल वक्ता पुरुष के अभिप्राय का अनुमानमात्र कराते हैं, स्वयं वाक्यार्थ का बोध नहीं कराते । शास्त्ररूप वैदिक प्रमाण को शब्द प्रमाण माना जा सकता है, इस प्रकार यह अनुमान से पृथक् प्रमाण है किन्तु पौरुषेय वाक्य रूप शब्द प्रमाण को अनुमान से पृथक् नहीं माना जा सकता ।[1] पुरुष वचनों की बोधिका शक्ति व्यभिचार शङ्का से कुण्ठित हो जाती है क्योंकि अधिकतर पुरुष वचन असत्य देखे जाते हैं । पौरुषेय शब्द के श्रवण के पश्चात् श्रोता में अर्थविषयक बुद्धि की उत्पत्ति वक्ता की बुद्धि से होती है । वाक्य से वक्तृगत बुद्धि का अनुमान एवं वक्तृगतबुद्धि से श्रोता में अर्थविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इन पौरुषेय वचनों में वाक्यार्थ अनुमेय ही होता है । प्रभाकर के इस मत के निराकरण में कुमारिल का कथन है कि पौरुषेय शब्दश्रवण के पश्चात् श्रोता में बुद्धि उत्पन्न होने में कोई प्रमाण नहीं है, अत: वक्ता की बुद्धि की सिद्धि ही किसी प्रकार से सम्भव नहीं है ।[2] इसलिए असिद्ध वक्तृबुद्धि स्वरूप हेतु से श्रोता में शब्दार्थविषयक अनुमिति नहीं की जा सकती । किञ्च, वक्तृबुद्धि तथा अर्थतत्त्व ये दोनों विशेष ही हैं सामान्य नहीं और अनुमान का विषय सामान्य होता है - अत: अनुमान के द्वारा इनका ग्रहण सम्भव ही नहीं है । पौरुषेय वाक्य द्वारा अनुमानविषया स्वकीय अर्थ का ज्ञापन नहीं होता है । अत: पौरुषेय वाक्य को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता । वैदिक शब्दप्रमाण के समान पौरुषेय वाक्य भी

---

१. केचिन्मीमांसकेष्वन्ये भेदोऽत्र विषयान्तरात् ।
वृत्तिभ्यां स्वनाविच्छिन्ने शास्त्रमर्थे प्रवर्तते ।।
तथापि नागमत्वं स्यात् पुरुषोक्ते, तथास्तु वेद् ।
- श्लोक० शब्द ३८ तथा ३९ की प्रथम पंक्ति

२. प्रत्ययः किंनिमित्तोऽर्थे वक्तृबुद्धेः कुतोऽन्यतः ।।
- श्लोक० शब्द ३९

अपि च, वक्तृबुद्धिरेव न कुतश्चित् सिध्यति, कथं तयार्थसिद्धिरिति ।। -न्या०र०

शब्द प्रमाण ही है ।[1] मानमेयोदयकार ने प्रभाकर के उक्त मत को दूषित बताते हुए कहा है कि वक्तृज्ञान का अनुमान किए बिना स्वत: ही तात्पर्य भी जाना जा सकता है, क्योंकि वेदवचन के समान ही लौकिकवचन के कर्ता की आलोचनाविशेष आवश्यक नहीं है । लौकिक तथा वैदिक शब्दों में भी कोई मौलिक भेद नहीं माना जाता है । अत: यदि वैदिक वचन स्वयं ही अन्वितार्थ का बोधन कराने की शक्ति रखते हैं तो लौकिक वचनों में भी उसे मानना होगा– अन्यथा वैदिक वचनों से भी बोध क्यों होगा ?[2]

इस प्रकार, वेदान्तपरिभाषाकार तथा वार्त्तिककार दोनों ने पौरुषेय वाक्यरूप शब्द प्रमाण को भी स्वतन्त्र शब्दप्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान कर पूर्वपक्षी के मतों का निरास किया है । वैदिक प्रामाण्य के विषय में प्रभाकर को भी आपत्ति नहीं है । वेदान्तपरिभाषाकार भी वैदिक प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं किन्तु मीमांसकों से उनका किञ्चित् मतभेद है । मीमांसक वेद को किसी के द्वारा प्रणीत नहीं मानते; इसलिए उनके मत में वेद अपौरुषेय है यद्यपि वेदान्ती भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं किन्तु परिभाषाकार उसे परमात्मा की रचना मानते हैं और परमात्मा की रचना के रूप में उसके अपौरुषेयत्व का प्रतिपादन करते हैं ।[3]

---

१. न शब्दार्थस्य वा लिङ्गं न शब्दोऽस्या: कथञ्चन ।
विशेषो गम्यते ताभ्यां न चैतस्यानुमेयता ॥ – श्लोक० शब्द ५०
तेन वक्तुरभिप्राये प्रत्यक्षाद्यनिरूपिते ।
पुरुषोक्तेरपि श्रोतुरागमत्वं प्रपद्यते ॥ – श्लोक० शब्द० ५१

२. तात्पर्यमपि शब्दानां स्वतो ज्ञानानुमां विना।
यथा वेदे तथा वाक्येष्वनालोचितवक्तृषु ॥
वक्तृज्ञानानुमानान्तं यदि च प्रतिपाद्यते ।
तर्हि तस्याप्यशक्यत्वाद्भग्नाश: किं करिष्यति ॥– मा० मे०, पृष्ठ १०६

३. तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वर: पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम् । भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम् । एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपित: ।
– वे० प० पृ० २७९

५.३ शब्द के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का विवेचन —

चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिक शब्द के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। चार्वाकगण केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है तथा अन्य सभी प्रमाणों के प्रामाण्य का निरास करता है। वैशेषिक तथा बौद्ध शब्द प्रमाण को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। वेदान्ती तथा मीमांसक शब्द को ज्ञान का महत्वपूर्ण साधन स्वीकार करते हैं इसी कारण शब्द को ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वतन्त्र मानते हैं। सांख्य तथा नैयायिक भी शब्द का स्वतन्त्र प्रामाण्य मानते हैं किन्तु उनकी प्रतिपादन शैली वेदान्तियों तथा मीमांसकों से भिन्न है। मुख्यतया, वेदों का प्रामाण्य निरूपण करने के लिए ही शब्द प्रमाण का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। किन्च, शब्दों से होने वाला लोकव्यवहार सभी मानते हैं, अतः शब्दों से यथार्थबोध के उदय को भी नहीं नकारा जा सकता। और शब्द द्वारा यथार्थबोधात्मक प्रमा का जन्म मान लेने पर शब्द के प्रमाणत्व को नकारने का प्रश्न ही नहीं उठता।

५.३.१ शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव : वैशेषिक तथा बौद्ध पक्ष

वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता महर्षि कणाद ने शब्द-जन्यज्ञान को अनुमिति में अन्तर्भूत माना है।[१] आचार्य प्रशस्तपाद ने व्याप्ति के बल से अनुमान के समान शब्दादिकों की भी प्रक्रिया को माना है।[२] अनुमान तथा शब्द में समान प्रक्रिया तथा समान कारण होने से व्योमवतीकार ने भी इन दोनों को अभिन्न माना है।[३]

---

१. एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ।
 — वै० सू० ९।२।३

२. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । — प्र० पा० भा०

३. अन्तर्भावव्यवहारे च समानविधित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतु उपन्यासः ।
 — व्योम० पृ० ५७७

इस तरह, सभी वैशेषिक आचार्य केवल प्रत्यक्ष और अनुमान -- दो प्रमाणों को मान्यता प्रदान करते हुए शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं ।

वैशेषिकों की भाँति बौद्ध तार्किक शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का खण्डन करते हैं । शब्द प्रमाण के अन्तर्भाव के प्रसङ्ग में बौद्धों का वैशेषिकों से किञ्चित् मतभेद है । वैशेषिक शब्द का साहचर्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उसको अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं जबकि बौद्ध शब्द का सम्बन्ध वक्तुरिच्छा रूप विवक्षा से मानकर उसे अनुमान से अपृथक् मानते हैं । नैयायिकों तथा अन्य दार्शनिकों को मान्य प्रमाण-संप्लव का बौद्ध तार्किक खण्डन करके प्रमाणव्यवस्था की स्थापना करते हैं । इसीलिए उन्हें केवल दो प्रमाण तथा दो पदार्थ (विषय) ही मान्य हैं । उनके यहाँ सामान्यलक्षण तथा स्वलक्षण दो ही पदार्थ हैं जिसमें सामान्यलक्षण का ग्रहण अनुमान से तथा स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है ।[1] इस प्रकार, प्रत्यक्ष तथा अनुमान से पृथक् अन्य कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि इन दोनों प्रमाणों द्वारा ग्राह्य प्रमेयों के अतिरिक्त अन्य प्रमेय हैं ही नहीं ।[2] शब्द प्रमाण या तो स्वलक्षण का ज्ञान कराएगा या सामान्यलक्षण का - अत: किसी भी दशा में शब्द स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता । अब बौद्धों द्वारा शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत करने के हेतुओं पर विचार किया जाएगा, जिनका वार्तिककार ने विशदतया वर्णन किया है ।[3]

---

१. मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् । - प्र० वा० २।१

अपि च,(i) द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् । प्रत्यक्षमनुमानं चेति । -न्या० बि०१।२-३

(ii) तस्य विषय: स्वलक्षणम् । न्या बि० १।१२

(iii) अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानविषय: ।- न्या०बि०१।१६-१

२ न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभव: ।

तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ।। -- प्र० वा० ३।६३

३. शब्दानुमानयोरैक्यं धूमादग्न्यनुमानवत् ।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकत्वस्य प्रदर्शनात् ।

शब्दानामनुकीर्त्याच्च प्रतिपादितो मत: ।।

- श्लोक० शब्द ३५-३६

(i) अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् —

शब्द तथा अनुमान दोनों के सम्बन्ध में अन्वय व्यतिरेक की समानता होती है । जिस प्रकार, 'धूमसत्त्वे वह्निसत्त्वम्' एवं 'वह्न्यभावे धूमाभाव:' इस अन्वय-व्यतिरेक से 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान अनुमिति स्वरूप होता है उसी प्रकार 'शब्दसत्त्वे अर्थसत्त्वम्' तथा 'अर्थाभावे शब्दाभाव:' इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा 'घटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों से 'अस्तित्ववान् घट:' इत्यादि अन्वयबोध उत्पन्न होते हैं जिन्हें अनुमिति कहते हैं ।

(ii) एक प्रत्यक्ष दर्शनात् —

जिस प्रकार धूमस्वरूप 'एक' विषय के दर्शन से दूसरे अप्रत्यक्ष वह्नि का ज्ञान अनुमितिस्वरूप होता है, उसी प्रकार 'घट' शब्द स्वरूप एकविषयक प्रत्यक्ष से 'घट' अर्थविषयक ज्ञान का उत्पन्न होना भी अनुमितिस्वरूप ही है ।

(iii) सम्बन्धपूर्वकत्वात् —

जिस प्रकार व्याप्तिस्वरूप 'सम्बन्ध' द्वारा धूम से वह्निविषयक अनुमिति होती है उसी प्रकार, 'घट' शब्द से संकेत (शक्ति) सम्बन्ध के द्वारा घटस्वरूपार्थविषयक ज्ञान की उत्पत्ति भी अनुमितिस्वरूप ही है ।

इस प्रकार बौद्धों ने 'शब्दानुमानयोरैक्यम्' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु 'धूम' से साध्य 'वह्नि' के अनुमान को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत कर उपर्युक्त तीन हेतुओं का प्रयोग किया है । अपने प्रमाणद्वय की मान्यता की पुष्टि करते हुए शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत करने हेतु बौद्धों ने ये तर्क भी दिए हैं[१] —

(i) प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात् — बौद्ध मत में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त केवल अनुमान

---

१. प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात् तददृष्टार्थबोधनात् ।
सामान्यविषयत्वाच्च त्रैकाल्यविषयाश्रयात् ।।

— श्लोक० शब्द ३०

प्रमाण ही माना गया है, इन दोनों से इतर अन्य कोई प्रमाण है ही नहीं । शब्दजनित अर्थविषयकबोध प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं होता, अतः वह बोध अनुमान-जन्य ही होगा । अतएव शब्द प्रमाण के पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं उठता ।

(ii) तददृष्टार्थबोधनात् —

प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञापनीय विषय का ज्ञान केवल अनुमान प्रमाण से ही हो सकता है । शब्द से अदृष्टार्थ (स्वर्गादि) का भी बोध होता है जो प्रत्यक्षागम्य नहीं है । प्रत्यक्षागम्य न होने से वह अनुमान प्रमाण का ही विषय होगा अतः अलग से किसी अन्य प्रमाण की मान्यता सर्वथा असङ्गत है ।

(iii) सामान्यविषयत्वात् — विदित है कि प्रत्यक्ष का विषय `स्वलक्षण` होता है तथा अनुमान का विषय `सामान्यलक्षण` होता है । शब्द में `परोक्ष-विषयत्व` तथा `सामान्यविषयत्व` होता है क्योंकि शब्द से `स्वलक्षण` रूप विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता । शब्द के द्वारा सामान्य का ग्रहण होने से यह अनुमान से अभिन्न ही सिद्ध होता है ।

(iv) त्रैकाल्यविषयात्वात् —

प्रत्यक्ष से भूत, वर्तमान तथा भविष्य - त्रैकालिक ज्ञान नहीं हो पाता, अतः अनुमान की आवश्यकता पड़ती है । शब्द द्वारा भी त्रैकालिक विषयों का ग्रहण होता है अतः यह अनुमान से अभिन्न है ।

वैशेषिकों तथा बौद्धों के पूर्वोक्त तर्कों का विश्लेषण करते हुए उनके मत की सम्यग्विवेचना इस प्रकार की जा सकती है —

शब्द तथा अनुमान में कारणसामग्री की समानता होती है । दोनों में व्याप्ति की आवश्यकता होती है । शब्द में भी शब्द श्रवण से वृत्तिज्ञानजन्य अर्थ का अनुसरण होने पर अनुमान की तरह परामर्श ज्ञान होता है । अतः दोनों में परामर्श ज्ञान की हेतुता होती है । किन्तु, दोनों ही ज्ञानों में व्याप्तिग्रह सामान्य का होता है । धूम सामान्य के द्वारा वह्नि-सामान्य के अनुमान के समान `गो` शब्द से शक्तिग्राही प्रमाता को सास्नालाङ्गूलादिमान् गो सामान्य का ज्ञान होता

है । इसी तरह धूम और अग्नि के अन्वय-व्यतिरेक के समान शब्द और अर्थ में भी अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है । दोनों में ही विषय की समानता होती है क्योंकि दोनों ही सामान्यविषयापेक्षी होते हैं[1] ।

अनुमान प्रमाण में हेतु, पक्ष और व्याप्तिग्रह आवश्यक माने गए हैं । यदि सम्यक् प्रेक्षण किया जाय तो शब्द प्रमाण में भी इनकी उपलब्धि होती है । शब्द द्वारा अर्थबोध के परिप्रेक्ष्य में शब्दत्व हेतु है और धर्मविशिष्ट धर्मी की तरह अर्थविशिष्ट शब्द पक्ष है । ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध के उपलब्ध होने पर शब्द श्रवण के अनन्तर शब्दत्व के कारण उसके अर्थ का अनुमान होता है । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार से समझा जा सकता है —

प्रतिज्ञा — गो शब्द: अर्थवान्

हेतु — शब्दत्वात्

व्याप्ति— यो य: शब्द: सोऽर्थवान्

दृष्टान्त— यथा घटादिशब्द:

उपनय — तथा चायम्

निगमन — तस्मात्तथा ।

जिस प्रकार अनुमान प्रमाण के परिप्रेक्ष्य में हेतु और साध्य के मध्य रहने वाला कार्यकारण सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) अनुमिति में प्रमुख भूमिका रखता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध के ज्ञान से शब्द द्वारा अर्थ का बोध होता है । शब्द में वक्ता की आप्तता के समान अनुमान में भी साध्य और साधन के मध्य व्याप्तिसम्बन्ध महत्वपूर्ण भूमिका रखता है । शाब्दबोध के परिप्रेक्ष्य में वक्ता के अभिप्राय और विवक्षा के ज्ञान की आवश्यकता के समान अनुमान में 'वह्नि का अनुमान करता हूं '- इस प्रकार की वह्नि की सिद्धि की इच्छा रहती है । अनुमान में लिङ्गदर्शन जैसे अनुमिति का कारण बनता है वैसे

---

१. शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ।

— न्या० सू० २।१।५०

हो आप्तपुरुष द्वारा उच्चरित होना कारण या लिङ्ग न होता है ।[1]

इस प्रकार बौद्ध तार्किक पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों शब्द प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं तथा उसके पृथक् प्रामाण्य का निराकरण करते हैं । कुमारिल ने पूर्वपक्ष के रूप में इन विद्वानों के मतों को प्रस्तुत कर अपने मत-शब्द के पृथक् प्रामाण्य-का विस्तृत विवेचन किया है ।

५.३.२ शब्द का अनुमान से पार्थक्य : वेदान्तपरिभाषाकार तथा वार्तिककार का समाधान—

वेदान्त तथा मीमांसा के साथ-साथ न्याय तथा सांख्य को भी शब्द का पृथक् प्रामाण्य अभीष्ट है । वेदान्तपरिभाषाकार ने बहुत ही संक्षेप में शब्द प्रमाण के पार्थक्य को सिद्ध किया है । उनके अनुसार वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान की कारणता होती है जबकि अनुमिति में इनकी कारणता नहीं होती ।[2] अतः अनुमान प्रमाण से शब्द प्रमाण का पार्थक्य है । शाब्दबोध तथा अनुमिति के करण भिन्न-भिन्न होने के कारण उनका एकत्व नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति ज्ञान आवश्यक होता है, बिना व्याप्तिज्ञान के अनुमिति नहीं हो सकती, जबकि शब्द-प्रमाण में व्याप्ति न होने पर भी आकांक्षा इत्यादि चारों कारणों पर शब्द से संसर्ग बोध

---

१. आप्तविसंवादसामान्यादनुमानता ।
बुद्धेरगत्याभिहिता निमित्तमाप्यस्य गोचरे ।। प्र० व० ३। २१७

२. वाक्यजन्यज्ञाने चाकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि । — वे० प० आ० प०, पृ० १६६

अपि च,

अथागमोऽनुमानात्पृथक् प्रमाणमित्याशङ्क्य योग्यतादिसहकार-सहित ज्ञानस्यानुमानकत्वाभावाद्व्याप्तिज्ञानजन्यं वाक्यं पृथक् प्रमाणमवश्य-मभ्युपेयमित्याशयेनाह ।
— वे० प० पर टीका अर्थदीपिका, पृ० १६६

हो जाता है । अत: शब्दप्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत करना अनौचित्यपूर्ण है ।[1]

पूर्वपक्षी का मत है कि कल्पनालाघव हेतु केवल अनुमान को मानकर भी दैनिक कार्य व्यवहार का सुचारु संचालन हो सकता है क्योंकि शाब्दबोध स्थल में भी अनुमान प्रमाण से ही निश्चय हो सकता है । वेदान्तियों का कहना है कि ऐसी कल्पना असंगत है । यदि ऐसा लाघव ही अभीष्ट है तो अनुमान को भी अतिरिक्त प्रमाण क्यों माना जाय, केवल प्रत्यक्ष मानने से काम चल सकता है क्योंकि मन के बिना किसी भी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता है । अत: जब प्रत्यक्ष प्रमाण रूपी मन से ही सभी स्थलों पर अवज्ञान हो जाता है तो अनुमान का भी प्रामाण्य क्यों माना जाय ?[2] किन्तु वेदान्तियों का यह प्रतिसमाधान पूर्वपक्षी को मान्य नहीं होगा अत: अनुमान की भाँति शब्द को भी पृथक् प्रमाण माना जा सकता है । जैसे -- 'अनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय के बल पर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार 'शब्दात् अमुमर्थं जानामि' इस अनुमान के बल पर शब्द प्रमाण का भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए ।[3] वेदान्तपरिभाषाकार की अपेक्षा वार्तिककार ने शब्द प्रमाण के पार्थक्य साधक हेतुओं का विशदतया विवेचन किया है । शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करने पर तो लिङ्ग न दर्शन के अभाव में स्वर्गादि अनेक अर्थों की सिद्धि ही न हो सकेगी क्योंकि इनकी सिद्धि में कोई लिङ्ग

---

१. तथा चासत्यपि व्याप्तिज्ञाने विद्यमानेष्वाकाङ्क्षादिषु संसर्गज्ञानोत्पत्त्या-न्नानवत्वानुमानेऽन्तर्भावः ।

- वे० प० अर्थदीपिका, पृ० १९९

२. कृत्स्नेनानुमानप्रमाणेनैव निर्वाहे पृथक् प्रमाणं न कल्पनीयमिति यद्युच्यते तर्हि मनसैव कृत्स्नेन प्रत्यक्षप्रमाणेन निर्वाहादनुमानमप्यतिरिक्तं प्रमाणं नाभ्युपेयम् ।

- वे० प० अर्थदीपिका, पृ० २००

३. ननु यदनुमिनोमीत्यनुव्यवसायबलादभ्युपेयते, तर्हि शब्दादमुमर्थं जानामीत्यनुव्यवसायबलादागमो यदयमभ्युपगन्तव्य इति भावः ।

- अर्थदीपिका, पृ० २००

दृष्टव्य नहीं है, अत: इसकी सिद्धि केवल शब्दप्रमाण से ही सम्भव है। इसी कारण मीमांसकों ने शब्द को पृथक् प्रमाण माना है। सांख्याचार्यों ने भी शब्द के पृथक् प्रामाण्य हेतु अनेक तर्क दिए हैं। सांख्याचार्यों द्वारा शब्द के पार्थक्य साधन हेतु प्रयुक्त युक्तियों को कुमारिल त्रुटिपूर्ण मानते हैं। उन्होंने सांख्याचार्यों की सभी युक्तियों को[1] स्वतो विरुद्ध बतलाया है जिससे शब्द का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पाता। श्लोकवार्तिककार कुमारिल ने शब्द के पृथक् प्रामाण्य व्यवस्थापन हेतु जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है उनका विवरण प्रस्तुत है।

कुमारिल का कथन है कि अनुमान के साथ शब्द[2] की इतनी ही समता है कि दोनों भिन्न होते हुए भी समान रूप से प्रमाण हैं। `पद` तथा `वाक्य` के भेद से प्रमाणभूत शब्द दो प्रकार का होता है। ध्यातव्य है कि कुमारिल `पद` को शब्द प्रमाण नहीं मानते, उनके मत में तो `वाक्य` ही शब्द प्रमाण है। कुछ लोग `शब्द` को अनुमानविधया प्रमाण मानते हैं और इस रूप में वे `शब्द` से `पद` का ही अर्थ लेते हैं `वाक्य` का नहीं। `वाक्य` को शब्द प्रमाण मानने तथा `पद` को प्रमाण न मानने के कारण पदस्वरूप शब्द में अनुमानभिन्नत्व दिखाना आवश्यक नहीं है, तथापि पद रूप शब्द प्रमाण को अनुमान से अभिन्न मानने वालों का खण्डन[3] करने के लिए कुमारिल ने पदरूप शब्द प्रमाण की भी अनुमान से पृथक्ता सिद्ध की है।

(१) <u>विषयभेद से शब्द का अनुमान से अभेद का निराकरण--</u>

शब्द तथा अनुमान दोनों के विषय (प्रमेय) भेद से इनका पार्थक्य सिद्ध होता है। अनुमान प्रकरण[4] में धर्मविशिष्ट धर्मीस्वरूप `विशेष` को ही अनुमान का[5] विषय कहा गया है जबकि पदरूप शब्दप्रमाण का विषय `सामान्य` होता है।

---

१. सांख्याचार्यों की युक्तियाँ तथा उनका वार्तिककारकृत खण्डन आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

२. अनुमानेन चैतस्य प्रामाण्यं केवलं समम्। - श्लोक० शब्द ५४ की पू० पं०

३. पदे तावद् कृतो यत्न: परैरित्यत्र वक्ष्यते। -श्लोक० शब्द ५५ की द्वि० पं०

४. धर्मेणाविशिष्टश्च धर्म्येवात्रानुमीयते।
न हि तन्निरपेक्षत्वे सम्भवत्यनुमेयता। - श्लोक० अनु० २७

५. आकृतिवाद में शब्द का विषय सामान्य होता है, यह बतलाया गया है।

धर्म तथा अधर्म से विशिष्ट धर्मी (लिङ्गी) को ही अनुमान प्रमाण का विषय बतलाया गया है अतएव जब तक शब्द[1] का विषय धर्माधर्मविशिष्ट लिङ्गी न हो तब तक वह अनुमान नहीं हो सकता । यहाँ पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि सामान्य के अतिरिक्त विशेष भी शब्द प्रमाण का विषय हो सकता है । जैसे -- ‘को याति ?’ इस प्रश्न का उत्तर ‘अश्व:’ दिया जाता है । अत: अश्व पद भी ‘अश्वविशिष्टक्रियारूप’ विशेष’ का ही बोधक हुआ । इसका समाधान है कि केवल ‘अश्व:’ इस पद से क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध नहीं होता वरन् यहाँ सामर्थ्यरूप लिङ्गप्रमाण द्वारा ‘याति’ स्वरूप क्रियापद के साहचर्य के द्वारा ही ‘अश्व:’ पद के बाद ‘याति’ पद की कल्पना की जाती है । तत्पश्चात् ही ‘अश्वोयाति’ इस कल्पित वाक्य के द्वारा ही क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध होता है । इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि ‘द्वारम्’ केवल इस पद के श्रवणोपरान्त ‘संव्रियताम्’ इस पद की कल्पना की जाती है । इस कल्पित पद से ‘संवरण’ रूप कार्य को समझकर संवरण कार्य का सम्पादन किया जाता है । यहाँ स्पष्ट है कि केवल पदस्वरूप शब्द-प्रमाण अनुमान की भाँति विशिष्ट का बोधक नहीं है क्योंकि एक ही पद के श्रवणोपरान्त दूसरे पद के अनुमान से ही विशिष्ट[2]बोधक वाक्य की कल्पना की जाती है, उस वाक्य से ही विशिष्ट बोध होता है ।

(ii) शब्द में पक्षता का अभाव होने से शब्द का अनुमान से भेद-का निराकरण--

अनुमान स्थल में स्वतन्त्ररूप से गृहीत पर्वत आदि धर्मी स्वतन्त्र रूप से ज्ञात अग्नि से विशिष्ट प्रतीत होते हैं । किन्तु, शब्दस्थल में किसी का भी

---

1. धर्माधर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् ।
   न तावदनुमानं हि यावत् तद्विषयं न तत् ।।
   - श्लोक० शब्द० ५६
2. अथ सामान्यावतिरिक्तं तु शाब्दे वाक्यस्य गोचर: ।
   सामर्थ्यादनुमेयत्वात्तदुक्तोऽपि पदान्तरे ।। - श्लोक शब्द - ५७
   अपि च,
   द्रष्टव्य न्यायरत्नाकर ।

स्वतन्त्ररूप से ग्रहण नहीं होता है । इस वैधर्म्य के कारण भी शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त, अनुमान प्रमाण से विशेष्य का ज्ञान पहले होता है, विशेषण का बाद में जबकि शब्द प्रमाण स्थल में इसके विपरीत होता है अर्थात् शब्द प्रमाण स्थल में विशेषण ही पूर्वज्ञात रहता है तथा विशेष्य का ज्ञान पश्चाद्वर्ती होता है । इस वैलक्षण्य के कारण भी दोनों की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है[1] ।

पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि शब्द तथा अर्थ दोनों के स्वतन्त्र रूप से गृहीत होने पर अर्थविशिष्ट शब्द का अनुमान हो सकता है तो इसका समाधान वार्तिककार करते हैं कि ऐसा मानने पर तो 'प्रतिज्ञा का एकदेश तथा हेतु एक ही हो जाएगा (जब पक्ष तथा हेतु = शब्द) जबकि प्रतिज्ञा के एकदेश तथा हेतु पृथक् होने चाहिए[2] । ऐसे स्थल पर अनुमान का स्वरूप होगा । 'घटशब्दो घटस्वरूपार्थवान् घटशब्दत्वात् ' अथवा 'शब्दो अर्थवान्, शब्दत्वात्, घटपटादिवत्' । द्रष्टव्य है कि यहाँ हेतु तथा पक्ष दोनों ही 'शब्द' है और इस प्रकार एक ही है । पूर्वपक्षी का कथन है कि जब दूर से असाधारण विशेष ज्ञापित नहीं होता तब विशिष्ट धूम ही पक्ष होता है तथा धूम सामान्य (धूमत्व) हेतु बनाया जाता है जैसे --'पर्वतीयो धूमः वह्निमान् धूमात्'-- इस स्थल पर पर्वतीय धूम (विशिष्ट धूम) पक्ष होने से प्रतिज्ञा वाक्य का एकदेश है और यही प्रतिज्ञा का एकदेश ही हेतु है (धूम) ; इसी प्रकार शब्द को भी प्रतिज्ञावाक्य का एकदेश (पक्ष या साध्य) तथा हेतु रूप में प्रयोग किया जा सकता है । इस आक्षेप का निराकरण करते हुए कुमारिल का कथन

---

१. विशेषणविशेष्यार्थस्वातन्त्र्यग्रहणं न च । - श्लोक शब्द ६१ की द्वि० पं०
विशेष्यपूर्विका तत्र बुद्धिरनुमाने विपर्ययः । - ,, , ६२ ,, पू० पं०
द्रष्टव्य - न्यायरत्नाकर

२. अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते ।।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।।
- श्लोक० शब्द ६२ की द्वि० पं० तथा
६३ की प्रथम पंक्ति

है कि यदि इस प्रकार का अनुमान करें भी तो शब्दपदार्थ अर्थानुमान दो ही प्रकार से सम्भव हो सकता है - (१) `गोशब्दः सास्नादिमदर्थवान् शब्दत्वात्` तथा (२) `गोशब्दत्वाद्वा` । इनमें `शब्दत्व` स्वरूप प्रथम हेतु `अनैकान्तिक` है क्योंकि शब्दत्व की स्थिति घटादि शब्दों में भी है जबकि वहाँ सास्नादिमत्व स्वरूप अर्थ नहीं है । इसी प्रकार, गोशब्दत्व स्वरूप दूसरा हेतु गोशब्दस्वरूप होने से प्रतिज्ञार्थैकदेश होने के कारण हेतु नहीं हो सकता । केवल एक विशिष्ट व्यक्ति (शब्द) ही हेतु हो सकता है, सामान्य नहीं । और यदि कोई यह कहे कि हेतु तथा प्रतिज्ञार्थैकदेश के एक होने पर कोई दोष नहीं है क्योंकि एक होने पर भी उसके अभिव्यञ्जक कारण भिन्न-भिन्न है तो यह उपयुक्त नहीं क्योंकि मीमांसा मत में एक शब्द वस्तुतः एक ही है व्यञ्जक के भेद से एक ही वर्ण के अनेक भेद स्वीकृत नहीं है ।[१] शब्द में अर्थ की विशिष्टता (युक्तता) किस प्रकार सम्भव है ? दैशिक-विशिष्टता तथा कालिकविशिष्टता भी सम्भव नहीं है । शब्द न तो देशतः अर्थ-विशिष्ट हो सकता है और न ही कालतः क्योंकि घटादि अर्थ भूतलादि देशों में रहते हैं जबकि शब्द आकाश में रहता है । इसी प्रकार युधिष्ठिर शब्द की सत्ता तो इस काल में ही रहती है जबकि युधिष्ठिर रूप अर्थ की सत्ता इस काल में नहीं है । अतः शब्द न तो देशतः अर्थविशिष्ट हो सकता है और न ही कालतः । पूर्वपक्षी द्वारा यदि यह कहा जाय कि `शब्दोऽर्थविशिष्टः` इस प्रतीति की विषयता शब्द तथा अर्थ दोनों में होने के कारण एकप्रतीतिविषयत्वरूप सम्बन्ध के द्वारा `शब्द

---

१. यतो मूल विशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते ।
   शब्दत्वं व्यक्तं नाम गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ।
   व्यक्तित्वेन विशिष्यातो हेतुरेका प्रयुज्यते ।।
   नेह व्यञ्जकभेदाद्धोऽन्यत्वेऽपि प्रत्ययोऽस्ति न : ।
                  - श्लो०शब्द ६३, ६४

   अपि च,

   गोशब्दं धर्मीकृत्य तस्मिन् सास्नादिमदर्थविशिष्टे साध्ये शब्दत्वमनैकान्तिकं गोशब्दत्वं च नान्योऽर्थो धर्मिणोऽप्रतीति स्यादेव प्रतिज्ञार्थैकदेशोऽपि ।।
                  - न्यायरत्नाकर (वार्तिक ६४ पर)

अर्थ से युक्त है ' - तो यह भी असङ्गत है क्योंकि 'शब्दोऽर्थविशिष्टः' यह ज्ञात होने पर अनुमान किस ज्ञान के लिए प्रवृत्त होगा ? अर्थात् ज्ञातज्ञापक होने के कारण वह प्रमाण नहीं हो सकेगा । यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि गोत्वरूप अर्थवत्ता की अनुमिति भले ही सम्भव न हो किन्तु गो शब्द में गोत्वरूप अर्थविषयक बोधजनन (प्रत्यायन) शक्ति का अनुमान तो हो ही सकता है — तो इसमें भी वही प्रतिज्ञार्थैकदेशत्व की समस्या उत्पन्न होगी । यहाँ 'गो' शब्द की 'शक्ति' मानने पर तादृक्शक्तिविशिष्ट गो शब्द ही पक्ष होगा एवं तादृश गोशब्दत्व ही हेतु होगा । अतः गोशब्दस्वरूप विशेष में प्रत्यायन शक्ति भी अनुमेय नहीं हो सकती । इस प्रकार की शक्ति किसी विशेष का भाग (एकदेश) नहीं हो सकती । यह शक्ति तो सामान्य का ही एकदेश होती है । सामान्य में ही शक्ति रहती है और तब तादृक्शक्तिविशिष्ट ही पक्ष होगा हेतु भी वही होगा तथा अन्वय भी नहीं होगा । इसलिए अर्थविशिष्ट शब्द की अनुमेयता अनुपपन्न होती है ।[1]

(iii) अर्थपदाक अनुमान का निराकरण —

अनुमान में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव करने वालों के मत में पक्षधर्मता कैसे सम्भव है ?[2] पक्षधर्मता के अभाव में तो अनुमान सम्भव ही नहीं है क्योंकि

---

१. कथं वाच्य विशिष्टत्वं न तावद् वेदकाहतः ।।
   तत्प्रतीतिविशिष्टहेतु परं किमनुमीयते ।
   न प्रत्ययनशक्तिरच विशेषस्यानुमीयते ।।
   विशेषाणां न शक्तिर्हि तदेकदेशोऽभ्युपगम्यते ।
   सामान्यस्यैव शक्तत्वं पक्षो हेतुस्तदेव च ।।
   तस्मादर्थविशिष्टस्य न शब्दस्यानुमेयता । - श्लोक० शब्द०६५ से ६८ तक

२. कथं च पक्षधर्मत्वं शब्दस्येह निरूप्यते ।। ,, ,, ६८
   अपि च,
   शब्दो हि लिङ्गम्, तस्य च स्वयं धर्मित्वायोगादर्थो धर्मी कल्पः,
   तद्धर्मत्वं च शब्दस्य न सम्भवतीति ।
   - वार्तिक ६८ पर न्यायरत्नाकर ।

अनुमान के लिए पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्ति -- ये तीनों ही होना अत्यन्तावश्यक है ।

अनुमान मानने में शब्द ही हेतु है अतः वह स्वयं धर्मी (पक्ष) नहीं हो सकता (ऐसा मानने पर तो प्रतिज्ञार्थैकदेश रूप दोष हो जाएगा) । अतएव `अर्थ` को ही पक्ष मानना पड़ेगा । इस प्रकार, अनुमान का स्वरूप होगा -- `अर्थः शब्दवान्` । किन्तु अर्थ रूप पक्ष में शब्द रूप हेतु की वृत्तिता न होने से अर्थपक्षक एवं शब्दहेतुक अनुमान भी नहीं हो सकता । वृत्तिता बिना सम्बन्ध के सम्भव नहीं है तथा क्रियाकर्तृ-सम्बन्ध के बिना किसी के साथ किसी का सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है । राजा चूंकि भृत्य का भरण करता है अतः राजा में भृत्यवृत्ति भरणक्रिया का कर्तृत्व है । `वृक्षस्य शाखा` इस व्यवहार में भी शाखा वृक्ष की इसलिए ही कहलाती है क्योंकि शाखा में वृक्ष का समवाय सम्बन्ध है अतः शाखाधिकरणक स्थिति क्रिया का कर्तृत्व रूप सम्बन्ध वृक्ष में है । `वृक्षे शाखास्तिष्ठन्ति` इत्यादि प्रयोग भी क्रियाकर्तृसम्बन्ध के आधार पर होता है क्योंकि वृक्षाधिकरणक स्थिति क्रिया का कर्तृत्व शाखाओं में होता है । अग्नि का सम्बन्ध धूम में इसलिए है क्योंकि वह्नि के अधिकरण में धूम की सत्ता है । अतः वह्न्यधिकरण-निरूपित अस्तित्व क्रिया का कर्तृत्व धूम में है । इसी प्रकार कार्यकारणभाव भी क्रियाकर्तृसम्बन्ध से पृथक् नहीं है । जैसे -- पटकर्तृक क्रिया का कारणत्व तन्तु प्रभृति कारणों में है अतः `तन्तोः पटः` यह व्यवहार होता है तथा तन्तुकारणक उत्पत्ति क्रिया का कर्तृत्व पट में है अतः `पटस्य तन्तवः` यह कहा जाता है । इस प्रकार का कोई भी सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ में सम्भव नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है किन्तु वह अज्ञात है । सम्बन्ध के अभाव में `अर्थरूप पक्ष का शब्द रूप हेतु धर्म है` इस षष्ठी तत्पुरुष का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है अतः यहाँ हेतु (शब्द) का पक्ष (अर्थ) में वृत्तिता का अभाव होने से अनुमान

सम्भव नहीं है।[1]

कुछ लोगों का मत है कि जैसे अभाव अनुपलब्धि-प्रमाणगम्य होने के के कारण अनुपलब्धिप्रमाण का विषय कहलाता है उसी प्रकार शब्द में अर्थ का ज्ञापकत्व सम्बन्ध है अतएव `अर्थ` शब्द का विषय माना जा सकता है। किन्तु, कुमारिल के मत में यह भी अनुपपन्न है क्योंकि अर्थ और शब्द का न अधिकरणीभूत देश एक है न दोनों परस्पर सम्पृक्त हैं अतः किसी भी प्रकार से विषयविषयीभाव की सिद्धि नहीं हो सकती।[2] पूर्वपक्षी का मत है कि देशादि सम्बन्ध के अभाव में शब्द के अर्थविषयक बुद्धि को उत्पन्न करने के कारण अर्थ शब्द का विषय है तथा यह विषयता सम्बन्ध के द्वारा ही शब्द अर्थ का धर्म है। कुमारिल का उत्तर है कि इस स्थिति में मानना होगा कि शब्द में जब अर्थबोधकता सिद्ध हो जायगी तब वह अर्थ-स्वरूप पक्ष का धर्म होगा। किन्तु, यह सम्भव नहीं है क्योंकि वाचकत्व की सिद्धि के बाद सिद्ध होने वाली पक्षधर्मता प्रकृत अनुमान का अङ्ग नहीं हो सकती। किञ्च, शब्द अर्थ का ज्ञापक है अतः वह अर्थ का धर्म है और शब्द अर्थ का धर्म है इसलिए वह अर्थ का ज्ञापक है— इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। अतः

---

१. न क्रियाकर्तृसम्बन्धाद्युक्ते सम्बन्धनं क्वचित् ।
राजा भर्ता मनुष्यस्य तेन राजः स उच्यते ॥ - श्लो० शब्द० ६८
भृत्यादिष्वपि ज्ञातासु ता या क्रियेति तस्य ताः ।
देहेऽपि नाभिमित पुंसस्य कर्तृत्वं भवनं प्रति ॥ - वही ७०
कार्यकारणभावादौ क्रिया सर्वत्र विद्यते ।
न चात्रैवाकारः सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥ - वही ७१
न चास्त्यवति सम्बन्धे कश्चिदस्त्युतरोऽपि वा ।
तस्यान्य पक्षधर्मोऽस्मीति तथा निरूपणा ॥ - वही ७२

२. निवृत्तेऽन्यत्र सम्बन्धे देशेऽपि तद्विषयात्मना ।
यदेतुः पक्षधर्मत्वं शब्दस्यानुपलब्धिवत् ॥ - वही ७३
देशभेदाभिकल्प्यं तु शब्दस्तद्विषयः कथम् ।
न देशादिकृताभावो नाभिमुख्यादि तत्र वा ॥ - वही ७४

विषयता सम्बन्ध के द्वारा पक्षधर्मत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता[1]। कुमारिल ने इसी प्रकार अनेक हेतुओं से पक्षधर्मता का निराकरण किया है[2]।

(IV) <u>हेतु में सपक्षानुवृत्तित्व का अभाव —</u>

शब्द का अर्थ रूप प्रमेय के साथ किसी सपक्ष में अन्वय ज्ञात नहीं होता क्योंकि 'जहाँ पर शब्द है वहाँ पर अर्थ है' यह अन्वय नहीं हो सकता। जिस देश तथा काल में शब्द की उपलब्धि होती है उस देश तथा काल में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे — युधिष्ठिर शब्द की सत्ता अभी भी है किन्तु युधिष्ठिर शब्द की सत्ता अभी भी है[3] किन्तु युधिष्ठिर नामक व्यक्तिस्वरूप अर्थ की सत्ता बहुत पहले थी, अभी नहीं है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि नित्य तथा विभु होने के कारण शब्द की सभी देशों तथा कालों में सत्ता है अत: सभी देशों तथा कालों के अर्थों के साथ उसका अन्वय हो सकता है। किन्तु, इस रीति से शब्द का अन्वय अर्थ में मानने पर तो सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जायेंगे। पूर्वपक्षी का पुनर्कथन है कि शब्दज्ञान तथा अर्थज्ञान दोनों के नियमित रूप से एक ही आत्मा में रहने के कारण अन्वय हो सकता है। किन्तु यह कथन भी कुमारिल मत में उचित नहीं क्योंकि 'तदनुत्पन्न'

---

1. तस्मादुत्पादकत्वेन यतोऽर्थविषयां मतिम् ।
   तेन तद्विषय: शब्द इति धर्मत्वकल्पना ॥
   तत्र वाचकतायां च सिद्धायां पक्षधर्मता ।
   न प्रतीत्यङ्गतां गच्छेन्न तेनानुमानता ॥
   गमकत्वाच्च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि ।
   स्यादन्योन्याश्रयत्वं हि तस्मान्नैषापि कल्पना ॥

   — श्लोक० शब्द० ७५-७७

2. द्रष्टव्य श्लोक० शब्द० ७८ से ८४ तक ।

3. ,, ,, ,, ८५ से ८८ तक ।

व्यतिरेकजन्य भी नहीं होगा । इसीलिए ही वह ज्ञान अनुमिति स्वरूप भी नहीं है ।

इस प्रकार, पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्तित्व रूप से रहित होने के कारण शब्द प्रमाण अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता । अनुमान का विषय विशिष्ट होता है जबकि शब्द का विषय सामान्य । अतएव जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण त्रैरूप्य से रहित होने के कारण अनुमान से भिन्न प्रमाण है, उसी प्रकार शब्दप्रमाण भी त्रैरूप्य रहित होने तथा विषय के भिन्न होने के कारण अनुमान से पृथक् प्रमाण है।[1]

शब्दगत अनुमानभिन्नता के ये समस्त विचार 'पद' को प्रमाण मानकर कहे गए हैं किन्तु मीमांसक पदस्वरूप शब्द प्रमाण नहीं मानते अतः कुमारिल मत से उसका निराकरण प्रस्तुत है --

पद में प्रामाण्य का निराकरण--

पदस्वरूप शब्द को मीमांसकों ने प्रमाण नहीं माना है । इस स्थिति में शब्द 'अनुमान प्रमाण' से भिन्न है अथवा अभिन्न है -- यह विचार ही अनुपयुक्त हो जाता है । 'पद' से 'पदार्थ' की प्रतीति न होने के कारण ही 'पद' प्रमाण नहीं है।[2]

कुमारिल का कथन है कि पद का प्रयोग चार अर्थों में होता है -- प्रत्यक्ष, परोक्ष, पूर्वज्ञात तथा पूर्वाज्ञात । इनमें से प्रत्यक्ष तथा पूर्वज्ञात अर्थ को

---

१. तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेद् ।
त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ।। - श्लोक० शब्द० ९८

२. इति वाक्य प्रमाणत्वे भेदाभेदनिरूपणा ।
युक्ता न तु पदात्तावत् पदार्थोऽत्र प्रतीयते ।।
- श्लोक० शब्द० ९९

समझाने के लिए प्रयुक्त पदों से उन अर्थों का `अनुवाद` ही होता है, इसलिए शब्द का प्रामाण्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार, जो अर्थ पूर्व में कभी नहीं देखा गया है तथा इस समय प्रत्यक्ष है उसमें शब्द का प्रामाण्य नहीं होगा क्योंकि ऐसे अर्थ का शब्द से ज्ञान ही नहीं होगा। परोक्ष दो प्रकार का होता है— अनुभूत परोक्ष तथा अननुभूत परोक्ष। इनमें अनुभूत परोक्ष का ज्ञान तो पद से हो ही नहीं सकता। अनुभूत परोक्ष का भी जो ज्ञान पद से होगा, वह स्मृतिस्वरूप ही होगा[1]। अत: ज्ञातज्ञापक होने के कारण यहाँ भी पद का प्रामाण्य सम्भव नहीं है।

यदि पद को प्रमाण मान भी लिया जाय, पदात्मक शब्द प्रमाण अनुमान से अभिन्न भी मान लिया जाय तो भी वाक्यार्थबोध के लिए वाक्यात्मक शब्दस्वरूप एक अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही होगा[2]। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थसम्बन्ध से निरपेक्ष होकर बुद्धि का उत्पादक होने से अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है, उसी प्रकार वाक्यात्मक शब्द भी पदार्थ-सम्बन्धसकाशुय के बिना ही वाक्यार्थविषयक बोध का उत्पादक है[3]। अत: वाक्यात्मक शब्द भी अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है।

---

१. पदं प्रयुज्यमानं हि वस्त्वर्थे प्रयुज्यते।
   प्रत्यक्षे च परोक्षे च ज्ञाते ज्ञातेऽपि वा पुरा॥ - श्लोक० शब्द०१००
   तत्र यत् पूर्वविज्ञाते प्रत्यक्षे च प्रयुज्यते।
   प्रमिते च प्रयुक्तत्वादनुवादोऽधिकाद् विना॥ - वही १०१
   अदृष्टपूर्वे त्वज्ञानं सम्बन्धप्रत्ययोऽपि वा।
   सम्बन्धो न च तस्यार्थो यो यः स त्वन्यगोचरः।- ,, १०२
   परोक्षेऽननुभूते च नाभिधेये मतिर्भवेत्।
   परोक्षस्यानुभूतस्य वस्तुन स्मृतिरिष्यते॥ - ,, १०३
२. प्रमाणमनुमानं वा यद्यपि स्यात् पदान्विति:।
   वाक्यार्थस्यागमार्थत्वाद् बोधो नागमगामिनाम्॥ - ,, १०८
३. वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्य: सम्बन्धानुभवादृते।
   बुद्धिरुत्पद्यते तेन भिन्नाऽसावक्षबुद्धिवत्॥
   - ,, १०६

शब्द में अनुमानाभिन्नत्व के साधक जो (१) अन्वयव्यतिरेकजन्यत्व, (२) सम्बन्धपूर्वकत्व, (३) सम्बन्धपूर्वकत्व, (४) सामान्यविषयकत्व हेतु दिए गए थे वे सभी वाक्यजनितशाब्दबोधस्वरूप पक्ष में (बुद्धि में) न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हैं । एवं एतद्भिन्न जो (१) प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्व, (२) तद्दृष्टार्थबोधकत्व, (३) सामान्यविषयकत्व तथा (४) त्रैकाल्यविषयत्व हेतु अनुमित्यभिन्नत्व के साधनार्थ दिए गए हैं वे सभी उपमानादि प्रमाणों में व्यभिचरित है अतः शब्द अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण ही है ।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि शब्द प्रमाण का अनुमान से पार्थक्य तो वेदान्तपरिभाषाकार तथा वार्तिककार दोनों ने ही मानकर उसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है । वेदान्तपरिभाषाकार ने शब्द के प्रामाण्य का पार्थक्य अतिसंक्षेप में सिद्ध किया है जबकि वार्तिककार कुमारिल ने पूर्वपक्षियों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए विशदतया शब्दप्रमाण का अनुमान से पार्थक्य निरूपित किया है ।

वेदान्त तथा मीमांसा के अतिरिक्त सांख्याचार्यों ने भी शब्द का पृथक् प्रामाण्य माना है । अतएव सांख्यमतावलम्बियों ने शब्द के अनुमान से भेद की सिद्धि के लिए विभिन्न युक्तियाँ भ दी हैं । किन्तु, कुमारिल इन युक्तियों को समीचीन नहीं मानते अतः कुमारिल मत से सांख्याचार्यों के शब्द के पार्थक्यसाधक हेतुओं का खण्डन प्रस्तुत है ।

५.१.२ सांख्य अभिमत शब्द पार्थक्य साधक हेतु: युक्तियों की सदोषता—

सांख्याचार्यों ने भी शब्द का पृथक् प्रामाण्य माना है अतः शब्द की

---

१. सर्वेषां च परोक्षाणां बाध्यबुद्धाद्यविशिष्टता । - श्लोक० शब्द० ११०

अपि च,

अन्वयव्यतिरेकजन्यत्वं सम्बन्धपूर्वकत्वं, सामान्यविषयत्वं चासिद्धम्, अन्यच्च हेतुत्रयमुपमानादिभिरनैकान्तिकमिति ।

- न्यायरत्नाकर (वार्तिक ११० पर)

अनुमान से भिन्नता स्थापित किया है । किन्तु, सांख्याचार्यों द्वारा शब्द के अनुमान से भेद की सिद्धि के लिए प्रयुक्त की गयी युक्तियों को कुमारिल उपयुक्त नहीं मानते हैं ।[1] शब्द प्रमाण का अनुमान से पार्थक्य दिखलाने के लिए उन्होंने अनेक युक्तियाँ दी हैं ।

(i) सांख्याचार्यों की दृष्टि में 'वाक्य' स्वरूप शब्द ही प्रमाण है जिसको मतभेद से कोई 'अनन्त्यपद स्वरूप', कोई 'अन्त्यपद स्वरूप', कोई वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों के स्वरूप, कोई आख्यात स्वरूप तथा कोई पूर्व-पूर्व वर्णजनितसंस्कार संयुक्त अन्त्यवर्ण स्वरूप मानते हैं । 'विवक्षाभेद' से ये सभी पक्ष उपपन्न हो सकते हैं । अनुमान प्रमाण में ये विविधकल्प नहीं है । जिस प्रकार 'विवक्षाभेद' से शब्द के द्वारा एक ही वाक्य से विभिन्न अर्थों का बोध हो सकता है, उसी प्रकार एक ही हेतु से एक ही साध्यविषयक अनेक अनुमिति स्वरूप बोध नहीं हो सकता अतः शब्द तथा अनुमान में पार्थक्य है । सांख्यों के अनुसार शाब्दबोध अनुमिति के कारणों से भिन्न विवक्षादिघटित कारणों से होता है । शब्द-ज्ञान की उत्पत्ति वाक्य से होती है किन्तु 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में धूमज्ञान की उत्पत्ति वाक्य से नहीं होती । अतः बौद्धों का 'शाब्दबोधोऽनुमितिः अन्वयव्यतिरेकाधीनजन्यत्वात् धूमाद्वह्निवत्' अनुमान अनुचित है । इस वैधर्म्य के कारण शाब्दबोध अनुमिति से भिन्न है । यहाँ कुमारिल का आक्षेप है कि बिना युक्ति के किन्तु वैधर्म्य के कारण अन्य वैधर्म्य का आपादान 'वैधर्म्यसमाजाति' नामक असदुत्तर है[3] अतः शब्द को अनुमान से पृथक् करने में दी गई युक्ति सुसंगत नहीं है ।

---

1. भेदः सांख्यादिभिरुक्तयस्तो न युक्तं भेदकारणम् । - श्लोक० शब्द०१५
2. पूर्वसंस्कारयुक्तान्त्यवर्णवाक्यादिकल्पना ।
   विवक्षादि च धूमादौ नास्तीत्येतेन भिन्नता ।। - वही ,, १६
   अपि च, द्रष्टव्य - न्यायरत्नाकर ।
3. वैरूप्यात्तत्र वैधर्म्यविकल्पसमजातिता ।
   वैधर्म्यसमाजाति के लिए द्रष्टव्य - न्यायसूत्र अ० ५ आह्निक १ ।

(ii) सांख्यों का तर्क है कि शब्द का प्रयोक्ता जिस विषय के बोध के लिए शब्द प्रयोग करता है, वह उसी विषय के बोध को उत्पन्न करता है। शब्द स्वार्थ-विषयकबोध के उत्पादन में प्रयोक्ता पुरुष के अभिप्राय की अपेक्षा रखता है, जबकि धूमादि हेतुओं से उत्पन्न होने वाली अनुमिति में पुरुषविशेष के अभिप्राय की अपेक्षा नहीं होती है वहाँ केवल हेतु, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता की आवश्यकता होती है। अतः शाब्दबोध का अनुमिति से पार्थक्य है।[1] कुमारिल इस तर्क को भी उचित नहीं मानते क्योंकि पुरुष के सङ्केत के अनुसार अङ्गुलि की एक प्रकार की चेष्टा विभिन्नप्रकारक अनुमितियों का उत्पादन कर सकती है। और, यह भी देखा जाता है कि अनाप्त-पुरुष के हस्तसंकेतादि व्यापारों से उसी प्रकार अनुमिति नहीं होती है[2] जिस प्रकार अनाप्त पुरुष के उच्चरित शब्द से शाब्दबोध नहीं होता है। किञ्च, सांख्यमतावलम्बियों का यह पुरुषापेक्षितत्व हेतु वैदिक वाक्यों के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि वैदिक पदों में पुरुष के अभिप्राय की अपेक्षा नहीं होती है। इस प्रकार सांख्याचार्यों का पूर्वोक्त हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है।[3] इतना ही नहीं, यह पुरुषापेक्षितत्व हेतु बौद्धगण अनुमान में शब्द के अन्तर्भाव के लिए प्रयुक्त करते हैं। उनके अनुसार, शाब्दत्वाविनत्व और अर्थ का अभिसंवाद इन दोनों में व्याप्ति होती है अतः शाब्दबोध अनुमिति है। जिस हेतु को बौद्धगण शाब्दबोध में अनुमित्यभेद का साधक मानते हैं, उसी हेतु को शाब्दबोध में अनुमिति भेद के साधन के लिए प्रयुक्त नहीं किया

---

१. यथेष्ट विनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दतः।
न धूमादेरितीदृगपि व्यभिचारोऽङ्गुलादिभिः ।। - श्लोक० शब्द० ४९
हस्तसंज्ञादयो येऽपि यदर्थप्रतिपादने।
[illegible]: कृतसङ्केतास्ते न लिङ्गमिति स्थितिः ।। - वही ,, ५०

२. पुरुषाभिप्रायवाचां च तथैव व्यभिचारिता।
- श्लोक० शब्द० २१

३. यल्लौकिकवाक्यानां न तत्त्वव्याप्तिता भवेत् ।।
- श्लोक० शब्द० २१

जा सकता ।[1]

(iii) सांख्याचार्यों का तर्क है कि शब्द तथा अर्थ के व्याप्ति सम्बन्ध के आधार पर जो शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत किया जाता है, वह भी उचित नहीं है क्योंकि, शब्द से अपूर्व, देवता प्रभृति ऐसे अर्थों का भी बोध होता है जिनके साथ शब्द का कोई सम्बन्ध पहले से ज्ञात नहीं रहता । कुमारिल का आक्षेप है कि पूर्व सम्बन्ध की अपेक्षा न रखने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थबोध की उत्पत्ति में सम्बन्ध की अपेक्षा ही नहीं है । किञ्च, अपूर्व, देवता प्रभृति पद भी अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञात सम्बन्ध के द्वारा ही अर्थबोध के कारण हैं,[2] कोई भी पद बिना अर्थ सम्बन्ध के स्वार्थ का बोधक नहीं हो सकता ।

(iv) सांख्याचार्यों का शब्द के पार्थक्य हेतु तर्क है कि शाब्दबोध में शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थज्ञान तीनों ही तुल्यरूप से भासित होते हैं जबकि अनुमिति में ऐसा नहीं होता है । कुमारिल इस युक्ति का खण्डन करते हैं क्योंकि बिम्ब से दर्पण में जो प्रतिबिम्ब की अनुमिति होती है उसमें भी यह तुल्याकारता है; अत: कैसे कहा जा सकता है कि यह तुल्याकारता केवल शाब्दबोध में ही है, अनुमिति में नहीं है । यदि दर्पण में प्रतिबिम्ब ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान माना जाय, तब भी बालुका में स्थित पादचिह्न से जो उसी प्रकार के चिह्न में तद्व्यक्ति के चिह्न होने का अनुमान होता है उसमें उक्त तुल्याकारत्व व्यभिचरित होगा।[3] ।

---

१. - - - -- -- - - उक्ता पार्थ्यैरभिन्नता ।
शाब्दाकारादिवैचित्र्यसामान्यादनुमानत: ॥ - श्लोक० शब्द० २७

२. न चाप्यनधिगम्यानां भेदात् सर्वेन भिन्नता ।
न भेदाश्चाविगम्येभ्यो भेदस्तेषां प्रतीयते ॥ - श्लोक० शब्द० २४
न चाप्यज्ञातसम्बन्धं पदं किंचित् प्रकाशकम् । - वही २५
सम्बन्धानुपपत्त्यातो न स्यादननुमानता ॥
अपि च,
अपूर्वादिवदव्यपदेशादिविहिताभूतार्थानुगृहीतसम्बन्धमेव प्रत्यायकमिति.।
- न्यायरत्नाकर

३. प्रतिबिम्बेष्वनैकान्तो बिम्बं पादुषि दर्पणे ।
पादुक-मुद्रादि दृश्यन्ते न चातानुमानता ॥ - श्लोक० शब्द० २७

(अगले पृष्ठ पर देखें पादटिप्पण)

(V) सांख्यों के अनुसार शब्द का अनुमान से पार्थक्य है क्योंकि शब्द में 'एकदा अनेकविषयबोधजनकत्व' है किन्तु अनुमान में नहीं है। कुमारिल यह तर्क भी नहीं मानते क्योंकि सद्धेतु एवं हेत्वाभास में भी वह 'एकदा अनेकविषयबोधजनकत्व' होता है। और, जिस शब्द में 'एकदा अनेकविषयबोधजनकत्व' नहीं होता उसे अनुमान से किस प्रकार पृथक् किया जाएगा? साथ ही एक शब्द में अनेकार्थबोधकत्व मानना भी असङ्गत है क्योंकि एक बार उच्चरित शब्द का तात्पर्य एक ही अर्थ में होता है। जहाँ कहीं तात्पर्य का निर्णय न होने के कारण किसी एक अर्थ का निश्चय न होने पर अनेकार्थविषयक ज्ञान होता है, वह संशयरूप ही होता है, यह संशयज्ञान अनेकविध अनुमान में भी होता है।[1]

(VI) सांख्याचार्यों का छठा पार्थक्य साधक तर्क है कि अनुमान में दृष्टान्त का अभिधान आवश्यक होता है जबकि शब्द में यह आवश्यक नहीं होता है। कुमारिल इस तर्क को भी सदोष बतलाते हुए कहते हैं कि दृष्टान्तानभिधान अनुमान में भी

प्रत्यक्षता तदाध्यक्ष तदान्येर्व्यभिचारिता।
यत्र वादादि बिम्बेन गतानामनुमीयते ॥ - श्लोक० शब्द० २८

आचार्य पार्थसारथिमिश्र दर्पण में प्रतिबिम्ब ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमित्यात्मक मानते हैं।

१. एकमावधात् कृष्णोकान्मात्यनेकस्य तत्त्वाङ्गम्। - श्लोक० शब्द० २९
स्याद् विरुद्धाविरुद्धस्य बोधार्थस्य भिन्नता ॥
लिङ्गत्वापि हि तादृश्यं दृष्टं हेतुविरुद्धयोः। - वही ३०
विरोधान्नानुमानं चेत् स्यादन्यानयापि ते ॥
यत्र चैकार्थता वाक्ये तत्र स्यादनुमानता । - श्लोक० शब्द० ३१
अनुच्चारिते वास्मिन् विरोधेन कुरुते ॥

यत्त्वनिश्चारितार्थानामनेकप्रतिभोद्भवः ।
स लिङ्गेऽप्यस्फुटे दृष्टस्तस्मान्नैतेन भिद्यते ॥

- श्लोक० शब्द० ३२

व्यभिचारित होता है क्योंकि जिन हेतुओं से साध्य की व्याप्ति निरन्तर गृहीत हो चुकी रहती है वहाँ दृष्टान्त का अभिधान आवश्यक नहीं होता है ।[1]

इस प्रकार कुमारिल सांख्यों द्वारा शब्द के पार्थक्य साधक तर्कों में त्रुटियां दिखाते हुए प्रदर्शित करते हैं कि ये तर्क सरलतया कुतर्क सिद्ध किये जा सकते हैं । कुमारिल को शब्द प्रमाण का पार्थक्य तो अभीष्ट है किन्तु सांख्य की स्वतोव्याघाती युक्तियाँ ग्राह्य नहीं है । पूर्वोक्त विवरण स्पष्ट करता है कि ये युक्तियां शब्द प्रमाण के पार्थक्य का सुष्ठु प्रतिपादन नहीं कर पातीं क्योंकि दूसरों (बौद्धादि) द्वारा अनुमानाभेद की सिद्धि में[2] उपस्थित किए गए हेतुओं का भी सांख्याचार्यगण उचित खण्डन नहीं कर पाए हैं ।

---

१. दृष्टान्तानभिधानं च धूमादौ व्यभिचारितम् । श्लोक० शब्द० ३
प्रसिद्धत्वादि तथापि न दृष्टान्तो विधीयते ।।

२ परोक्ता हेतवश्चात्र मानभेदस्य निवारिता: । - वही ३५

(ख) ५. ४ शब्द का स्वरूप : नित्य या अनित्य

विविध दार्शनिक शब्द के स्वभाव के सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध-जैन — ये सभी दार्शनिक शब्द को अनित्य मानते हैं जबकि वेदान्त, मीमांसा तथा वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं । न्यायसूत्रकार महर्षि अक्षपाद ने शब्द को अनित्य सिद्ध करके शब्द की कार्यता का समर्थन किया है । अद्वैत वेदान्ती तथा श्लोकवार्त्तिककार शब्द के नित्यत्व का समर्थन करते हैं ।

शब्द के नित्यत्व के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना वेदान्तपरिभाषाकार ने नहीं की है । सम्भवतः व्यवहार में भाट्टनय का अनुसरण करने के कारण शब्द के नित्यत्व की विवेचना अभीष्ट न रही हो । अद्वैत वेदान्ती भगवान श्री शङ्कराचार्य वृत्तिकार उपवर्ष[1] के मत से सहमत होकर प्रतिपादित करते हैं कि अक्षर ही शब्द है । ये अक्षर नष्ट नहीं होते क्योंकि प्रत्येक बार जब उन्हें नये सिरे से प्रकट किया जाता है तो 'ये वही अक्षर हैं' — इस प्रकार उनकी पहचान किया जाता है । शब्द संख्या में अनेक होने के कारण जाति अथवा आकृति का बोध कराते हैं, व्यक्तियों का नहीं । उत्पत्ति तथा विनाश व्यक्तियों का ही होता है, वर्णों अथवा जातियों का नहीं । शब्दों तथा उनसे जिन जातियों का बोध होता है उन जातियों के मध्य होने वाले सम्बन्ध को नित्य कहा गया है । शङ्कराचार्य के मत का अनुसरण करते हुए अन्य सभी वेदान्ती भी शब्द के नित्यत्व का ही प्रतिपादन करते हैं ।

मीमांसक विद्वान भी शब्द के नित्यत्ववाद के ही समर्थक हैं । उनके अनुसार शब्द उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत अभिव्यक्त होता है । प्रयत्न, ध्वन्यादि द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है । 'शब्दं करोति' आदि प्रयोगों में 'करोति' का व्यपदेश केवल प्रयोग के लिए होता है[2] उससे सिद्ध स्वरूप शब्द की कार्यता सिद्ध नहीं होती ।

---

१. 'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः । ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्; तन्न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात् । - ब्र० सू० शा० भा० १।३।८।२८

२. 'शब्दं कुरु, मा कार्षीरिति व्यवहारः प्रयुज्यते । 'अथायं नित्यः शब्दः 'शब्दप्रयोगं कुरु' इति भविष्यति ।

- शा० भा० पृ० ६७

चिरस्थायी शब्द पवन के संयोग, विभाग द्वारा विभिन्न देशों में अभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए यह अनुमान करना कि शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है -- अनुपयुक्त है। जिस वस्तु में विकार होता है वह वस्तु अनित्य होती है। चूँकि शब्द में कोई विकार नहीं होता है अतएव इसकी अनित्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। 'दध्यत्र' आदि प्रयोगों में इकार के स्थान पर यकार मात्र उस प्रकार का विकार नहीं है जैसे क्षीर का विकार दधि होता है, किन्तु प्रयत्न एवं स्थान साम्य के कारण यह विकार दृष्टिगत होता है।[1] किञ्च, यदि सादृश्य दर्शन मात्र के कारण विकार मान लिया जाय तब तो नैककमलपुष्प का विकार हो जाएगा। शब्द के मौलिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सामग्री में वृद्धि अथवा अल्पता के कारण ही शब्द की अभिव्यक्ति में परिवर्तन होता है। अतः शब्द की नित्यता तथा अपरिवर्तनीयता अबाधित है।

५.४.२ शब्दाभिव्यक्तिवाद--

श्लोकवार्तिककार ने शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए शब्द की कार्यता का निषेध किया है। यदि शब्द को अनित्य माना जाय तो शब्द से अर्थग्रहण की उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि अर्थग्रहण तो स्थायी शब्द के द्वारा ही सम्भव है। शब्द को नश्वर मानने पर तो अर्थग्रहण के लिए आवश्यक शब्दार्थ सम्बन्ध का ग्रहण सम्भव नहीं होगा। इसलिए शब्द को कार्य नहीं माना जा सकता है। शब्द वस्तुतः अभिव्यक्त होता है। शब्द नित्य तथा विभु होता है, उपलब्धि के अवसर पर शब्द की वायु द्वारा अभिव्यक्ति होती है। शब्द के नित्य होने पर भी इसकी सर्वत्र प्रतीति नहीं होती है - इसका कारण यह है कि शब्द की अभिव्यक्ति सदैव वायु-संयोग पर निर्भर होती है। शब्द को कार्य मानने वाले सभी दार्शनिकों के मत का खण्डन कुमारिल ने किया है। वार्तिककार तथा अन्य मीमांसक संस्कार पक्ष को स्वीकार करते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होता है। श्रोत्रेन्द्रिय किसी विशेष

---

१. यदि क्रियते तदनित्यम्। इकारसादृश्यं च यकारस्योपलभ्यते, तेनापि तयोः प्रकृतिविकारभावोऽभिमन्यते।

— शा० भा० १। १। ६। १४

वायु के उपघात रूप संस्कार से संस्कृत होकर विशेष शब्दों का ग्रहण करती है । जिस प्रकार घट के साथ चाक्षुष तेज से उपयुक्त सम्बन्ध के द्वारा दीपक चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य घटादि का व्यञ्जक होता है, उसी प्रकार ध्वनि भी[1] श्रोत्र से शब्द-ग्रहण के उपयुक्त संस्कार का उत्पादक होने से शब्द का व्यञ्जक है । शब्द की अभिव्यक्ति सर्वदा वायु के संयोग, विभाग पर ही निर्भर है । संयोग, विभाग द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है - जिस प्रकार से गन्ध केवल पृथ्वी में उपलब्ध होती है तथा घ्राणेन्द्रिय से गृहीत होती है किन्तु विभिन्न व्यञ्जकों के परिप्रेक्ष्य में गन्ध की अभिव्यक्ति कभी अग्नि के सम्पर्क से, कभी सूर्य की किरणों के सम्पर्क से तथा कभी जल के सम्पर्क से होती है । इसी प्रकार शब्द की उपलब्धि में भी व्यञ्जक-व्यङ्ग्यभाव है । श्रोत्र का संस्कार केवल पवनापनोदन ही नहीं है, यह संस्कार कई योग्यताओं के सम्मिश्रण से बनता है तथा प्रत्येक योग्यता एक विशिष्ट वर्ण की अभिव्यक्ति में समर्थ होती है । ध्वनि शब्द की अभिव्यञ्जक है । शब्द के सर्वगतत्व तथा निरवयवत्व के कारण तीव्रत्व मन्दत्व आदि शब्द में रहते हुए प्रतीत होने वाले धर्म वर्णध्वनि के ही धर्म हैं ।

५.४.२ शब्दकार्यतावादी पूर्वपक्षी मतों का खण्डन—

न्याय-वैशेषिक मत — संयोग या विभाग से उत्पन्न हुआ शब्द सभी दिशाओं में कदम्बगोलक न्याय से तथा नियत व दैशिक दिशाओं में वीचीतरङ्ग न्याय से स्वसमानजातीय शब्दान्तर को उत्पन्न करता है । तत्पश्चात् इस शब्दान्तर द्वारा अन्य शब्दान्तरों की उत्पत्ति होती है । इन शब्दान्तरों में से कोई कर्णावच्छिन्न आकाश में पहुँचकर उसमें समवेत होता हुआ श्रवणेन्द्रिय द्वारा समवाय सन्निकर्ष से गृहीत होता है । मीमांसक शब्दान्तरों के जन्म की कल्पना को हास्यास्पद कहते हैं । कुमारिल का कथन है कि ज्ञानसन्तान की भाँति ही शब्दसन्तान की भी कल्पना नहीं की जा सकती ।[2] दीपकसन्तान की भाँति शब्दसन्तान की जो बात कही

---

१. यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते ।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतेः ॥ - श्लो०वा०शब्दनि०अ० ४२,
वार्तिक ४, (शब्दनित्यताधिकरण)
विस्तृत हेतु द्रष्टव्य वार्तिक ४१-४६

२. श्लोकवार्तिक के निरालम्बनवाद में ज्ञानसन्तान का निरास किया गया है ।

गयी है वह भी उचित नहीं है क्योंकि वीचि (तरङ्ग) वेग तथा क्रिया से युक्त हैं अतः क्रिया की स्थितिपर्यन्त वीचियों की उत्पत्ति हो सकती है किन्तु शब्द में वेग एवं क्रिया का अभाव होने से एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है।[1] यदि एक शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति हो तो दीवार से उसका प्रतिरोध न हो सकेगा क्योंकि अमूर्त वस्तु का प्रतिरोध मध्यस्थित मूर्त वस्तु से नहीं होता है। इस शब्द सन्तान में कुड्यादि भी व्यवधान नहीं कर सकेंगे क्योंकि आकाश तो अमित है तथा कुड्यादि अमंगत आकाश के मध्य स्थित है।[2] शब्द से स्वसमानजातीय शब्दान्तर उत्पन्न होने पर शब्द में तीव्र तथा मन्द विभाग नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय कि शब्द से शब्द की उत्पत्ति के बिना शब्द का श्रवण नहीं हो सकता है तो यह कहना असङ्गत है क्योंकि शब्द से शब्द की उत्पत्ति माने बिना भी शब्द श्रवण की यौक्तिकता है। शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति में कोई प्रमाण भी नहीं है। जिस प्रकार वैशेषिक मत में अन्तिम शब्द से आगे किसी दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार अन्तिम शब्द से भिन्न मध्यवर्ती शब्द एवं आद्य शब्द इन सभी से भी शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि सभी शब्द समान हैं।[3] संयोग-विभाग शब्द के जनक नहीं होते अतएव शब्द की उत्पत्ति कथमपि नहीं स्वीकार की जा सकती है।

---

1. शब्दसन्तानपक्षेऽपि सन्तानो नावकल्पते।
   वेगवत्त्वक्रियत्वाभ्यां तरङ्गाणां तु युज्यते ॥

   - श्लोक० श० नि० श्लो० १५

2. आरम्भप्रतिबन्धो च न च कुड्यादिभिर्भवेत् ॥ -श्लोक० श० नि० श्लो० १६
   न ह्यमूर्तस्य सद्भावो मूर्तमध्ये विहन्यते। - वही ,, १७
   न च कुड्यादिभिर्व्योम नाश्यते वार्यतेऽपि वा ॥
   न विरोधीयते तस्मात् कुड्यमध्येऽपि तद् ध्रुवम्। - वही १८ की प्रथम पंक्ति

3. शब्दं नारभते शब्दः शब्दत्वादन्त्यशब्दवत् ॥

   - श्लोक० श० नि० १०५

सांख्य-मत :—

सांख्याचार्यों का मत है कि वृत्ति श्रोत्रेन्द्रिय प्रणालिका द्वारा शब्दोत्पत्ति देश तक पहुंचती है तथा शब्दाकाराकारित होकर शब्दार्थसम्बन्ध के द्वारा अर्थ को प्रस्तुत करती है । कुमारिल ने सांख्य के इस मत का भी खण्डन प्रस्तुत किया है । इस पक्ष में श्रोत्र की (१) वृत्ति तथा (२) उस वृत्ति का गमन— इन दो प्रत्यक्ष विरुद्ध बातों की कल्पना करनी पड़ती है । विषय के इन्द्रिय से दूर रहने पर विषयाकार में परिणति सम्भव ही नहीं है । विभुत्वकृतसम्बन्ध से इन्द्रियों की विषयाकार परिणति मानकर भी काम नहीं चलाया जा सकता क्योंकि विषयों के साथ इन्द्रियों का विभुत्वकृतसम्बन्ध इन्द्रियों से न देखने योग्य अत्यन्त दूरस्थ विषयों के साथ भी है । अत: यह कहना कि अहङ्कार विभु है तथा अहङ्कारमयी इन्द्रियाँ भी विभु हैं, विभु होने के कारण विषयों के साथ सदैव सम्बद्ध रहती हैं, उचित नहीं है ।[1] श्रोत्र की विषयाकारपरिणतिरूपा वृत्ति चूंकि अमूर्त है अत: कुड्य प्रभृति उसका प्रतिरोध नहीं कर सकते । इस प्रकार व्यवहित शब्द के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । किञ्च, कितनी दूर के विषय के रूप में इन्द्रियों की परिणतिस्वरूप वृत्ति उत्पन्न हो इसकी कोई 'इयत्ता' नहीं की जा सकती है । अत: अतिदूर के शब्द श्रवण की भी आपत्ति होगी ।[2] न तो यह कहा जा सकता है कि 'अनुवात' के द्वारा श्रोत्र अथवा श्रोत्र की वृत्ति विषयदेश में जा सकती है क्योंकि तब तो 'प्रतिवात' से विनिहत होकर

---

१. श्रोत्रागमने पक्षे च तस्य वृत्तिश्च गच्छति ।
तद्दृष्टत्वं तस्य दूरस्थेन च विक्रिया ।
प्राप्तिः सर्वगतत्वाच्चेत् तुल्या दूरगतेष्वपि ॥
— श्लोक० श० नि० श्लो० ११३-११४

२. अमूर्ता श्रोत्रवृत्तिश्च न मूर्तेन विहन्यते ॥ — श्लोक० श० नि० श्लो० ११६
तत्र व्यवहितः शब्दः किमर्थं नोपलभ्यते ।
श्रोत्रस्य विक्रियायां च नैवबाधा निवारणम् ॥
— श्लोक० श० नि० श्लो० ११७

वृत्तियाँ शब्ददेश से दूर की जायेंगी।[1] इस प्रकार कुमारिल ने सांख्य मत को भी दूषित बतलाया है।

बौद्ध मत —

बौद्ध विद्वान विषय के साथ वास्तविक सम्बन्ध के बिना ही इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण मानते हैं। श्रवण किया जाने वाला शब्द श्रवणेन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं होता है प्रत्युत अप्राप्त ही शब्द श्रवणेन्द्रिय की विशेषशक्ति से गृहीत होता है। किन्तु यह मानना प्रलाप है क्योंकि जब ग्रहणयोग्य शब्द के समान ही ग्रहणायोग्य दूरस्थ तथा व्यवहित शब्दों के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध समान है तो दूरस्थ एवं व्यवहित शब्दों का ग्रहण भी स्वीकार करना होगा। इसके अतिरिक्त, सभी शब्दों का युगपद्ग्रहण का प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जाएगा। शब्द में जो तीव्रत्व एवं मन्दत्व का स्वाभाविक भेद उपलब्ध होता है वह भी अनुपपन्न हो जाएगा।[2] इसी कारण, कुमारिल को बौद्धों का मत भी अभीष्ट नहीं है।

५.४.३ मीमांसकों के मत से शब्द की नित्यता प्रतिपादक सिद्धान्त—

सूत्रकार महर्षि जैमिनि पर भाष्य लिखते हुए शबर ने शब्द की नित्यता को विशदतया प्रतिपादित किया है। उन्होंने सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की भी

---

१. नानुवातादिभिस्तस्य वृत्तेश्च प्रेरणं भवेत्। - श्लो० श० नि० श्लो० ११८
अनुवातं विहन्येत प्रतिवातं च वा पुनः॥
तद्गतं ह्यनुवातत्वं स्यान्न शब्दगतं तदा। - वही ११९

२. येषां त्वप्राप्य एवायं शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते। - वही १२०
तेषामप्राप्यतुल्यत्वं दूरव्यवहितादिषु॥
तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे।
स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः॥ - वही १२१

विवेचना की है[1]। उन्होंने शब्द को नित्य तथा अनुत्पन्न सिद्ध किया है। वस्तुत: शब्द नित्य ही होता है क्योंकि इसका उच्चारण दूसरों के लिए होता है[2]। यदि शब्द उच्चरित होने के साथ ही नष्ट हो जाय तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अर्थ का बोध नहीं करा सकेगा। वार्त्तिककार ने शब्द की नित्यता प्रतिपादित करते हुए पूर्ववर्ती सभी मतों का परिहार किया है। प्रत्यभिज्ञा के आधार पर भी शब्द की एकता (अनित्यता) ही सिद्ध होती है। तार्किकगण गकारादि की युगपद् उपलब्धि का व्यक्ति-भेद से समर्थन करते हैं अर्थात् देवदत्त के द्वारा श्रुत गकार व्यक्ति से भिन्न दूसरी गकार व्यक्ति ही यज्ञदत्त को सुनाई देती है, एक ही शब्द सर्वत्र सुनाई नहीं पड़ता। शब्द व्यक्तियों को तार्किकों ने विनाशी माना है। `स एवायं गकार:` यह प्रत्यभिज्ञा जातिनिबन्धित हो जाती है। अर्थात् जैसे `तदेवेदमौषधम्` -- इसका अर्थ `तज्जातीयमिदमौषधम्` -- इस प्रकार होता है उसी प्रकार `स एवायं गकार:` का अर्थ `तज्जातीयोऽयं गकार:` - यही होता है, अत: प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द व्यक्तियों का अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। भाट्ट मत में तार्किकों का यह पक्ष अयुक्त है क्योंकि जिस प्रत्यभिज्ञा का किसी सबल प्रमाण से विरोध होता है, उसी के द्वारा व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न होकर जाति निबन्धन व्यवहार माना जाता है अन्यथा सर्वत्र जाति-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा की कल्पना करने पर `सो यं` इत्यादि स्थलों पर भी व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न हो सकेगी। `सोऽयं गकार:` इस प्रत्यभिज्ञा का कोई बाधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता अत: उसके द्वारा शब्द की एकता ही सिद्ध होती है[3]। श्लोकवार्त्तिक में भी यही आशय दृष्टिगत होता है।

---

1. जैमिनि सूत्र १।१।६-१७
2. नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्। जै० सू० १। १। १८
3. नैयायिका: पुनरेकैक युगपदुपलम्भं व्यक्तिभेदेन समर्थयन्ति। व्यक्तीनां च विनाशित्वमभ्युपगच्छन्ति। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानस्य तु जाति-गोचरत्वमपि कल्पयन्ति। तदयुक्तम्, न ह्यत्र हि प्रत्यभिज्ञानस्य बलवत्प्रमाण-विरोधेन व्यक्तिगतैकत्वं गोचरीकर्तुमशक्यम्, तस्यैव जात्यात्मनैकगोचरत्वकल्पनं युक्तम्। अन्यथा सर्वत्रापि जात्यात्मना प्रत्यभिज्ञानकल्पने सोऽयं देवदत्त इत्या-दावपि तथात्वप्रसङ्गात्। न चात्र बाधकप्रमाणं किञ्चिदुपलभ्यते।
- भा० चि०, पृ० २२०

'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञान से यह समझा जा सकता है कि वर्तमान काल में इस उपलब्धि से पूर्व भी वह अवश्य था[1] क्योंकि पूर्वकाल में सत्ता के बिना यह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, गो शब्द का उच्चारण होते ही सभी गौओं का एक ही साथ बोध हो जाता है। इस प्रकार सभी व्यक्तियों में एक ही समय में ज्ञान होने के कारण[2] शब्द नित्य है।[3] किसी दूसरे पर आश्रित न होने के कारण भी शब्द नित्य है। शब्द का पट के समान कोई उपादान कारण नहीं मिलता जिसके विनाश से यह बोध हो कि शब्द नष्ट हो जायगा। जिस प्रकार चाकू आदि शस्त्रों से कट जाने पर अथवा पुराना पड़ जाने पर शस्त्रों से वह पुरानेपन से पटादि द्रव्यों का विनाश ज्ञात होता है, शब्द के विनाश के लिए वैसा कोई कारण उपलब्ध नहीं होता है। पूर्वपक्षी का यह कहना भी अनुचित है कि शब्द का कारण वायु है क्योंकि यदि शब्द वायु से उत्पन्न या वायु के रूप में होता तो यह वायु का ही कोई विशेष रूप होता। परन्तु, जिस प्रकार पट में तन्तु के रूप में अवयव-दर्शन होता है उस प्रकार शब्दों में वायु के अवयवों की विद्यमानता अप्राप्त होती है। शब्द यदि वायुजन्य होता तो स्पर्शेन्द्रिय से ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता किन्तु शब्द के भीतर वर्तमान किसी प्रकार के वायवीय अवयवों का स्पर्श नहीं होता है।[4] इस प्रकार उच्चारण शब्द का अभिव्यञ्जक ही

---

1. शब्दो ऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते।
   - श्लोक० शब्द० ३३
2. सर्वत्र यौगपद्यात्। जै० सू० १।१।१९-२०
3. अनपेक्षत्वात्। जै० सू० १।१।२१

   अपि च,

   यथा शस्त्रादिभिर्भेदाज्जरया वा पटादयः।
   नङ्क्ष्यन्तीत्यवगम्यन्ते नैवं शब्दे ऽस्ति कारणम्॥
   - श्लोक० श० नि० श्लो० ४४३
4. प्रख्याभावाच्च योगस्य। जै० सू० १।१।२२

   अपि च,

   शब्दं यथा पौद्गलिको निषिद्धः
   स्याद् वायवीयस्य स एव मार्गः।
   तस्मादनिर्धारितहेतुमार्गः
   सर्वत्र जातात् भवतीति नित्यः॥ — वही ४४४

   श्लोक०, श० नि० श्लो०

है, उत्पादक नहीं । शब्द निरवयव होता है अतः उससे कोई अवयव उत्पन्न नहीं हो सकता है । शब्द की सत्ता सभी देशों में है जिसका ज्ञान अपरोक्षतया होता रहता है । अतः शब्द को आकाश की भाँति व्यापक तथा नित्य मानना चाहिए ।

स्पष्ट है कि मीमांसकों ने शब्द की नित्यता को सिद्ध किया है । उपलब्धिकाल में वायु संस्कृत श्रवणापरिच्छिन्नाकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है । किञ्च, वेद वाक्य नित्य हैं तथा इन वेद वाक्यों का अर्थ असङ्गत नहीं होता - इस लिङ्ग दर्शन से लिङ्गी शब्द की नित्यता का अनुमान किया जा सकता है ।[1]

पूर्वोक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि श्लोकवार्तिककार को शब्द का नित्यत्व ही अभीष्ट है । शब्द सर्वदा अभिव्यङ्ग्य ही होता है, कार्य नहीं । अपने सिद्धान्त की पूर्णता हेतु उन्होंने पूर्वपक्षी मतों का विशदतया खण्डन किया है । नैयायिक शब्द की नित्यता को मानने में किसी भी प्रकार सहमत नहीं हैं — इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए आगे चलकर जयन्तभट्ट ने शब्द की नित्यता का खण्डन किया ; किन्तु, कुमारिल द्वारा शब्द की नित्यता प्रतिपादक तर्कों का स्वाभिमतानुसार वह भी समुचित खण्डन नहीं कर पाए हैं । पर्याप्त पर्यालोचन के बाद कुमारिल तथा वेदान्तियों को अभीष्ट शब्द की नित्यता प्रतिपादक सिद्धान्त ही सङ्गत प्रतीत होता है ।

---

१. लिङ्गदर्शनाच्च । जै० सू० १। १। २३

(ग) ५.५ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

वेदान्तपरिभाषा में शब्दार्थसम्बन्ध को लेकर पृथक् विवेचन अप्रस्तुत है किन्तु श्लोकवार्तिक में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को लेकर सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की गई है। वार्तिककार तथा अन्य मीमांसकों का मत है कि शब्द एक निश्चित अर्थ को दूसरों तक पहुँचाने के लिए उच्चरित किया जाता है।[१] यदि शब्द को क्षणिक मान लिया जाय तो यह अर्थग्रह कराने के पूर्व ही विनष्ट हो जाएगा। अतः अर्थग्रह की सम्यक् उपपत्ति के लिए शब्द को नित्य मानना ही पड़ेगा। कोई भी शब्द उच्चरित होने पर सभी व्यक्तियों का युगपद् बोध कराता है, अतः पद का अर्थ आकृति होता है। सभी व्यक्तियों का युगपद् बोध कराने के कारण भी शब्द नित्य है।

शब्द का प्रयोग अर्थ प्रत्यायकता के हेतु से किया जाता है। सभी शब्द अपने नियत अर्थों का बोध कराते हैं अतः शब्द और अर्थ के मध्य किसी न किसी संबंध की कल्पना सभी बाह्यार्थवादी दार्शनिक करते हैं। शब्द तथा अर्थ के मध्य संयोग या समवाय सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है। शब्द तथा अर्थ के मध्य बीज तथा अङ्कुर में वर्तमान कार्य-कारण सम्बन्ध, तन्तुवाय तथा पट के मध्य वर्तमान निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध या कुण्ड और बेर के मध्य आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता।[२] शब्द और अर्थ दोनों को नित्य मानने के कारण इनके मध्य कार्य-कारण या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। शब्द का आश्रय आकाश है, अर्थ का पृथिवी आदि, भिन्नाश्रय होने के कारण इनके बीच आश्रया-श्रयिभाव सम्बन्ध भी नहीं है। इसीलिए शब्द तथा अर्थ के मध्य मीमांसक स्वाभाविक

---

१. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। मी० सू० १।१। ६

२. यदि संश्लेषलक्षणं सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते। कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिका-श्रयाश्रयिभावादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति।

— शा० भा० पृ० ३५

तथा नित्य वाचक-वाच्य सम्बन्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं। शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध अनादि तथा नित्य है। शब्द में अर्थप्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति होती है। शब्द का उच्चारण करते ही श्रोता में शक्ति के द्वारा शब्द अपना अर्थ प्रकाशित कर देता है।

मीमांसकों की भाँति वैयाकरणों ने भी पद तथा पदार्थ की व्यवस्था पर विस्तृत विचार किया है। वैयाकरणों में भर्तृहरि ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में अनेकता होते हुए भी एकता के सिद्धान्त को मान्यता दी है। वे अर्थ को शब्द से भिन्न भी मानते हैं तथा अभिन्न भी। जो अर्थ जिस शब्द से भिन्नाभिन्नात्मक होता है, वही उस शब्द से बोधित होता है। सब अर्थों तथा शब्दों के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव होने के कारण सब शब्द सब अर्थों के बोधक नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि सब अर्थ सब शब्दों से भिन्नाभिन्नात्मक नहीं हो सकते अतः सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता। वैयाकरणों में अर्थप्रत्यय[1] का आधार अद्वैत वेदान्त को अभिमत कार्यकारणसिद्धान्त विवर्तवाद को माना है। वार्तिककार को वैयाकरणों को अभिप्रेत तादात्म्य सम्बन्ध मान्य नहीं है। शब्द तथा अर्थ की अलग-अलग उपलब्धि होने के कारण इनके मध्य कभी भी किसी प्रकार का एकत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए मीमांसक शब्द तथा अर्थ के मध्य स्वाभाविक तथा नित्य वाचक-वाच्यभाव सम्बन्ध की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन सर्वप्रथम महर्षि जैमिनि ने किया।[2] जैमिनि विशिष्ट शब्द के उच्चारण (उपदेश) को ही धर्म को जानने का साधन मानते हैं क्योंकि अनुपलब्ध पदार्थ के विषय में उपदेश कभी असत्य नहीं हो सकता। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होना स्वाभाविक या

अपौरुषेय है । इस सम्बन्ध को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता है । इसीलिए धर्म के ज्ञान का साधन केवल वैदिक विधि है । परोक्ष विषयों के ज्ञान के लिए यह सर्वोत्कृष्ट साधन है क्योंकि यह कभी मिथ्या या विपरीत नहीं होता है । अतः शब्दजन्य ज्ञान के समर्थन हेतु किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है । शब्दार्थ-सम्बन्ध को यदि अन्य प्रमाणों पर आश्रित माना जाय तो परोक्ष विषयों के ज्ञान में इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध होगी । इस सम्बन्ध के नित्य, स्वयंसिद्ध तथा स्वतन्त्र होने के कारण ही वेद के शब्दों से प्राप्त ज्ञान का कभी विपर्यय नहीं होता ।

नैयायिकगण शब्दार्थसम्बन्ध को पुरुषकृत सङ्केतरूप मानते हैं, अतः उनके मत से यह सम्बन्ध नित्य है । वार्तिककार इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि शब्दार्थसम्बन्ध को पौरुषेय माना जाय तो इस प्रसङ्ग में तीन विकल्प हो सकते हैं — (i) सङ्केत रूप यह `समय` क्या प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग है, (ii) या प्रत्येक पुरुष के प्रत्येक उच्चारण में अलग अलग है, (iii) या सृष्टि के आदि में ही किसी `पुरुष` के द्वारा इस सङ्केतस्वरूप `समय` का निर्माण हुआ।[1] ये सभी विकल्प अनुपपन्न हैं । यदि सभी पुरुषों में एक ही सङ्केत को स्वीकार किया जाय तो उसकी `कृतकता` नहीं रहेगी क्योंकि बहुत से पुरुषों द्वारा किसी एक सङ्केत का निर्माण सम्भव नहीं है । प्रत्येक पुरुष में प्रत्येक शब्द को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इससे एक शब्द से भिन्न पुरुषों में विभिन्न विषयक ही बोध होंगे । किन्तु, यह सर्वानुभवविरुद्ध है क्योंकि एक ही घट शब्द से अनेक पुरुषों को एक घट विषयक समान बोध ही होता है । किञ्च, प्रतिपुरुष के अनुसार प्रतिशब्द को भिन्न-भिन्न मानने पर यह दोष भी होगा कि प्रत्येक सम्बन्ध में एक शब्द की अभिधाशक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे सभी

---

१. समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।
क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित् ।।
प्रत्येकं वापि सम्बन्धाः नियतेकोऽथ वा भवेत् ।
- श्लोक० सम्बन्धाक्षेपपरिहार १३-१४ की प्रथम पंक्ति

शब्दों को अनेकार्थक मानना पड़ेगा।[1] इसमें एक दोष और भी है कि जिस किसी व्यक्ति ने किसी एक शब्द का किसी एक अर्थ में सङ्केत किया है, उसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि एक अर्थ की शक्ति स्वरूप सम्बन्ध के ज्ञात रहने पर अज्ञातशक्तिक दूसरे शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है।[2]

यहाँ पर पूर्वपक्षी का कहना है कि एक पुरुष द्वारा प्रयुक्त शब्द से उसी पुरुष के द्वारा किये गए सङ्केत के अनुसार अर्थ का ग्रहण दूसरे पुरुष को हो सकता है। वार्तिककार का उत्तर है कि ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो जिस किसी एक शब्द का अनेक पुरुषों ने अनेक अर्थों में सङ्केत किया है,[3] उस शब्द से सङ्केतकर्ताओं से भिन्न किसी पुरुष को बोध न हो सकेगा। पूर्वपक्षी का पुन: मत है कि अनेक अर्थों में सङ्केतवाले पद से भी विकल्प से प्रकरणादि की सहायता से किसी एक अर्थ का बोध अन्य पुरुष को हो सकता है। कुमारिल पुन: इस मत का खण्डन प्रस्तुत करते हैं क्योंकि जिस पुरुष को किसी 'मितु' आदि शब्दों में से किसी एक शब्द का सङ्केत आप्त आर्यगण ने वृथा में किया है एवं अनाप्त

---

1. एकत्वे कृतको न स्याद्, भिन्नश्चेद् भेदधीर्भवेत् ।।
   भिन्नत्वे प्रतिसम्बन्धं शक्ति: कल्प्याभिधा प्रति।
   - श्लोक० सम्बन्धाक्षेपपरिहार - १४ की द्वितीय तथा १५ की प्रथम पंक्ति।
2. एकस्मिन् ज्ञातशक्तो वा नान्येनार्थमतिर्भवेद् ।। - १५ की द्वितीय पंक्ति

   अपि च,

   यस्य केनचिद् वक्त्रा सम्बन्ध: कृत: स वक्त्रन्तरप्रयुक्ताद् शब्दादर्थं न प्रतिपद्येत, न ह्यन्यस्मिन् सम्बन्धे ज्ञातशक्तावन्यस्यावज्ञातशक्तिकादर्थप्रतीति: सम्भवतीति।
   - न्यायरत्नाकर, पृ० ५५५
3. अथ यो यस्य पुंस: स्याद् स तेन प्रतिपद्यते?
   यस्यानेकेन सम्बन्ध: कृतस्तस्य कथं भवेद् ।।
   - श्लोक० स० वा० पृ० १६

म्लेच्छगण ने उसी `पिलु` शब्द का सङ्केत हाथी में किया है वहाँ म्लेच्छकृत सङ्केत का अत्यन्त बाध होता है । बाद में आर्यकृत सङ्केत के अनुसार `पिलु` शब्द से विकल्पत: कभी वृक्ष का तथा कभी-कभी हाथी का बोध होगा अत: यह विकल्पपक्ष भी उचित नहीं है । किञ्च, इस अनेकपुरुषकृत अनेक सङ्केतवाले पदों से अभि सङ्केतितार्थों का (एक साथ ही) समुच्चय से भी बोध नहीं हो सकता है ।[1]

शब्द तथा अर्थ के सम्बन्धों में किसी जाति की सम्भावना नहीं है क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध अनेकाकारक (द्व्याकार) नहीं हो सकता है । अनेक वस्तुओं में ही जाति की सत्ता सम्भावित है । अत: वार्त्तिककार का मत है कि शब्द तथा अर्थ में जो अर्थबोधजनक सम्बन्ध है, वह `शक्ति` रूप है । `शक्ति` भिन्न प्रकारों की नहीं होती है, क्योंकि शक्ति की सत्ता तो उसके कार्यस्वरूप हेतु से ही जानी जा सकती है अर्थात् कार्यानुमेयशक्ति विभिन्न नहीं हो सकती । अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा भी शक्ति की सत्ता मानी जाती है । अत: एक ही अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध शक्ति में बहुत्व की कल्पना नहीं की जा सकती ।[2] यदि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध उच्चारण से पूर्व में[3] विद्यमान न रहे तो किसी को भी गो शब्द से गो रूप अर्थ का ज्ञान नहीं रहेगा ।

---

१. एकार्थानां विकल्पश्चेन्नेतरात्यन्तबाधनात् ।
समुच्चयोऽपि नैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते ॥ - श्लोक० स० आ० प० १७

२. तथा च सम्बन्धतं सिद्धं न तु द्व्याकारसम्भव: ॥
शक्तिरेव हि सम्बन्धो भेदश्चास्या न विद्यते ।+
सा हि कार्यानुमेयत्वात् तथैवमनुवर्तते ॥
अन्यथानुपपत्त्या च शक्तिसद्भावकल्पनम् ।
न चैकेन सिद्धे वै बह्वीनां कल्पनेष्यते ॥
- वही २७ से २९ तक ।

३. सम्बन्धाख्यानकाले च गोशब्दादावुदीरिते ।
केचित् सम्बन्धबुद्ध्यर्थं बुध्यन्ते नापरे तथा ॥
तत्र सम्बन्धनास्तित्वे कश्चोऽर्थं नावधारयेत् ॥
- वही ३०-३१ प्रथम पंक्ति

पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि गो शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में भी शब्द का अर्थ से सम्बन्ध रहता है तो व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न सभी पुरुषों को घट शब्द से घटस्वरूप अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं होता ? वार्तिककार का उत्तर है कि यह आपत्ति भी अनुपपन्न है क्योंकि पूर्व से विद्यमान शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान कुछ लोगों को होता है, कुछ को नहीं होता है। इसलिए कुछ लोगों को घट शब्द से घटस्वरूप अर्थ का बोध होता है तथा कुछ लोगों को नहीं होता क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञात होकर ही अर्थज्ञान का उत्पादक है, केवल अपनी अवस्थिति से अर्थज्ञान का उत्पादक नहीं है।[१]

शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध से अनभिज्ञ पुरुष को इस सम्बन्ध को जानने वाले पुरुषों द्वारा शाब्दबोध होता है। यह सम्बन्ध पूर्वनिर्धारित तथा पूर्व-प्रसिद्ध होता है। शब्द तथा अर्थ का यह सम्बन्ध अनादिसिद्ध है तथा सिद्ध वस्तु का कोई कारण नहीं होता है।[२] सृष्टि के आदि में ही किसी पुरुष द्वारा शब्द का अर्थ के साथ सङ्केत का निर्माण किया गया जिसके अनुसार अन्य लोग व्यवहार करने लगे, किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि मीमांसकगण सृष्टि के आदि में कोई क्रिया नहीं मानते हैं। वे सृष्टि के आदिस्वरूप काल को ही स्वीकार नहीं करते इसलिए ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि में किसी पुरुष ने शब्द का अर्थ के साथ सङ्केत निर्माण किया था।[३]

श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल इस नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध के पक्ष में तीन प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध से अनभिज्ञ पुरुष (1) शब्द, प्रयोक्ता वृद्ध तथा अभिधेय (विषय-गो) का प्रत्यक्ष करता है,(२)

---

१. श्लोक० वा० सं० पृ० ३१ टि० पं० तथा ३२

२. ,, ,, वही ४१

अपि च, न्या० र०

३. श्लोक० वा० पं० ४२ की टि० पं०

श्रोता की चेष्टा (लाने तथा गो को लाने रूप क्रिया) से अनुमान द्वारा सङ्केतज्ञान को जानने के पश्चात् (३) 'अन्यथाऽनुपपत्ति' के द्वारा शब्द तथा अर्थ इन दोनों के सङ्केत को समझता है।[1] इस प्रकार शक्तिज्ञान में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति इन तीनों ही प्रमाणों का उपयोग होता है अतएव शक्तिज्ञान त्रिप्रमाणक है।

इस प्रकार, श्लोकवार्तिककार ने शब्द तथा अर्थ के नित्य सम्बन्ध का प्रतिपादन पूर्वपक्षी समस्त मतों का खण्डन करके किया है। शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के विषय में वेदान्तपरिभाषाकार मौन है।

---

१. द्रष्टव्य - श्लोकवार्तिक स० वा० पृ० १४०-१४१
अनुवादक पं० डॉ० सू० झा

(घ) ५.६ पदार्थ विचार

वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करता है तथा श्रोता शब्दों द्वारा अर्थ का ग्रहण करता है। वाक्य को शाब्दबोध कराने वाली भाषा की न्यूनतम इकाई माना जाता है। वाक्य से छोटी इकाई 'पद' होती है। वाक्य पदों से मिलकर बनता है तथा पद भी अपना अर्थ स्पष्ट करने में समर्थ होता है। पद सुनने के पश्चात् श्रोता को शक्ति के द्वारा पद से अर्थ का बोध होता है। अर्थ-प्रत्यायक होने के कारण ये वाक्य और पद ही वाक् की इकाई के रूप में ग्रहण किए जाते हैं। वर्ण अर्थबोधन में असमर्थ होने के कारण वाक् की इकाई नहीं माने जाते।

वैयाकरण पाणिनि के अनुसार सुबन्त तथा तिङन्त ही पद हैं।[1] जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में नाम तथा आख्यात दो प्रकार के पद स्वीकार किए हैं।[2] नाम वे हैं जिनसे सुप् प्रत्यय लगते हैं[3] तथा आख्यात वे हैं जिनसे तिङ् प्रत्यय लगते हैं। न्यायसूत्रकार का भी यही मत है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार शक्त पद है।[4] शक्ति के आश्रय वर्णसमूह को शक्त कहते हैं। नैयायिकों ने शक्ति को पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया है किन्तु शक्ति के द्वारा ही वे पद से अर्थबोध को मानते हैं। वेदान्ती तथा मीमांसक- दोनों शक्ति को पृथक् पदार्थ मानकर उससे अर्थबोध को मानते हैं।

वाच्य तथा वाचक के सम्बन्ध से ही पदार्थबोध होता है। वाच्य-वाचक की सम्बन्ध प्रणाली जिस प्रकार की होगी, पदार्थबोध भी उसी प्रकार का होगा। नैयायिकों ने वाच्य वाचक का सम्बन्ध साङ्केतिक मानते हुए इसे तीन प्रकार का

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टा० १।४।१४

२. पदं च द्विविधं नाम आख्यातं च। न्या० मं० भाग १, पृ० २७९

३. ते विभक्त्यन्ताः पदम्। न्या० सू० २।२।६०

४. शक्तं पदम्। त० सं० पृ० ५०

माना है अतः पदार्थबोध भी तीन प्रकार का है -- मुख्यार्थ या शक्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा पारिभाषिक । इन्हीं के प्रकाशनार्थ उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा परिभाषा को स्वीकृति दी है । वेदान्तपरिभाषाकार ने भी शक्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ- दो प्रकार का पदार्थबोध माना है तथा इनके बोधन के लिए अभिधा और लक्षणा को स्वीकार किया है ।

शब्द से अर्थ की अवगति मानने वाले सभी आचार्यों ने शाब्दबोध में शक्ति को सहकारि कारण के रूप में स्वीकार किया है[1] । पद में समवेत अर्थ के प्रकाशनानुकूल सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं । नैयायिक इसी शक्ति को वृत्ति कहते हैं । आलङ्कारिकों ने शब्दशक्तियों पर विस्तृत विचार करते हुए अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना -- इन तीन शब्दशक्तियों को स्वीकार किया है । अद्वैत वेदान्तियों ने अभिधा तथा लक्षणा दो शब्द-शक्तियाँ माना है । भाट्ट मीमांसकों ने तीन शब्द-शक्तियों को माना है -- अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने पदजन्य पदार्थों का द्विधा विभाजन किया है -- शक्य तथा लक्ष्य[2] । जिस अर्थ को शक्तिवृत्ति से पद बतलाता है उसे शक्यार्थ कहते हैं तथा जिसे लक्षणावृत्ति से बतलाता है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं । वृत्ति के भेद से ही पदार्थों के दो भेद हैं । पदों के अपने-अपने अर्थों में रहने वाली मुख्यवृत्ति को शक्तिवृत्ति कहते हैं[3] । इस शक्तिवृत्ति से जिस अर्थ का ज्ञान होता है उसे अभिधेयार्थ या शक्यार्थ कहते हैं । जैसे--`घट` पद से प्रथमतः ही बड़े वर्तुलमध्य भाग वाले कम्बु कण्ठ वाले पदार्थ की उपस्थिति शक्तिवृत्ति से होती है ।

---

1. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
   शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ - का० ८१
2. पदार्थश्च द्विविधः शक्यो लक्ष्यश्चेति ।
   - वे० प० पृ० २२१
3. तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः ।
   - वे० प० पृ० २२२

अभिधावृत्ति के शब्दगत मुख्यवृत्ति होने के कारण सभी दार्शनिक इसे निर्विरोध रूप से स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार प्रायः सभी दार्शनिकों ने लक्षणा-वृत्ति को भी मान्यता दी है। वेदान्तपरिभाषाकार ने इन वृत्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार[1] शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है तथा लक्षणावृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते हैं। शक्ति वृत्ति के विषय को शक्य कहा जाता है तथा शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। लक्षणा के केवललक्षणा तथा लक्षित लक्षणा दो भेद होते हैं।

नैयायिक लक्षणा को पदमात्रवृत्ति मानते हैं। उनका मत है कि जैसे शक्ति केवल पदवृत्ति होती है, उसी प्रकार लक्षणा भी केवल पदवृत्ति है। वेदान्त-परिभाषाकार इस मत का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि लक्षणा जैसे पदवृत्ति होती है, उसी प्रकार वह वाक्यवृत्ति भी होती है।[2] पूर्वपक्षी यहाँ पर शङ्का करता है कि शक्ति पदमात्रवृत्ति है तब तो पदार्थ ही शक्यार्थ हुआ, वाक्यार्थ नहीं। चूँकि शक्य सम्बन्ध ही लक्षणा होती है अतः वाक्यार्थ लक्षणा नहीं होगा। वेदान्त-परिभाषाकार इस मत को अनुपपन्न बतलाते हैं क्योंकि शक्ति से पद सम्बन्ध के द्वारा जो बोधित किया जाता है, उसका सम्बन्ध ही लक्षणा है। जिस प्रकार पदार्थ शक्ति से ज्ञाप्य होता है उसी प्रकार वाक्यार्थ भी शक्ति से[3] ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में लक्षणा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार प्रशंसा रूप

---

1. तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः। - वे० प० पृ० २३०
2. लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। - वे० प० पृ० २४५
3. ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ? उच्यते। शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्ति ज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः।

- वे० प० पृ० २४६

अर्थवाद वाक्यों की विधि के प्राशस्त्य में लक्षणा एवं `सोऽरोदीत्` इत्यादि[1] निन्दार्थक अर्थवाद वाक्यों की `निन्दितत्व` रूप अर्थ में लक्षणा होती है।

प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन प्रकार होते हैं -- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा। इनमें से जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव न कर अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे जहल्लक्षणा कहते हैं।[2] जहाँ शक्यार्थ का अन्तर्भाव कर अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं।[3] तथा जहाँ पर विशिष्ट अर्थ का वाचक शब्द अपने वाच्य के एकदेश विशेषण अंश का परित्याग करके एकदेश केवल विशेष्य अर्थ का बोधन करे, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है।[4]

वेदान्तपरिभाषाकार ने लक्षणा का निरूपण अत्यन्त विस्तार से किया है। उनका लक्षणा निरूपण प्राचीन सभी सिद्धान्तों से पुष्ट तथा स्पष्ट है। लक्षणा के निरूपण में वे प्राचीन वेदान्तियों के मतों से भी आगे निकल गए। वेदान्तपरिभाषाकार ने `तत्त्वमसि` महावाक्य के अर्थबोध के प्रसङ्ग में प्राचीन वेदान्तियों को मान्य जहदजहल्लक्षणा को स्वीकार नहीं किया है। सर्वज्ञात्मपाद, सदानन्दयोगीन्द्र प्रभृति अद्वैतवेदान्तियों ने इसी जहदजहल्लक्षणा से `तत्त्वमसि` महावाक्य का अर्थबोध सिद्ध किया है। इन विद्वानों के अनुसार `तत्त्वमसि` महावाक्य में `तत्`

---

१. एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवादवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा।
- वे० प० पृ० २४६

२. तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा।
- वे० प० पृ० २४३

३. यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा।
- वे० प० पृ० २४३

४. यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा.
- वे० प० पृ० २४५

पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं `त्वं` पद का वाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य की एकता सम्भव न होने से उस एकता की सिद्धि के लिए स्वरूप में लक्षणा कर दी जाती है । वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि उक्त स्थल में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि शक्तिवृत्ति से ज्ञात हुए तत्काल तथा एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वय रूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, अर्थात् व शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतन्त्र रूप से उपस्थित `तत्`, `त्वम्` पदार्थों के अभेदान्वय में कोई बाधक न होने के कारण लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है।[1]

वेदान्तपरिभाषाकार ने विषयपरिच्छेद में `तत्त्वमसि` महावाक्य के अर्थबोध की अपनी मान्यता का सुस्पष्ट निरूपण किया है । उनका तर्क है कि `तत्त्वमसि` के अन्तर्गत `तत्` एवं `त्वम्` पदों के विरोध की शान्ति गौणार्थ-व्यवस्था के स्वीकार किए बिना ही सम्भव है । व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों का वास्तविक अभेद सिद्ध करने वाले `तत्त्वमसि` आदि वाक्यों से कोई विरोध नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का बाध वैदिक प्रमाणों से हो जाता है । इन्द्रियों में दोषों की सम्भावना होने से तथा वेदों में दोषों की सम्भावना न होने से भी वैदिक ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान बाधित है।[2] अतः जीव ईश्वर में भेद साधक अनुमान प्रमाण भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि अभेद बोधक आगम से भेदानुमान का बाध हो जाता है । आगमान्तर के साथ भी `तत्त्वमसि` आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है क्योंकि तत्पर एवं अतत्पर वाक्यों में से तत्पर वाक्य के बलवान होने के कारण `तत्त्वमसि` में भेद के

---

१. एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा । शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थित-योस्तत्त्वं पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात् ।

- वे० प० पृ० २३८

२. भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोषस्यासम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमान-त्वात् ।

- वे० प० पृ० ४०३

अनुवाद[1] 'द्वा सुपर्णा०' इत्यादि वाक्यों से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की प्रबलता है ।

इस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थबोध में लक्षणा को न स्वीकार कर एक नवीनता प्रतिपादित की है ।

मीमांसाचार्यों ने अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्य नामक वृत्ति को भी मान्यता प्रदान की है जबकि वेदान्तपरिभाषाकार केवल अभिधा तथा लक्षणा वृत्तियों को स्वीकार करते हैं । तात्पर्यवृत्ति से शाब्दबोध होता है, ऐसा उल्लेख सूत्रकार तथा भाष्यकार ने कहीं नहीं किया । कुमारिल ने भी इन वृत्तियों का विस्तृत विवेचन नहीं किया । काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य का कहना है कि मीमांसकों के अनुसार तात्पर्यवृत्ति से शाब्दबोध होता है ।[2]

५.६.१ जातिशक्तिवाद तथा व्यक्तिशक्तिवाद विचार :-

वेदान्तपरिभाषाकार तथा कुमारिल दोनों ने पद का अर्थ 'जाति' को माना है । वेदान्तपरिभाषाकार ने जातिशक्तिवाद के रूप में अपना मत प्रतिपादित किया है । उन्होंने पदनिष्ठ शक्ति को अनुमेय माना है ।[3] यह शक्ति तत्तद्विशेष्य पद से तत्तद् विशेष्य पदार्थ के ज्ञानरूप कार्य से अनुमेय है । इस शक्ति से उत्पन्न होने वाले

---

१. अतएव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात् ...... । नाप्यागमान्तरविरोधः । तत्परातत्परवाक्ययोः [illegible] तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गावगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

- वे० प० पृ० ४०५

२. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।

- काव्यप्रकाश

३. सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थोपस्थितिरूपकार्यानुमेया ।

- वे० प० पृ० २२३

ज्ञान का जो विषय बनता है, वह पदार्थ द्रव्य होता है और यह द्रव्यत्व जाति में ही रहता है, व्यक्ति में नहीं । व्यक्ति के असंख्य होने से प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् द्रव्यत्व मानने में गौरव है तथा एक 'गो' पद से एक व्यक्ति में शक्तिग्रहण होने पर भी अन्य गो व्यक्ति का उस पद से ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ शक्ति की भिन्नता है और उस शक्ति के ज्ञान हेतु अन्य गोनिष्ठ शक्ति का ज्ञान आवश्यक है । अत: नैयायिकों का व्यक्तिशक्तिवाद अनुपपन्न है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि व्यक्ति में शक्ति न मानने पर 'गो' आदि पदों के श्रवण करते ही सास्नादिमान गो व्यक्ति का ज्ञान नहीं होना चाहिए, तो इसका समाधान है कि जाति व्यक्ति ज्ञानरूप एक ही ज्ञान से सम्बन्ध होने से, जातिज्ञान होते ही व्यक्तिज्ञान और व्यक्तिज्ञान होते ही उसमें जातिज्ञान होता है।[1] वेदान्त मत में गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति को अभिन्न माना गया है दोनों के बोध के लिए समान सामग्री ही कारण है क्योंकि जिस ज्ञान से घटवृत्तिघटत्वधर्म का प्रकाश होता है, उसी से घट का भी प्रकाश होता है । जहाँ कहीं भी वेदान्तपरिभाषाकार ने जाति का खण्डन किया है वहाँ उनका तात्पर्य केवल जाति के स्वतन्त्र पदार्थत्व का खण्डन करने से है न कि जाति के खण्डन से ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने इसका अन्य विकल्प से समाधान किया है । शाब्दबोध में दो प्रकार से शक्ति कारण होती है -- स्वरूपत: तथा ज्ञायमान होकर । पद की शक्ति व्यक्ति तथा जाति दोनों में है । अन्तर इतना ही है कि जो व्यक्ति में शक्ति स्वरूपत: विद्यमान होती हुई शाब्दबोध में कारण है तथा जाति में शक्ति ज्ञायमान होकर कारण है । जाति अंश के समान ही व्यक्ति अंश में भी शक्तिज्ञान को कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि व्यक्तिशक्तिज्ञान तथा जातिशक्तिज्ञान

---

1. तच्चजातेरेव, न व्यक्ते: । व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात् । कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूम: ।

- वे० प० पृ० २२३

दोनों को शाब्दबोध में कारण मानने में गौरव दोष होता है । साथ ही जाति के शक्ति का ज्ञान होने पर व्यक्तिशक्ति का ज्ञान न होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान होने में विलम्ब नहीं लगता । अत: दोनों में शक्तिज्ञान को कारण मानना उचित नहीं है ।[1]

भाट्टमीमांसक भी जातिशक्तिवादी हैं । वेदान्तपरिभाषाकार ने शक्ति का निरूपण अन्य पदार्थ के निरूपण के प्रसङ्ग में किया है ।[2] भाट्टमीमांसक तथा अद्वैतवेदान्ती दोनों ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन किया है कि शक्ति व्यक्ति में रहती है । प्राचीन नैयायिकों ने शक्ति को द्रव्य गुणादि सातों पदार्थों में ही अन्तर्भूत किया है तथा उनके अनुसार ईश्वरेच्छा ही शक्ति है । 'घट पद से घट व्यक्ति का बोध हो' -- इस प्रकार की ईश्वरेच्छा प्रत्येक अर्थ के बोधन के लिए पद में निहित है, यही इच्छा पदनिष्ठ शक्ति है । नव्य नैयायिकों ने शक्ति को केवल इच्छारूप माना है । वेदान्तियों ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हुए शक्ति को पृथक् पदार्थ माना है । शक्ति का ईश्वरेच्छा रूप होना सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य की इच्छा से रूढ़ होने वाली नदी, नगर आदि की संज्ञाओं में ईश्वरेच्छा नहीं होती । सामान्य इच्छारूप शक्ति को मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य घट आदि की इच्छा से घट आदि पद का उच्चारण करे तो वहाँ भी इच्छा के विद्यमान होने से घट पद की घट में भी शक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव इस वृत्तिरूप शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । अद्वैतवेदान्ती केवल पदार्थबोधन सामर्थ्यरूप पदवृत्ति शक्ति को ही पृथक् पदार्थ नहीं

---

१. अथ, घटादिपदानां व्यक्तौ शक्ति: स्वरूपसती, न तु ज्ञाता हेतु: । जातौ तु ज्ञाता । न च व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं, गौरवात् जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्वज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च ।

- वे० प० पृ० २२६

२. ...... शक्तिर्नामपदानामर्थेषु मुख्या वृत्ति: .... सा च शक्ति: पदार्थान्तरम् ।

- वे० प० पृ० २२९

मानते अपितु संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों में विद्यमान कार्योत्पादनानुकूलता (कार्योत्पत्ति की योग्यता) को ही शक्ति मानकर, सामान्य शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । तब पदनिष्ठ अर्थबोध रूप कार्य जनक शक्ति पृथक् पदार्थ है -- यह स्पष्ट ह ही है । यदि अग्नि में दाह के अनुकूल शक्ति न हो तो अग्नि से दाह कभी भी न होगा । नैयायिक कहीं-कहीं पर प्रतिबन्ध के अभाव को दाह का कारण मानते हैं किन्तु यह मत सर्वथा अनुचित है । प्रतिबन्धकाभाव अभाव-स्वरूप है जबकि दाह भावस्वरूप है । अभाव से भाव की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती अतः वेदान्त मत में शक्ति को पृथक् पदार्थ मानना ही उचित है । किञ्च, अभाव से विशिष्ट वह्नि में दाहजनकत्व कल्पना करने की अपेक्षा वह्नि में दाहानुकूल शक्ति की कल्पना करना ही उचित है क्योंकि कारण में कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ है ।[1] प्रभाकर सम्प्रदाय में भी शक्ति को एक पदार्थविशेष माना गया है जिसका सर्वप्रथम विवेचन शालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपञ्चिका में किया है ।[2] संसार की सभी वस्तुओं में किसी न किसी प्रकार की शक्ति विद्यमान है जिसका कार्य देखकर अनुमान होता है । भाट्टमतावलम्बियों का वेदान्तियों से 'शक्ति' को पदार्थ मानने के विषय में मतभेद है । भाट्ट मत में शक्ति एक गुण है जो द्रव्य,[3] गुण तथा कर्म में रहती है । इसका ज्ञान श्रुति तथा अर्थापत्ति प्रमाण से होता है । शक्ति को पदार्थ मानने में गौरव है तथा किसी सिद्ध पदार्थ के गुण के रूप में शक्ति की मान्यता है ।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि नैयायिकों का व्यक्तिशक्तिवाद (अर्थात् जाति से विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति रहती है) न तो वेदान्तपरिभाषाकार

---

१. सिद्धान्ते कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात् ।

- वे० प० पृ० २२९

२. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ८९-२

३. शक्तित्वसामान्यवतीं द्रव्यकर्मगुणाश्रयाम् ।
गुरुत्यर्थापत्तिवेद्यां शक्तिमाहुः कुमारिलाः ।।

- मा० मे० पृ० २४६

को ही अभीष्ट है और न ही कुमारिल को। धर्मराजाध्वरीन्द्र शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं किन्तु कुमारिल ने शक्ति को केवल गुण ही माना है, लेकिन दोनों ही जातिशक्तिवाद के समर्थक हैं।

५.६.२ जातिपदार्थवाद विचार --

पद तथा पदार्थ का बोध कराने वाली शक्तियों के स्पष्टीकरण के अनन्तर मुख्य समस्या होती है कि पद का अर्थ क्या है ? पदार्थ के रूप में जाति, आकृति, व्यक्ति, अपोह, जैसे विकल्प विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। न्यायसूत्रकार अपने से पूर्व प्रचलित तीन मुख्य पदार्थवादियों का परिचय देते हैं।[१] सांख्याचार्यों ने व्यक्ति को पदार्थ माना है तथा जैन विद्वानों ने आकृति को पदार्थ कहा है। अद्वैत वेदान्ती तथा मीमांसक जाति को पदार्थ मानते हैं जबकि वैयाकरणों ने जाति तथा व्यक्ति दोनों को पदार्थ के रूप में मान्यता दी है। पदार्थविचारणा में विद्वानों ने मुख्यत: व्यक्तिवाद, आकृतिवाद, जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तिवाद, अपोहवाद, स्फोटवाद तथा जातिवाद को माना है। अद्वैत वेदान्ती तथा मीमांसकों को जातिपदार्थवाद ही अभीष्ट है।

मीमांसासूत्रकार जैमिनि आकृतिवाद के पक्ष में व्यक्तिवाद का खण्डन करते हैं।[२] भाष्यकार भी उनके मत का समर्थन करते हैं। कुमारिल यहाँ पर `आकृति` शब्द से `जाति` का तात्पर्य स्वीकार करते हैं।[३] उनके मतानुसार पद प्रत्यक्षत: जाति का विषय होता है तथा वह परोक्षत: जाति के माध्यम से व्यक्ति को भी

---

१. व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशय: ।

- न्या० सू० २।२।६२

२. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् । - जै० सू० ६। ३।३३

३. जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया ।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ।।

- श्लोक० वा० ३

प्रकाशित करता है।[1] अतः जाति ही वाच्यार्थ है। वेदान्तपरिभाषाकार का भी यही मत है।[2] कुमारिल तथा धर्मराजाध्वरीन्द्र इस विषय में समानता रखते हैं। यदि आकृति (जाति) से भिन्न केवल सभी व्यक्ति ही शब्द के वाच्य हों तो व्यभिचरित होने के कारण न उनमें वाच्यता की सिद्धि ही हो सकती है और न ही शब्द तथा अर्थ में सम्बन्ध की सिद्धि ही हो सकती है। आकृति (जाति) में शब्द की वाच्यता स्वीकार करने पर कहीं आकृति के साथ ही शब्द के वाच्यवाचकभाव की सिद्धि होगी। शब्द के सम्बन्ध की नित्यता की भी सिद्धि होगी। अतः आकृति में शब्द की वाच्यता मानना उपयोगी एवं प्रयोजनीय होने से अभीष्ट ही है।[3] पदार्थ विचार के प्रसंग में कुमारिल के द्वारा जहाँ भी 'आकृति' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ इसका तात्पर्य नित्य जाति से ही है।

क्षणभङ्गवादी बौद्ध विद्वान जाति पदार्थ का ही खण्डन करते हैं क्योंकि उन्हें किसी भी अर्थ की नित्यता अभीष्ट नहीं है। इसीलिए उन्होंने 'अपोह' का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि नैयायिक जाति को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मान्यता देते हैं तथापि उन्हें मीमांसकों की तरह जाति को पद का अर्थ मानना अभीष्ट नहीं है। अतः पद के अर्थ के रूप में जाति की स्वीकृति पर नैयायिक मीमांसकों से मतभेद रखते हैं। कुमारिल ने बौद्ध तथा नैयायिक-- दोनों ही मतों का खण्डन किया है। बौद्धों के अपोहवाद

---

१. भाट्टमते तु जातिरेव शक्या लाघवात्। व्यक्तिस्तु आक्षेपलभ्या ॥

— त० कौ०, पृ० ५७८

२. .... जातिरेव वाच्या। — वे० प० पृ० २२७

३. यदि ह्याकृतिव्यतिरिक्ता व्यक्तय एव सर्वत्र शब्दार्थाः स्युः, ततस्तासां व्यभिचारात् सम्बन्ध एव शब्दस्य न सिध्यति, नतरां नित्यत्वम्। आकृतिवाच्यत्वे तु क्वचित् तत्रैव व्यक्तिः तद्द्वारेणाव्यभिचारेण सिध्यति शब्दस्य सम्बन्धो नित्यता चेति प्रयोजनवत्तद्वाच्यत्वप्रतिपादनमिति।

— न्यायरत्नाकर- श्लोक० वा० १ पर

के खण्डन में उनका कहना है कि जिन बौद्धाचार्यों ने `अगोनिवृत्ति` स्वरूप `अपोह` नामक सामान्य को ही `गौ` पद का वाच्य कहा है, उन्होंने वस्तुत: `अपोह` शब्द से `गोत्व` नामक जाति स्वरूप भाव पदार्थ में ही गोपद की शक्ति को स्वीकार किया है[1]। जिस असाधारण वस्तु का भान निर्विकल्पक ज्ञान में भावस्वरूप जाति पदार्थ के द्वारा सम्भव है, उस असाधारण वस्तु का अतद्व्यावृत्ति स्वरूप अभाव पदार्थ रूप शाब्दबोध में भान नहीं हो सकता[2]। अत: बौद्धों का यह मत सर्वथा अनुचित है कि अतद्व्यावृत्ति स्वरूप अपोह ही शब्दों का `वाच्य` अर्थ है।

कुमारिल का कहना है कि यदि कुछ वस्तुओं में कुछ वस्तुओं का सारूप्य न रहने पर भी उनमें से किसी को अपोह्य तथा किसी को अपोह का आधार माना जाय तो `व्यवस्था` ही नहीं रह पायेगी क्योंकि जिस प्रकार अगोस्वरूप अश्वादि अपोह्य हैं एवं गौ अपोह का आधार है उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अगोऽपोह का आश्रय गौ तथा अश्व दोनों ही है[3]। इसलिए अपोह्यापोहकभाव के लिए भी भावस्वरूप सामान्य की आवश्यकता है। तथा सभी शब्दों को सभी शब्दों के समानार्थक होने का प्रसंग उपस्थित होगा। किञ्च, जिस तरह अगाय अर्थ में अश्व का ग्रहण हो सकता है उसी प्रकार सिंह शब्द के अपोह के प्रसङ्ग में असिंह के अर्थ

---

१. अगोनिवृत्ति: सामान्यं वाच्यं यै: परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम् ।।
- श्लोक० अपोह० १

२. नेष्टो ऽसाधारणस्तावद् विषयो निर्विकल्पनात् ।
- श्लोक० अपोह० ३ की प्रथम पंक्ति

३. असत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना ।
गवाश्वयोरयं कस्मादगोऽपोहो न कल्प्यते ।।
- श्लोक० अपोह० ७६

में भी[1] अश्व का ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार गाय तथा सिंह समानार्थक सिद्ध होंगे। इस प्रकार कुमारिल ने विविध तर्कों से अपोहवाद का निराकरण करके जातिपदार्थ को सिद्ध किया है। वाच्यार्थ के रूप में जाति की मान्यता धर्मराज ने भी की है अतएव पद का अर्थ 'जाति' है -- इस सन्दर्भ में दोनों समानता रखते हैं।[2]

---

१. ततो ह्यश्वापोहरूपत्वात् सिंहादिः सर्व एव ते।
तन्निमित्तकतोऽपोहं निबुद्ध्येत गौरिति ।। - श्लोक० अपोह० ९७

२. जातिरेव वाच्या। - वे० प० पृ० २२७

(ङ) ५.७ वाक्यार्थविचार

पद तथा पद के अर्थ के विषय में विचार करने के पश्चात् वाक्य के स्वरूप तथा वाक्य के अर्थ पर विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। कुछ पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वक्ता अपने अभिप्राय को श्रोता तक पहुंचाने के हेतु इस समुद्भूत वाक्य का प्रयोग करता है। अपने अभीष्ट अर्थ को श्रोता तक प्रेषित करने हेतु वक्ता अपने अभिप्रेत अर्थ को सङ्केतित करने में समर्थ पदों का प्रयोग करता है, ये सभी पद मिलकर एक पूर्ण अर्थ का अभिधान करते हैं। इस अर्थ बोध का आधार शब्द के रूप में पद होने के कारण इस बोध को शाब्दबोध या शाब्दी प्रमा कहा जाता है।[1]

यहाँ विचारणीय है कि यद्यपि पदों का समूह ही वाक्य कहा जाता है तथापि पदों के प्रत्येक समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता। एक विशेष स्थिति में उच्चरित होने पर ही पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है। सभी विद्वान वाक्य ज्ञान के लिए वाक्यगत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति या सन्निधि तथा तात्पर्यज्ञान आवश्यक मानते हैं। वेदान्तपरिभाषाकार वाक्य ज्ञान में इन चारों

---

1. A sentence is used to convey some meaning to the hearer. This is done through the use of words. The hearer understands the meaning of words used in a sentence and forms a verbal knowledge which is technically called 'Sabda-bodh. The 'Sabda-bodh is a total knowledge arising from words but words used as any combination would not yield that knowledge.

   - The Problem of Meaning in Indian Philosophy.

को कारण मानते हैं।[1] कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में आकांक्षा, सन्निधान तथा योग्यता इन तीनों की कारणता पर प्रकाश डाला है।[2] वस्तुत: आकांक्षादि की आवश्यकता पर सर्वप्रथम ध्यान कुमारिल ने ही दिया है। भाट्ट सम्प्रदाय के एक अन्य दार्शनिक नारायण भट्ट ने भी आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि -- इन तीनों को ही शाब्दबोध का कारण माना है।[3] श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में पार्थसारथि मिश्र का मत है कि प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से सम्बद्ध होकर साक्षात् वाक्यबोध का कारण नहीं है। तथा पदों के समुदाय में विशेष प्रकार की जाति अथवा पदार्थों एवं पदों के सम्बन्धों का ज्ञान भी वाक्यार्थज्ञान में उत्पादक नहीं है। जब पदों से ज्ञात पदार्थों को प्रत्यासत्ति (सन्निधि), अपेक्षा (आकांक्षा) तथा योग्यता-- इन तीनों का साहाय्य प्राप्त होता है तब उन पदों से वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है क्योंकि उक्त साहाय्य प्राप्त पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थों के रहने से ही वाक्यार्थ का बोध होता है।[4] इनके स्वरूप पर पृथक्-पृथक् विचार करना अपेक्षणीय है।

५.७.१ आकाङ्क्षा -- कोई भी वाक्य कम से कम दो पदों के मेल से बनता है

----

१. वाक्यज्ञाने च आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। - वे० प० पृ० १६६

२. आकांक्षा सन्निधानं च योग्यता चेति च त्रयम्।
सम्बन्धकारणत्वेन क्लृप्तं नान्तरश्रुति: ॥ - तन्त्रवार्तिक १, पृ० ४५५

३. अनाकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत्त्रयम्।
वाक्यार्थाधिगमे सर्वै: कारणत्वेन कल्प्यते ॥
- मा० मे० ६२, पृ० १००

४. यद्यपि प्रत्येकं पदानि संहतानि वा साक्षान्न मूलं तथा जाति: सम्बन्धज्ञानं वाचकानि(?)धनवाचकानि, तथापि पदार्था: प्रत्यायिता: प्रत्यासत्त्यपेक्षा-योग्यत्वसनाथा मूलं भविष्यन्ति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिति।

- न्यायरत्नाकर श्लोक० वाक्य० ११० पर।

जिनके श्रवण से पदार्थ का बोध होता है। इन पदार्थों में एक व दूसरे की जिज्ञासा विषयता की योग्यता रहती है, जिसे आकांक्षा कहते हैं।[1] ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है, उन पदों को आकांक्ष कहते हैं, जैसे 'गामानय' इस वाक्य के 'गाम्' पद को सुनते ही 'आनय' पद की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। वाक्य की पूर्णता एवं वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा अत्यावश्यक है। आकांक्षा से रहित 'गौरश्व: पुरुष: हस्ती' यह पदसमूह वाक्य नहीं है। जिज्ञासारहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से उस बोध में आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसीलिए ग्रन्थकार ने लक्षण में 'योग्यत्व' पद दिया है। क्रिया,कारकत्व आदि धर्म उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की 'गौ अश्व: पुरुष:' आदि पदसमूह में अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2] चूँकि क्रियात्व,कारकत्वादि योग्यता के अवच्छेदक हैं अत: 'गौ अश्व: पुरुष:' इत्यादि प्रथमान्त पद के वाक्यार्थ में क्रियात्व, कारकत्व का अभाव होने के कारण आकांक्षा नहीं है। इसलिए उनसे पदार्थों का संसर्गबोध रूप वाक्यार्थ ज्ञान भी नहीं होता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में सभी पद समान विभक्ति वाले हैं और उन दोनों पदों से अभेद अर्थ का प्रतिपादन ही अभीष्ट होने के कारण योग्यता के अवच्छेदक के विद्यमान होने से अव्याप्ति दोष नहीं है, परन्तु यही नियम 'गौरश्व:' आदि पदसमूह के लिए नहीं किया जा सकता क्योंकि अभेद अर्थ का प्रतिपादन इष्ट नहीं है।[3] भाट्टमीमांसकों ने भी आकांक्षा को शाब्दबोध में अनिवार्य कारण माना है। मानमेयोदयकार का

---

१. तत्र पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासा-विषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा ।

- वे० प० पृ० २०३

२. अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम् । तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः गौरश्व इत्यादौ ।

- वे० प० पृ० २०३

३. अभेदान्वये च समानविभक्तिकप्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः ।

- वे० प० पृ० २०३

कहना है कि `गौ: अश्व: हस्ती` -- इत्यादि निराकांक्षा पदों के द्वारा शाब्दबोध नहीं होता है, अत: आकांक्षा को शाब्दबोध में कारण मानना आवश्यक है।[1]

नैयायिकों के अनुसार अपने को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण एक पद का शाब्दबोध न होना ही आकांक्षा है।[2] यह अन्वयबोधाभाव ही आकांक्षा है। किन्तु, नैयायिकाभिमत अन्वयबोधाभावरूप आकांक्षा का यह लक्षण उचित नहीं है क्योंकि वेदान्त में पद की आकांक्षा नहीं मानी जाती बल्कि पद के अर्थ की मानी जाती है। मीमांसाचार्यों का भी यही मत है। चूंकि मीमांसा वाक्यार्थ के निर्णयार्थ ही प्रवृत्त हुई है अत: वाक्यार्थ विधि के प्रसंग में मीमांसकों का मत ही सर्वाधिक सुसङ्गत है जिसका वेदान्ती भी अनुसरण करते हैं।

५.७.२ योग्यता --

तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता है।[3] योग्यता का तात्पर्य है अर्थ का अविरोधी होना ताकि पदविशेष के अर्थ का वाक्य के दूसरे कुछ पदों के अर्थ के साथ अन्वय करने पर बाध न हो। भाट्टमतावलम्बी नारायण भट्ट इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि `अग्निना सिञ्चति` इत्यादि अयोग्य पदों के द्वारा भी अन्वयबोध नहीं होता है अत: योग्यता भी ग्राह्य है।[4] `वह्निना सिञ्चति` आदि में योग्यता नहीं है क्योंकि वह्नि में सिञ्चन करणत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। ध्यातव्य है कि `स प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्` --

---

१. गौरश्व: पुरुषो हस्तीत्याकाङ्क्षारहितेष्विह।
अन्वयादर्शनात्-तावदाकाङ्क्षा परिगृह्यते ॥
- मा० मे० १२, पृ० १०१

२. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा।
- तर्कसंग्रह पृ० ५२

३. योग्यता च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाध:। - वे० प० पृ० २१६

४. अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानामनन्वयात्।
योग्यतापि परिग्राह्या ॥
- मा० मे०, पृ० १०१

इस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूतसंसर्ग बर्हों के काटने में नहीं है बल्कि पशु याग की प्रशंसा में है । अतः पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण इस वाक्य में भी योग्यता न होने से यह श्रुतिवाक्य अप्रामाणिक है । योग्यता के इस लक्षण की अर्थवाद आदि वाक्यों में अव्याप्ति नहीं है । इसी प्रकार `तत्त्वमसि` महावाक्य में भी योग्यता विद्यमान है । `तत्त्वमसि` महावाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ तत् त्वम् पदार्थ का अभेद ही है । इन पदों के द्वारा लक्ष्यार्थ विवक्षित है और वह लक्ष्यार्थ अबाधित है ।

५.७.३ आसत्ति या सन्निधि— अव्यवधानरहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं।[1] नारायणभट्ट[2] का मत है कि पदार्थों में सन्निहितत्वेन बोधितत्व होना ही सन्निधि पदार्थ है । `गाम्` पद के अन्त्य वर्ण मकार के तुरन्त उच्चारण के बाद `आनय` पद के आदि वर्ण का उच्चारण प्रारम्भ हो जाना चाहिए । इन दोनों पदों का विलम्ब से उच्चारण करने पर पदों में आसत्ति का अभाव होगा । वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्षात्मक उपस्थिति के निवारण के लिए `पदजन्य` विशेषण दिया है । अर्थात् सामने `घट` दीखने पर कोई व्यक्ति अङ्गुलिनिर्देशपूर्वक घट का ज्ञान कराये तो घट का ज्ञान अव्यवधान होने पर भी पदजन्य नहीं है; वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है । जहाँ पदार्थ अश्रुत हो, वहाँ पर श्रुत पदार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य पदार्थ का अध्याहार करना पड़ता है । अतएव `द्वारम्` शब्द के सुनते ही `पिधेहि` पद का अध्याहार करने पर ही `द्वार को बन्द करो`— ऐसा शाब्दबोध होता है । लौकिक वाक्य के समान वेद में भी पद का अध्याहार कर शाब्दबोध बतलाया गया है ।

उपर्युक्त अवयव की आसत्ति होने पर पदों से शाब्दबोध होता है और

---

१. आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः । - वे० प० पृ० २१६
२. इत्थं: सन्निहितत्वेन बोधितत्वं हि पदार्थानां सन्निधिरित्युच्यते ।
- मा० के मे०, पृ० १०१

०३. [illegible]

[illegible]

वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता है । इस अन्वयव्यतिरेक को देखने से आसत्ति की शाब्दबोध में कारणता निश्चित होती है।[1]

५.७.४ तात्पर्यज्ञान — अद्वैत वेदान्ती तथा कुछ नैयायिकों ने तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध में कारण माना है । वेदान्तपरिभाषाकार ने इसका विस्तृत विवेचन किया है । तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि मात्र का उल्लेख किया है।[2] श्लोकवार्तिक में इन तीनों का पृथक् एवं स्पष्ट विवेचन नहीं प्राप्त होता । श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में प्रत्यासत्ति (सन्निधि), अपेक्षा (आकांक्षा) तथा योग्यता—इन तीनों की आवश्यकता पर विचार किया गया है।[3] नैयायिकों के अनुसार स्वाभीष्ट अर्थ की प्राप्ति कराने की इच्छा से वाक्य उच्चरित तत्त्व को तात्पर्य कहा जाता है।[4] अर्थात्, विवक्षित वस्तु की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है । वेदान्तपरिभाषाकार ने तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करते हुए नैयायिकों के लक्षण को समीचीन नहीं माना है क्योंकि इस लक्षण को मानने पर अर्थज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गए वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा।[5] जबकि अर्थज्ञान से रहित वक्ता द्वारा 'अग्निमीळे ' अक्षरों का उच्चारण होते ही सुनने वालों को तत्काल 'अग्नि-स्तुति' अर्थ की प्रतीति दिखाई पड़ती है । नैयायिकों का मत है कि ऐसे स्थलों में 'तात्पर्यभ्रम' से ज्ञान होता है किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है ' इस प्रकार अध्यापक में व्युत्पत्ति का अभावरूप विशेष के

---

१. सा च शाब्दबोधे हेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् । - वे० प० पृ० २५१

२. आकांक्षा सन्निधानं च योग्यता चेति त्रयम् । - तन्त्रवार्तिक १, पृ० ४५५

३. न्यायरत्नाकर, श्लोक० वाक्य० ११० पर

४. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् । - तर्कसंग्रह का० ८४

५. अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चारितादेवाक्यार्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् ।
- वे० प० पृ० २५२

वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता है । इस अन्वयव्यतिरेक को देखने से आसत्ति की शाब्दबोध में कारणता निश्चित होती है ।[1]

५.७.४ तात्पर्यज्ञान —

अद्वैत वेदान्ती तथा कुछ नैयायिकों ने तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध में कारण माना है । वेदान्तपरिभाषाकार ने इसका विस्तृत विवेचन किया है । तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि मात्र का उल्लेख किया है ।[2] श्लोकवार्तिक में इन तीनों का पृथक् एवं स्पष्ट विवेचन नहीं प्राप्त होता । श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में प्रत्यासत्ति (सन्निधि), अपेक्षा (आकांक्षा) तथा योग्यता—इन तीनों की आवश्यकता पर विचार किया गया है ।[3] नैयायिकों के अनुसार स्वाभीष्ट अर्थ की प्राप्ति कराने की इच्छा से वाक्य उच्चरित तत्त्व को तात्पर्य कहा जाता है ।[4] अर्थात्, विवक्षित वस्तु की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है । वेदान्तपरिभाषाकार ने तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करते हुए नैयायिकों के लक्षण को समीचीन नहीं माना है क्योंकि इस लक्षण को मानने पर अर्थज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गए वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ।[5] जबकि अर्थज्ञान से रहित वक्ता द्वारा `अग्निमीळे ` अक्षरों का उच्चारण होते ही सुनने वालों को तत्काल `अग्नि-स्तुति` अर्थ की प्रतीति दिखाई पड़ती है । नैयायिकों का मत है कि ऐसे स्थलों में `तात्पर्यभ्रम` से ज्ञान होता है किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि `यह अध्यापक अव्युत्पन्न है ` इस प्रकार अध्यापक में व्युत्पत्ति का अभावरूप विशेष के

---

१. सा च शाब्दबोधे हेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् । - वे० प० पृ० २५९

२. आकांक्षा सन्निधानं च योग्यता चेति त्रयम् । - तन्त्रवार्तिक १, पृ० ४५५

३. न्यायरत्नाकर, श्लोक० वाक्य० ११० पर

४. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् । - तर्कसंग्रह का० ८४

५. अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरितादेवादर्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् ।

- वे० प० पृ० २५२

ज्ञात रहने पर भी वाक्यार्थबोध होता है, अत: तात्पर्यभ्रम भी नहीं कहा जा सकता। यदि नैयायिक कहें कि ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान द्वारा अर्थज्ञान शून्य पुरुष द्वारा उच्चारण किए गए वेदवाक्य से वहाँ शाब्दबोध हो जाएगा तो यह मत भी असमीचीन है क्योंकि ईश्वर को न मानने वाले को भी वाक्यार्थबोध होता देखा गया है।[1]

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार पदार्थों के संसर्ग का अनुभव कराने की वाक्य में योग्यता होना ही तात्पर्य है।[2] जैसे `गेहे घट:` यह वाक्य घर तथा घट के आधाराधेयभाव सम्बन्धबोधन में योग्य है न कि घर पट के सम्बन्ध बोधन में। इसी प्रकार अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति के भी वेद मन्त्र का उच्चारण करने पर उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गप्रतीतिजननयोग्यता रूप तात्पर्य के विद्यमान होने से श्रोता को अर्थबोध हो जाता है। इसलिए जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ होता है, वह वाक्य तत्परक माना जाता है। जैसे—`गेहे घट:` यह गेह तथा घट के संसर्गबोधन में समर्थ है, गेह और पट के नहीं।[3] जो वाक्य वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति करा देने की सामर्थ्य रखता है, एवं जो वाक्य विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ बताने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया हुआ हो - वही उसका तात्पर्य है। तात्पर्य का ऐसा लक्षण करने पर `सैन्धवमानय` इत्यादिवाक्य लक्षणापरत्व ज्ञान दशा में अश्वादि संसर्ग का बोध नहीं करायेगा।[4]

---

१. अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात् । न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम् । ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् । - वे० प० पृ० २५२

२. तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् । - वे० प० पृ० २५४

३. गेहे घट इति वाक्यं गेहघटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते । - वे० प० पृ० २५४

४. .....यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे इति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते ।

- वे० प० पृ० २५५

पूर्वपक्षी की आपत्ति है कि उपर्युक्त लक्षण मानने पर शुकोच्चरित वाक्य तथा अव्युत्पन्न पुरुष के वाक्य में अव्याप्ति होगी क्योंकि उच्चारण करते समय `अमुक अर्थ की प्रतीति हो ` या तद्भिन्न अर्थ की प्रतीति न हो -- ऐसी कोई इच्छा उनमें नहीं होती क्योंकि उन वाक्यों का अर्थज्ञान उन्हें स्वयं नहीं है । इसका समाधान है कि चूँकि अपने विवक्षित अर्थबोधजनन की योग्यता उक्त वाक्यों में है तथा उससे भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से इनका उच्चारण भी नहीं किया गया है अत: यहाँ अव्याप्ति नहीं हो सकती ।[1] वेदान्ती शक्ति को ही विवक्षित अर्थ-प्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक मानते हैं । अपने अपने अर्थबोधन में शब्द की शक्ति है -- यह सर्वमान्य मत है । अत: शब्द में विशिष्ट शक्ति होने पर विशिष्टार्थ प्रतीति करा देने की योग्यता रहती है ।[2]

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के अतिरिक्त तात्पर्यज्ञान की वाक्य के प्रति कारणता को स्वीकार किया है जबकि कुमारिल तात्पर्यज्ञान का कहीं भी उल्लेख नहीं करते हैं ।

शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान की कारणता सिद्ध होने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि इस वाक्य का तात्पर्य किस अर्थ में है - यह कैसे निश्चित किया जाय ? तात्पर्य का निश्चायक वेद तथा लोक एक ही हैं या भिन्न-भिन्न ? वेदान्तपरिभाषा-कार का कहना है कि वेद तथा लोक में तात्पर्य के निश्चायक भिन्न-भिन्न हैं । उनके अनुसार वैदिक वाक्यों में तात्पर्य का निश्चय मीमांसा द्वारा परिशोधित न्यायों से

---

१. शुकादिवाक्ये अव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः । न बोधक-प्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः । तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

– वे० प० पृ० २५६

२. उक्तप्रतीतिजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः ।

– वे० प० पृ० २५८

होता है क्योंकि बिना मीमांसा के वेदों का यथार्थ तात्पर्य ज्ञान नहीं हो सकता । लौकिक वाक्यों का तात्पर्य प्रकरण आदि से ज्ञात होता है, जैसे, `देव: प्रमाणम्` इस वाक्य के राजप्रकरण में पठित होने से यहाँ देव शब्द का राजा अर्थ में तात्पर्य है । लौकिक वाक्यों द्वारा बताया जाने वाला अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात होने के कारण अपूर्व नहीं होता । इसलिए लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तु का अनुवादकत्व रहता है किन्तु वैदिक वाक्य अनुवाद रूप न होकर अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन करते हैं ।[1]

ग्रन्थकार का कहना है कि कार्यपरक शब्दों के समान लोक तथा वेद में सिद्धार्थबोधक शब्दों में भी प्रामाण्य होता है । कार्यपरक शब्दों से जिस प्रकार उन शब्दों का सामर्थ्य समझ में आता है उसी प्रकार, `पुत्रस्ते जात:` इत्यादि सिद्धार्थ-परक शब्दों का भी शक्तिग्रह होता है ।[2] अत: प्राभाकर का यह मत नहीं माना जा सकता कि क्रिया प्रतिपादक वाक्य से भिन्न वेदवाक्य निरर्थक हैं । इसी तरह वेदान्त-वाक्यों का न तो क्रियाबोधन में और न ही उपासनाबोधन में तात्पर्य है । वे स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म अर्थ के बोधक हैं । ब्रह्म में ही तात्पर्य होने के कारण इनका प्रामाण्य कहा गया है ।[3]

---

१. तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना । तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम् ।

— वे० प० पृ० २६१

२. तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम्, पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थेऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात् ।

— वे० प० पृ० २६३

३. अतएव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् ।

— वे० प०, पृ० २६३

(ख) ५.८ वाक्यार्थबोध - अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थबोध भारतीय विचारणा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में वाक्यार्थबोध या शाब्दबोध के विविधरूपों को स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्ती, भाट्टमीमांसक तथा नैयायिक वाक्यार्थबोध के प्रसङ्ग में अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हैं। वाक्य में पद के स्वतन्त्र अर्थ को स्वीकार न करने वाले प्राभाकर मीमांसक अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करते हैं। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पहले वाक्य के अवयवभूत पदों से पदार्थों का अभिधान होता है तत्पश्चात् इन्हीं अभिहित पदार्थों के अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है।[1] चूँकि नैयायिक पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप में ही वाक्यार्थ मानते हैं इसलिए वे पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ द्वारा ही मानते हैं। मीमांसकों का मत इससे कुछ भिन्न है। भाट्टमीमांसकों के अनुसार पदार्थ लक्षणावृत्ति के द्वारा ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, क्योंकि वाक्यार्थ की अन्यथा-नुपपत्ति से लक्षणा होती है। पदों के द्वारा स्मर्यमाण गवादि पदार्थ यदि परस्पर अन्वय के बिना ही सामान्यरूप माने जायें तब पदों की व्युत्पत्ति के समय अवगत एक विशिष्टार्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं रह जाता। अतः पदों के वाक्यार्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है जबकि उनका एक विशिष्टार्थ में पर्यवसान हो। अतः गो और आनयन का परस्पर अन्वय इस प्रकार ज्ञात हो जाता है कि 'इयमानीयमानैव गौः, गोसम्बद्धमेवमानयनम्।' फलतः वाक्यस्थ पदों द्वारा अवगत पदार्थ परस्पर अन्वय का लाभ करते हैं।[2]

---

१. तेनात्र पदावगताः पुनः पदार्था मिथोऽन्वयं यान्ति ।
इत्येवमभिहितान्वय सिद्धान्तो दर्शितो भट्टपादानाम् ।।

- भा० के मे० पृ० ६८

२. वयं तु पदार्थलक्षणयैव वाक्यार्थं बोधयन्तीति ब्रूमः । वाक्यार्थानुपपत्त्या हि लक्षणा भवति । अत्र च पदैः स्मर्यमाणा गवादिपदार्था यद्यन्योन्यान्वयं विना

(कृपया पाद टिप्पणी अगले

अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मत में वाक्यार्थ संसृष्ट क्रिया माना जाता है । अन्विताभिधानवाद में सदैव अन्वित पदार्थों का ही अभिधान होता है, कभी-कभी पद अनन्वित पदार्थों का अभिधान नहीं करते । अर्थात् सभी पद इतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का अभिधान करते हैं, शुद्ध अर्थ का नहीं । 'गामानय' इस प्रकार प्रथम बार श्रवण के द्वारा यही अवगत होता है कि 'गो' पद उसी गो का बोधक है, जो आनीयमान है तथा 'आनय' पद उसी क्रिया का वाचक है जो कि गो में हो रही है । अतः उसी के अनुसार पदों को ही अन्वयविशिष्ट अर्थ का वाचक मानना चाहिए, शुद्ध अर्थ का बोधक नहीं । अर्थात् अन्वित रूप वाक्यार्थ पदों का अभिधेय ही होता है, पदार्थों द्वारा लक्षणीय नहीं, क्योंकि यदि पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का बोध माना जाता है, तब प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थों का भी वाक्यार्थ में अन्वय होना चाहिए । इस प्रकार वाक्य के सभी पद परस्पर एक दूसरे से विशेष रूप से अन्वित पदार्थों का साक्षात् अभिधान करते हैं । इस प्रकार प्राभाकर अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन करते हैं ।

सभी अखण्डवाक्यवादी वाक्यार्थबोध के लिए पदार्थों के मध्य संसर्ग किसी

सामान्यरूपा एवावतिष्ठेरन्, तर्हि पदानां व्युत्पत्तिसमयावधृतमेकविशिष्टार्थ-बोधतात्पर्यं विरुध्येत इति सामान्यरूपस्य वाच्यस्यानुपपत्तेरन्योन्यान्वयरूपे विशेष एव पदार्थाः पर्यवस्यन्ति । ततश्च गौरियमानीयमानैव आनयनं च गोर्कर्मकमेव इति परस्परान्वयलाभात् गवानयनरूपवाक्यार्थसिद्धिः ।

- भा० मे० पृ० ६७

१. स्वस्वपदान्तरपुरोभिहितपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम् ।

सर्वपदानि वदन्तीत्यन्वेषामन्विताभिधानमतम् ।।

- भा० मे० ८१ पृ० ६८

न किसी रूप में अवश्य मानते हैं । चूँकि वैयाकरण अखण्डवाक्यवादी हैं अतः उन्होंने अखण्ड, एक एवं अनवयव स्फोट को वाक्य तथा अखण्ड प्रतिभा को वाक्यार्थ स्वीकार किया है ।[1] इसी कारण वैयाकरणों को वाक्यार्थ हेतु संसर्ग की अपेक्षा नहीं है । पूर्वोक्त संसर्गज्ञान की दो पद्धतियाँ—अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद-भारतीय ज्ञानमीमांसा में मुख्य रूप से विकसित हुईं । अन्विताभिधानवाद की प्रवर्तना कपिष्ठ ने की तथा अभिहितान्वयवाद की प्रवर्तना शबर ने जिसे कुमारिल ने विकसित किया ।[2]

अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसक अन्विताभिधानवाद का खण्डन करते हैं । अभिहितान्वयवाद में पदों से सर्वप्रथम अनन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार किया गया है तत्पश्चात् अभिहित पदार्थों में परस्परान्वय के द्वारा वाक्यार्थज्ञान होता है । अभिहित पदार्थ के वाक्य के शेष पदार्थों से संसृष्ट होने पर वाक्यार्थबोध होता है । इसीलिए अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसक वाक्यार्थज्ञान पदार्थों से ही स्वीकार करते हैं । उन्होंने इस मत का खण्डन किया है कि वर्णों से वाक्यार्थबोध हो सकता है । वर्णों से पदार्थज्ञान तो हो सकता है किन्तु वाक्यार्थज्ञान पदार्थों द्वारा ही सम्भव है । अन्वयव्यतिरेक से भी यह सिद्ध हो जाता है कि पदों के द्वारा ज्ञात पदार्थ ही वाक्यार्थबोध के कारण हैं । वाक्यार्थ अभिधेय नहीं है क्योंकि मन के दूसरी ओर लगे रहने के कारण जिस समय पदों से पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, उस समय वाक्य के रहने पर भी वाक्यार्थबोध नहीं होता है । इससे निश्चित होता है कि वाक्यार्थबोध का निमित्त पदार्थ ही है ।[3] इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता

---

1. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणः वाक्यं प्रतिभैव वाक्यार्थः । - प्रकाश टीका, पृ० ४७

2. Purva Mimamsa in its sources, Page 137.

3. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते, मानसापचारादुच्चारितेभ्योऽपि पदेभ्यो यदि पदार्था नावगम्यन्ते न तदा वाक्यार्थो गम्यते । तेन वाक्यान्वयेऽपि पदार्थाद् व्यतिरिच्यमानो वाक्यार्थः पदार्थनिमित्त इति निश्चीयते ।

   - शा० भा० न्यायरत्नाकर में उद्धृत, पृ० ६६६

है, जैसे - किसी बोध के श्वेत रूप को देखकर गुणी का अनुमान करके, हिनहिनाहट की ध्वनि सुनकर अश्व का अनुमान करके तथा टापों की ध्वनि सुनकर धावनक्रिया का अनुमान करके परस्पर अन्वय द्वारा `श्वेत अश्व दौड़ रहा है ` यह वाक्यार्थ जान लेता है । इस प्रकार बिना पद सुने पदार्थों के ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है क्योंकि पदार्थों के ज्ञान के बिना कभी भी वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सकता । अतः वाक्यार्थबोध वाक्यग्रहण से नहीं अपितु अवगम्यमान पदार्थों से होता है । `मानसापवाद` स्थल में वाक्यार्थबोध की अनुत्पत्ति वाक्य की अनवगति से नहीं किन्तु पदार्थों के अभाव से ही होती है ।[1] कुमारिल तथा पार्थसारथि दोनों यह स्वीकार करते हैं कि पद अपनी शक्ति से केवल पदार्थ का ज्ञान कराते हैं और अभिहित पदार्थों से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है तथा पदों से वाक्यार्थ का कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता है । शबर के अनुसार सभी पद अपने-अपने अर्थ के अभिधान के पश्चात् व्यापारशून्य हो जाते हैं तत्पश्चात् अवगत पदार्थ वाक्यार्थज्ञान कराते हैं ।[2] कुमारिल ने वाक्यार्थबोध पदार्थों से ही होता है - इसका विशदतया वर्णन किया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि अभिहित पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार तथा क्यों होता है । परवर्ती भाट्टमीमांसकों ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि पदार्थों का संसर्ग पदों की लक्षणा शक्ति से ज्ञात होता है । मानमेयोदयकार ने इसका प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णन किया है ।[3] भाट्टमीमांसकों ने अन्विताभिधान में दोष दिखाते हुए अभिहितान्वयवाद का

---

१. पश्यतः श्वेतिमारूपं हेषाशब्दं च शृण्वतः ।
खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतो ऽश्वो धावतीति धीः ।।
दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित् ।
मानसादित्यतो भाव्य वाक्याग्रहणानुपरम् ।। - श्लोक० वाक्य ३५८-३५९

२. पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्त -
व्यापाराणि । अथेदानीं पदार्थाः अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति ।
- शा० भा० पृ० ८२

३. द्रष्टव्य मानमेयोदय, पृ० ६६-६७

प्रतिपादन किया है । अन्विताभिधानवाद गौरव दोष के कारण हेय है क्योंकि अभिहितान्वयवाद में पदार्थ स्मृतिसिद्ध है और वाक्यार्थ लक्षणासिद्ध है । यहाँ वाक्य की वाक्यार्थ में शक्त्यन्तर मानने की आवश्यकता नहीं है जबकि अन्विताभिधानवाद में शक्त्यन्तर की कल्पना करनी पड़ती है । किञ्च, पदगत शक्ति की अपेक्षा पदार्थगत शक्ति की कल्पना में लाघव है क्योंकि एक ही `गमन` रूप अर्थ के `गमनम्` `चलनम्` इत्यादि अनेक पद वाचक होते हैं, अत: पदार्थ को वाक्यार्थ का बोधक मानने में जो कार्य पदार्थगत एक लक्षणा शक्ति से चलता है उसके लिए अन्विताभिधानवाद में पदों को वाक्यार्थबोधक मानने में व्यर्थ ही अनेक पदों में अनेक शक्तियाँ माननी होंगी । पदार्थ शक्ति पक्ष में गमनगत शक्ति से ही गमन के पर्यायार्थों का भी अन्वयबोध हो जाता है, किन्तु पद शक्ति पक्ष में गमनार्थक अनेक पदों की अनन्त शक्तियां माननी पड़ेंगी [1] । और, अन्विताभिधानवाद में प्रतिपद वाक्यभेद होने लगेगा, कहीं भी एकवाक्यता सिद्ध नहीं होगी [2] । अत: अन्विताभिधानवाद में दोष दिखाते हुए भाट्टमीमांसक अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादन में कहते हैं कि पद अपनी अभिधा शक्ति से ही पदार्थों का अभिधान करते हैं । ये अभिहित पदार्थ परस्पर आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि आदि के द्वारा परस्पर संसृष्ट हो जाते हैं । ये परस्पर संसर्ग को प्राप्त किए हुए अभिहित पदार्थ ही वाक्यार्थ के हेतु हैं ।

वेदान्तपरिभाषा में अभिहितान्वयवाद को पृथक् से प्रतिपादित नहीं किया गया है जबकि कुमारिल ने इसका विवेचन किया है जिसको मानमेयोदयकार ने अधिक स्पष्ट किया है ।

---

१. द्रष्टव्य मानमेयोदय, पृ० ६६

२. किञ्चैवं वादिनां प्रतिपदं वाक्यभेद: स्यात्, न क्वचिदेकवाक्यता सिद्ध्येत् ।

— शा० दी० पृ० ३२९

षष्ठ अध्याय

अर्थापत्ति प्रमाण

अर्थापत्ति प्रमाण

वेदान्त तथा मीमांसा मत में अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व पर विचार किया गया है जबकि न्याय तथा सांख्य मत में अर्थापत्ति अनुमान में ही अन्तर्भावित है । वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र तथा श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल तो इसके स्वतन्त्र प्रामाण्य की विवेचना करते ही हैं; प्रभाकर ने भी अर्थापत्ति को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है, जबकि अनुपलब्धि का प्रमाणत्व उन्हें अभीष्ट नहीं है । नैयायिकों ने व्यतिरेकी अनुमान में ही अर्थापत्ति को अन्तर्भूत माना है; अतः अर्थापत्ति का पृथक् प्रामाण्य उन्हें अभीष्ट नहीं है । व्यतिरेकी अनुमान न मानने वाले दार्शनिक अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व का निरूपण करते हैं और यही कारण है कि धर्मराज तथा कुमारिल ने इसको स्वतन्त्र प्रमाण माना है । 'अर्थापत्ति' शब्द का अर्थ है -- किसी 'तत्त्व' (अर्थ) की 'कल्पना' (आपत्ति)[1] । शास्त्रीय ग्रन्थों में अर्थापत्ति को ही 'अन्यथानुपपत्ति' नाम से अभिहित किया गया है ।

६.१ लक्षण --

उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना (ज्ञान) ही अर्थापत्ति प्रमा है जिसमें उपपाद्य का ज्ञान करण (प्रमाण) है तथा उपपादक का ज्ञान फल है ।[2] इसको इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि कोई पुरुष दिन में भोजन नहीं करता है किन्तु उसका शरीर पुष्ट दृष्टिगत होता है । भोजन के बिना ऐसी पुष्टि (पीनत्व) सम्भव नहीं है; अतएव यह कल्पना की जाती है कि वह व्यक्ति रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा । यहाँ 'पीनत्व' का कारण 'रात्रिभोजन' है क्योंकि दिवा-अभुञ्जान व्यक्ति रात्रि भोजन से ही पीन हो सकता

---

१. अर्थस्यापत्तिः कल्पनेति ।

- वे० प० पृ० २७५

२. तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः । तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम् । उपपादकज्ञानं फलम् ।

- वे० प०, पृ० २७४

है । इस प्रकार `रात्रिभोजन` कारण है तथा `पीनत्व` कार्य है । किन्तु, अर्थापत्ति प्रमाण-प्रमेय स्थल में इसके विपरीत समझना चाहिए । अर्थात्, `पीनत्व` रूप कार्य का ज्ञान `करण` है तथा `रात्रिभोजन` रूप कारण का ज्ञान `फल` है क्योंकि `रात्रिभोजन` की कल्पना की जाती है जो अर्थापत्तिप्रमारूप फल ही है । किञ्च, पीनत्व तो प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है अतः उसकी कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है । `रात्रिभोजन` प्रत्यक्षाभाव होने से कल्पित है अतः `रात्रिभोजन` का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से होता है । इसी कारण उपपाद्य (पीनत्व) के ज्ञान से उपपादक (रात्रिभोजन) की कल्पना अर्थापत्ति प्रमा माना गया है, जहाँ उपपाद्य का ज्ञान (पीनत्व का ज्ञान) अर्थापत्ति प्रमाण है तथा उपपादक का ज्ञान (रात्रिभोजन का ज्ञान) अर्थापत्ति प्रमा है ।

प्रश्न उठता है कि यह उपपाद्य तथा उपपादक क्या है ? वेदान्त-परिभाषा के अनुसार, जिसके बिना जिस वस्तु की सिद्धि न हो- वह वस्तु उपपाद्य है,[१] जैसे— दिन में न खाने वाले व्यक्ति का पीनत्व रात्रिभोजन के बिना सम्भव नहीं है अतः दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति का `पीनत्व`, `उपपाद्य` हुआ ।[२] तथा इसी उपपाद्य वस्तु के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं । उपपाद्य को बतलाते हुए धर्मराज का कथन है कि जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है उसे उपपाद्य कहते हैं । द्रष्टव्य है कि `उसके बिना अनुपपन्न होना` क्या है ? अर्थात् अनुपपत्ति का स्वरूप क्या है ? धर्मराज का कथन है कि अपने अभाव का व्यापक जो अभाव है उसका प्रतियोगित्व ही अनुपपत्ति है ।[३] जैसे - भोजन का अभाव होने पर पीनत्व का अभाव अवश्य होता है

---

१. येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनोपपाद्यम् ।

- वे० प०, पृ० २७४

२. यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृश-पीनत्वमुपपाद्यम् ।

- वे० प० पृ० २७४

३. किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम् ? तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः ।

- वे० प० पृ० २७५

क्योंकि जहाँ भोजन का अभाव है वहाँ पीनत्व हो -- यह असम्भव है । इसलिए भोजनाभाव पीनत्वाभाव का व्याप्य है तथा पीनत्वाभाव भोजनाभाव का व्यापक है । इसी प्रकार, जहाँ रात्रिभोजन का अभाव हो वहाँ दिवाऽभुञ्जान पुरुष के पीनत्व का भी अभाव रहता है । दिवाऽभुञ्जान पुरुष का पीनत्वाभाव रात्रि-भोजनाभाव का व्यापक है । अत: रात्रिभोजनाभाव का व्यापक हुआ पीनत्वाभाव उसका प्रतियोगी पीनत्व है -- इसी ज्ञान को अनुपपत्ति ज्ञान कहते हैं जिसके आधार पर रात्रिभोजन की कल्पना होती है । अत: पीनत्व ही उपपाद्य हुआ ।

जिसके अभाव में जिसकी सिद्धि न हो सके उसे उस कार्य के प्रति उपपादक कहा गया है[1] । जैसे - रात्रिभोजन के अभाव में दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व कदापि सम्भव नहीं है । अतएव `रात्रिभोजन` दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति के पीनत्व का `उपपादक` है[2] । इस उपपादक के ज्ञान को ही अर्थापत्ति प्रमा (फल) कहा गया है[3] । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व (जो कि रात्रिभोजन का कार्य है) अर्थापत्ति स्थल में `करण` है तथा `पीनत्व` देखकर रात्रिभोजन की कल्पना करना (जो कि `पीनत्व` का कारण है) अर्थापत्ति प्रमा रूप फल है । जबकि आपात दृष्टि डालने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उपपादक का ज्ञान करण है तथा उपपाद्य का ज्ञान फल है । इस प्रकार, वेदान्त-परिभाषा के अनुसार तादृश पीनत्व रूप उपपाद्य का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है तथा प्रत्यक्ष से अदृष्ट रात्रिभोजन का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणजन्य अर्थापत्ति प्रमारूप है ।

अर्थापत्ति प्रमाण तथा तज्जन्य प्रमा को भी अर्थापत्ति ही कहते हैं उसी प्रकार जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्षप्रमाणजन्य प्रमा भी प्रत्यक्ष कहलाती

---

१. यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तस्योपपादकम् ।

- वे० प०, पृ० २७४

२. यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुप-पादकम् ।

- वे० प०, पृ० २७४

है । अनुमानादि में अनुमानप्रमाणजन्य प्रमा को अनुमिति, उपमानप्रमाणजन्य प्रमा को उपमिति तथा शब्दप्रमाणजन्य प्रमा को शाब्दी कहते हैं । यद्यपि प्रमा एवं प्रमाण दोनों के लिए `अर्थापत्ति` शब्द का प्रयोग होता है तथापि दोनों में `अर्थापत्ति` शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है अतएव अर्थों में भी भिन्नता है । रात्रिभोजन कल्पना रूप प्रमा में अर्थापत्ति की प्रवृत्ति षष्ठी समास करके होती है अर्थात् `अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति अर्थापत्तिः` एवं कल्पना के करण पीनत्व रूप अर्थ में अर्थापत्ति शब्द का बहुव्रीहि समास करके प्रयोग किया जाता है - अर्थात् `अर्थस्य आपत्ति यस्मात्` । इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से एक ही अर्थापत्ति शब्द के `प्रमा` तथा `प्रमाण` रूप दोनों ही अर्थ हो सकते हैं ।[1]

मीमांसा दर्शन में भाष्यकार शबर ने अर्थापत्ति को परिभाषित करते हुए कहा है, `अर्थापत्ति प्रमाण उसे कहते हैं जिसमें दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ किसी दूसरे प्रकार से (अन्यथा ) सिद्ध नहीं होता इसलिए एक अर्थ की कल्पना की जाती है जैसे- देवदत्त जीवित है किन्तु उसे घर में न पाकर यह कल्पना की जाती है कि वह बाहर होगा`[2] देवदत्त के गृह से बाहर होने की कल्पना उसके गृहाभाव तथा उसके जीवित होने पर आधारित है । यहाँ अभाव तथा अनुमान - इन दो प्रमाणों में विरोध (अनुपपत्ति) उत्पन्न होता है क्योंकि देवदत्त का गृह में न होना अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है तथा उसके जीवित होने पर उसकी सत्ता कहीं पर है इसका ज्ञान

---

१. रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्प्रयोगः ।

- वे० प०, पृ० २०५

२. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा — जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।

- शा० भा०, पृ० ३०

अनुमान प्रमाण से होता है ।[1] इस प्रकार, देवदत्त है किन्तु वह घर पर नहीं है - इस वाक्य में एक ही समय में दो भिन्न प्रमाणों से ज्ञात किसी व्यक्ति का अस्तित्व तथा अभाव उसकी बहिर्भावकल्पना को उत्पन्न करता है । इसी को श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्रकार विवेचित किया है -- प्रमाणषट्क में से किसी एक से विज्ञात विषय में हुए विरोध को हटाने के लिए जिस अदृष्ट अर्थ की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं ।[2] यहाँ ध्यातव्य है कि प्रमाणों का यह विरोध आभासमात्र होता है । वास्तविक विरोध होने पर तो समन्वय असम्भव होगा । जिस प्रकार `इदं रजतम्` तथा `नेदं रजतम्` में वास्तविक विरोध है जिसका परिहार तभी सम्भव है जब इन दोनों में से एक असत्य हो । किन्तु अर्थापत्ति में तो दोनों की ही सत्यता होती है भले ही प्रारम्भ में दोनों का विरोध प्रतीत हो, और यह विरोधाभास अतिरिक्त कल्पना से समाप्त हो जाता है । कल्पना का कारण विरोध (अनुपपत्ति) सदैव दो प्रमाणों के मध्य होता है ।

इस प्रकार, वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही `अदृष्टकल्पना` को अर्थापत्ति प्रमा माना गया है । अर्थापत्ति के स्वरूप के विषय में दोनों में समानता है भले ही दोनों की प्रतिपादन शैली भिन्न हो ।

---

१. दृष्टो हि गृहे चैत्रस्याभावेन । आनुमानिकी च तस्य जीवतः क्वचित्सत्ता । सा अनिर्धारितदेशविशेषा तथा गृहमपि व्याप्नोति । सोऽयं प्रत्यक्षानुमानयोर्विरोधोऽनुपपत्तिराख्यायते ।

- श्लो० वा० पर काशिका, पृ० १६०

२. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ।। - श्लो० वा० अ० १
अपि च,

A case - where, as order to avoid the contradiction (or irrelevancy) of any object as certained by means of any of the six means of right notion, an unseen object (or fact) is assumed,- is known to be one of 'Arthapatti' (Apparent Inconsistency).

- श्लो० वा० अ० १ का पं० [illegible] गंगानाथ झा कृत अनुवाद, पृ०२३०

५.२ अर्थापत्ति के भेद--

वेदान्तपरिभाषा में दृष्टार्थापत्ति तथा[१] श्रुतार्थापत्ति -- अर्थापत्ति के उक्त दो प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दृष्ट वस्तु के आधार पर की गई कल्पना दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुत वस्तु के आधार पर की गई कल्पना श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। अर्थात् जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं तथा जिस अर्थापत्ति का विषय श्रुत होता है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे -- सामने शुक्ति देश में `इदं रजतम्` - एतद्रूप रजत ज्ञान होता है। किन्तु किसी आप्त के कथन अथवा वहाँ जाकर सम्यक् रूप से देखने के पश्चात् `नेदं रजतम्` से उसी रजत का निषेधज्ञान होता है। `नेदं रजतम्` इस वाक्य से पुरोवर्ती अवगत रजत का ही निषेध किया जा रहा है अतएव इस निषेध का विषय रजत है। इसी कारण रजत को निषिध्यमान भी कहते हैं। वस्तुतः वह रजत यदि सत् पदार्थ होता तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता था। अतः यह कल्पना की जाती है कि शुक्तिस्थल पर रजत की सत्ता नहीं है वह सत् से भिन्न अर्थात् असत् (मिथ्या) है। अथवा इस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार उसके सत्यत्वात्यन्ताभावरूप मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। रजत की निषिध्यमानता रजत मिथ्यात्व के अभाव में असिद्ध है। कहा जा चुका है कि इसी कारण पुरोवर्ती देश में दीखने वाले रजत में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। मिथ्यात्व का अर्थ सद्भिन्नत्व अथवा सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। तात्पर्य यह है कि रजत सत्य नहीं है अपितु मिथ्या है क्योंकि उसमें सद्भिन्नत्व है एवं सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार पुरोवर्ती देश में अवगत रजत में मिथ्यात्व का कल्पक `नेदं रजतम्` इस वाक्य से निषिध्यमानत्व ही है।

दृश्यमान रजत में दृष्ट निषिध्यमानत्व की अन्यथानुपपत्ति से अर्थान्तर कल्पना (सद्भिन्नत्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना) दृष्टार्थापत्ति कहलाती

---

१. सा चार्थापत्तिर्द्विविधा - दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति।

- वे० प०, पृ० २७६

है । यहाँ मिथ्यात्व का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा रूप (फल) है तथा निषिध्यमानत्व का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण रूप (करण) है क्योंकि यह निषिध्यमानत्व रजत के मिथ्यात्व के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता है । इस कारण से 'नेदं रजतम्' ऐसा अबाधित निषिध्यमानत्व ज्ञान[1] पुरोवर्ती अवगत रजत सत्यत्व के विरुद्ध मिथ्यात्व की कल्पना कराता है । यही दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है ।

श्रुतार्थापत्ति की परिभाषा वेदान्तपरिभाषा में इस प्रकार से उपलब्ध होती है — जहाँ श्रुत वाक्य की स्वार्थानुपपत्ति के द्वारा (वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण) अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती हो उसी अर्थान्तरकल्पना को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं । जैसे — 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति में शोक शब्द वाच्य समस्त बन्धों में बताए हुए ज्ञाननिवर्त्यत्व[2] की अन्यथा अनुपपत्ति होने से समस्त बन्धों में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है । अर्थात्, श्रुत वाक्य के मुख्य अर्थ के असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति हेतु जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं । श्रुतार्थापत्ति के उदाहरण में वेदान्तपरिभाषा में 'आत्मवेत्ता पुरुष समस्त शोक को पार कर जाता है' — यह वाक्य दिया गया है । यहाँ 'तरति शोकमात्मवित्' इस वाक्य का 'कर्तृत्वादि समस्त बन्ध है तथा ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है' - यह आशय है । किन्तु, श्रुत वाक्य से यह अर्थ अनुपपन्न है क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति तत्ज्ञान से नहीं होती है । ज्ञान केवल अज्ञान का निवर्तक

---

१. तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति ।

- वे० प०, पृ० २७६

२. श्रुतार्थापत्तिर्यथा यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तर कल्पनम् । यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञान-निवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते ।

- वे० प०, पृ० २७६

होता है । अत: श्रुत वाक्य की उपपत्ति के लिए `बन्ध अज्ञानमूलक है` -- ऐसी कल्पना की जाती है क्योंकि इसी कल्पना के द्वारा ही समस्त बन्ध ज्ञान निवर्त्य है-- इसकी सिद्धि होती है । स्पष्ट है कि `तरति शोकमात्मवित्` इस वाक्य में `शोक` पद वाच्य बन्धन को मिथ्या कहने वाला कोई शब्द दृष्टिगत नहीं होता है । शब्द तो `आत्मज्ञान से शोक को तरता है ` ऐसा बतला रहा है अर्थात् बन्धन सन्तरण का साधन आत्मज्ञान श्रुति को अभिप्रेत है उस आत्मज्ञान में बन्धन सन्तरण की साधनता बन्धन मिथ्यात्व के बिना अनुपपन्न है । अत: उस स्वार्थ की अन्यथानुपपत्ति द्वारा बन्धन में सत्यत्व भिन्न मिथ्यात्व की कल्पना होती है । इस प्रकार प्रपञ्च मिथ्यात्वरूप अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि में श्रुतार्थापत्ति उपादेय है । वेदान्तपरिभाषाकार ने स्वमतस्पष्टीकरण हेतु उपर्युक्त वेदान्तोपयोगी उदाहरण देने के पश्चात् कुमारिल सम्मत श्रुतार्थापत्ति का लौकिक उदाहरण दिया है । `जीवित देवदत्त घर में नहीं है ` इस वाक्य को सुनने पर जीवित पुरुष का घर में न होना उसके बहि:सत्व की कल्पना कराता है । `जीवो देवदत्तो गृहे न` इस वाक्य में एक भी ऐसा शब्द प्राप्त नहीं होता जिससे देवदत्त की बाह्य स्थिति का ज्ञान हो सके । जो पुरुष गृह तथा गृह के बाहर न हो वह जीवित ही नहीं रह सकता । किन्तु, देवदत्त जीवित है और वह गृह में नहीं है अतएव उसे अवश्य ही बाहर होना चाहिए-इस प्रकार की कल्पना भी श्रुतार्थापत्ति का ही उदाहरण है ।[1]

वेदान्तपरिभाषाकार ने श्रुतार्थापत्ति के अवान्तर भेदों का भी विवरण प्रस्तुत किया है । श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं -- अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति ।

(१) <u>अभिधानानुपपत्ति--</u>

ज्ञात है कि क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है तथा कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है । इनमें से किसी एक के अभाव से

---

१. यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहि:सत्त्वं कल्पयति ।

— वे० प०, पृ० २०६

दूसरा अपने विवक्षित अर्थ को बतलाने में असमर्थ होता है । अत: वाक्यैकदेशश्रवणोपरान्त अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति से अन्वयाभिधानोपयोगि[1] द्वितीय पद की कल्पना करने को ही अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं । जैसे -- ‘द्वारम्’- कपाट शब्द को सुनकर उसके अन्वय की उपपत्ति लगाने के लिए ‘पिधेहि’ (लगा दो) पद का अध्याहार किया जाता है ।[2] इस पर यह शंका की जा सकती है कि ‘द्वारं पिधेहि’ इस वाक्य के एकमात्र ‘द्वारम्’ पद का श्रवण करने के पश्चात् इस ‘द्वार’ का अन्वयाभिधान से पूर्व ‘इस अन्वय का अभिधान ‘पिधान’ अर्थ के उपस्थापक पिधान पद के बिना अनुपपन्न हो रहा है -- यह अर्थ किस प्रकार जाना जा सकता है ।[3] संक्षेप में ‘द्वारम’ के साथ ‘पिधेहि’ का ही अध्याहार क्यों किया जाता है ? धर्मराज के अनुसार इसका समाधान इस प्रकार सम्भव है कि ‘अभिधान’ पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है । ‘अभि’ पूर्वक ‘धा’ धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने पर तथा करण कारक में ल्युट् प्रत्यय करने पर ‘अभिधीयते इति ’ तथा ‘अभिधीयते अनेन इति’ ‘अभिधानम्’ शब्द की निष्पत्ति होती है । प्रकृत में अभिधान पद भावार्थक नहीं है किन्तु इसकी व्युत्पत्ति ‘करणे ल्युट्’ से सिद्ध की गई है जिसका अर्थ ‘तात्पर्य ’ होता है । ‘द्वारम्’ पद के श्रवणोपरान्त अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति इसलिए हो रही है क्योंकि ‘द्वारम्’ पद का तात्पर्य ‘द्वार है कर्म जिसका ’ ऐसे

---

१. श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा, अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च । तत्र, यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः ।

— वे० प०, पृ० २७६

२. यथा द्वारमित्यत्र पिधेहीत्यध्याहारः ।

— वे० प०, पृ० २७६

३. ननु द्वारमित्यादावन्वयाभिधानात्पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमिति चेत् ।

— वे० प०, पृ० २७८

पिधान क्रिया के सम्पर्क को विषय कर रहा है अर्थात् द्वार कहने वाले व्यक्ति का तात्पर्य है कि द्वारकर्मक पिधान क्रिया के साथ संसर्ग का बोध हो । इस अर्थ का ज्ञान 'द्वारम्' पद के श्रवण के पश्चात् ही हो जाता है । अतएव अन्वयाभिधान के पूर्व भी उक्त 'तात्पर्य'[1] से 'द्वारम्' पद का अन्वय 'पिधेहि' क्रिया के साथ ही है ऐसा बोध होता है । देश, काल, प्रकरण आदि तात्पर्य के निश्चायक होते हैं इसी कारण 'पिधेहि' क्रिया से संसर्गपरत्व का बोध हुआ । अभिधानानुपपत्ति का एक वैदिक उदाहरण भी परिभाषाकार ने दिया है । किसी पुरुष की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है । श्रुति में 'विश्वजिता यजेत' -- विश्वजित् नामक याग करें - ऐसा कर्म विहित है । प्रकृत में विश्वजित् नामक याग में करणत्व रूप अन्वय का अभिधान किया गया है । प्रश्न उठता है कि यह किसके प्रति करण है ? यहाँ शब्द से स्पष्ट विशेष्य अनुल्लिखित है । 'स: स्वर्ग: स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्'[2] (अर्थात् सभी याग का स्वर्ग को ही सामान्य रूप से फल माना गया है । जहाँ कोई फल अश्रुत हो वहाँ स्वर्ग की कल्पना करनी चाहिए ।) इस सूत्र से 'स्वर्गकाम' पद का अध्याहार दिखलाया गया है । इस प्रकार, 'स्वर्गकाम' पद का अध्याहार कर लेने से 'विश्वजिता यजेत' इस श्रुत वाक्य का अन्वयाभिधान उपपन्न हो जाता है । अर्थात् 'स्वर्गकाम: विश्वजिता यजेत' यह वाक्यार्थ होता है ।[3] अभिधानानुपपत्ति को उदाहरणसहित स्पष्ट करने के पश्चात् अभिहितानुपपत्ति का निरूपण करते हैं ।

(२) <u>अभिहितानुपपत्ति --</u>

जहाँ पर वाक्य से अभिमत अर्थ अनुपपन्न होने के कारण, ज्ञात होता

---

१. अभिधानमपेक्ष्य करणाव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवादितत्वात् । तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तदापि सम्पाद्यते । - वै० प०, पृ० २८८

२. जैमिनिसूत्रे चतुर्थ अध्याय ।

३. यथा वा विश्वजिता यजेत इत्यत्र स्वर्गकाम इति पदाध्याहार: ।
- वै० प०, पृ० २८८

हुआ भी, अर्थान्तर की कल्पना कराता है वहाँ अभिहितानुपपत्ति होती है।[१] जैसे -- 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' -- इस वाक्य के श्रवण से अर्थ का तो ज्ञान हुआ किन्तु यह अवगत अर्थ भी अनुपपन्न ही प्रतीत होता है क्योंकि उक्त वाक्य में क्षणिक ज्योतिष्टोम याग में अवगत हुए स्वर्गसाधनत्व की अनुपपत्ति होने से क्षणिक याग-साधन है, तथा स्वर्गप्राप्तिफल है ; इनके मध्यवर्ती 'अपूर्व' की कल्पना की जाती है।[२] 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इस वाक्य में अभिहित (उक्त) अर्थ की अनुपपत्ति होती है क्योंकि ज्योतिष्टोम याग क्षणिक है, याग होते ही वह क्रियाविशेष तो समाप्त हो जाती है। किन्तु, याग होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई भी नहीं देता है। इस प्रकार, क्षणिक ज्योतिष्टोम याग में जो स्वर्ग के प्रति साधनता अभिहित हो चुकी है, वह अनुपपन्न हो रही है इसलिए श्रुत्यर्थ की उपपत्ति जिस प्रकार हो ऐसे पदार्थ की कल्पना की जाती है और वह 'अपूर्व' है। यद्यपि याग विनाशी है तथापि वह अपने स्थितिक्षण में ही उत्पन्न होते ही स्वर्ग के साधनभूत 'अपूर्व' (अदृष्ट) को उत्पन्न करके नष्ट होता है। यह 'अपूर्व' 'याग' तथा 'स्वर्ग' का मध्यवर्ती व्यापार है जिससे स्वर्गरूप फल प्राप्त होता है। अतएव 'अपूर्व' की विलक्षण कल्पना से श्रुति द्वारा अवगत अर्थ अनुपपन्न नहीं हो पाता है।

वेदान्तपरिभाषा में अर्थापत्ति के प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् श्लोकवार्तिक में अर्थापत्ति के भेद के विषय में जानना अभीष्ट है। शाबर-भाष्य में अर्थापत्ति के कथित दो प्रकारों का पृथक् निरूपण अप्राप्य है। यदि वह

---

१. अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति तत्र द्रष्टव्या।

— वे० प०, पृ० २८३

२. यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक-ज्योतिष्टोमयागगतत्वेनावगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

— वे० प०, पृ० २८३

कहा जाय कि भाष्यप्रयुक्त 'दृष्ट: श्रुतो वा'[1] अर्थापत्ति के दो प्रकारों -- दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति की ओर सङ्केत तो करते हैं किन्तु शबर ने उक्त भेदों का ही सङ्केत 'दृष्ट: श्रुतोवा' से किया होता तब तो उनको उदाहरण सहित उक्त दो भेदों का निरूपण करना चाहिए था। लेकिन, उन्होंने अर्थापत्ति का केवल एक ही उदाहरण दिया है। कुमारिल ने शबर के 'दृष्ट: श्रुतो वा' के आधार पर अर्थापत्ति के दो प्रकारों की मान्यता दी है। दृष्टार्थापत्ति अर्थात् दृष्ट वस्तु के द्वारा कल्पना तथा श्रुतार्थापत्ति अर्थात् श्रुत वस्तु के आधार पर कल्पना। वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही अर्थापत्ति के उक्त दो भेदों को स्वीकार किया गया है। कुमारिल ने दृष्टार्थापत्ति के पाँच उपभेद भी माने हैं। इस प्रकार, अर्थापत्ति के कुल छ: प्रकार हुए-- दृष्टार्थापत्ति के पाँच प्रकार तथा श्रुतार्थापत्ति। अर्थापत्ति प्रमाण का आधार कुमारिल सम्मत छ: प्रमाण है, और इस कारण से भी अर्थापत्ति के छ: प्रकार हुए। भाष्यस्थ 'दृष्ट:' पद का अर्थ है - शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि पाँचो प्रमाणों द्वारा ज्ञात 'विषय'। इसी प्रकार 'श्रुत:' पद से श्रुतार्थापत्ति ही अभिप्रेत है। शब्दप्रमाणमूलक अर्थापत्ति-- 'श्रुतार्थापत्ति' का 'दृष्टार्थापत्ति' से पृथक् निरूपण करने का विशेष कारण है। 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द से संगृहीत सभी अर्थापत्तियाँ 'प्रमेयग्राहिणी' हैं अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके बहिर्-स्थितत्व स्वरूप 'प्रमेय' का ही ग्रहण होता है जबकि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिवा-भु बाल पीन देवदत्त के रात्रिभोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्यस्वरूप 'प्रमाण' का ही ग्रहण होता है। तत्पश्चात् 'रात्रि' वाक्यस्वरूप प्रमाण के द्वारा 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार, श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी है। दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण होने के कारण ही उसका पृथक् अभिधान किया गया है।[2]

---

१. अर्थापत्तिरपि दृष्ट: श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।
- शा० भा०, पृ० ३०

२. दृष्ट: पञ्चभिरप्यस्मात् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा ।।
- श्लो० वा० सं० २

चूँकि प्रमाण छः प्रकार के हैं अतः तत्पूर्विका अर्थापत्ति भी छः प्रकार की है ।

(१) प्रत्यक्षपूर्विका —

प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात दाह के द्वारा वह्नि में दहनशक्ति की जो कल्पना की जाती है वही प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है।[१] वह्नि वस्तुओं को जलाती है - यह प्रत्यक्षगम्य है किन्तु यह तभी सम्भव है जब यह कल्पना की जाय कि वह्नि में 'दहनशक्ति' है । स्पष्टतया, इस अर्थापत्ति का आधार 'प्रत्यक्ष' है ।

(२) अनुमानपूर्विका —

यह अर्थापत्ति 'अनुमान' प्रमाण पर आधारित है । सूर्य में अनुमित गति के द्वारा सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना 'अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति' है ।[२] सूर्य में गति का ज्ञान अनुमान द्वारा ही होता है । प्राणियों में गमन पदादि के कारण सम्भव है किन्तु सूर्य के पास इस प्रकार का गमनसाधन नहीं है । अतएव 'सूर्य गमन करता है' तथा 'उसके गति का कोई साधन नहीं है' । इन दोनों में अनुपपत्ति[३] (विरोध) तभी दूर हो सकती है जब सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना की जाय ।

(३) उपमानपूर्विका —

उपमान पर आधारित अर्थापत्ति उपमानपूर्विका अर्थापत्ति कहलाती है । 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस उपमिति में गौ में 'सदृशज्ञानग्राह्यशक्ति' (गवयज्ञानग्राह्यत्व) की कल्पना 'उपमानपूर्विका अर्थापत्ति' का

---

१. तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद् दाहाद् दहनशक्तता ।

- श्लो० वा० ३ की पृ० पं०

२. वह्नेरनुमिताद् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोग्यता ।।

- वही ३ की द्वि० पं०

३. गमनं हि प्राणिनां विच्छिन्नदेशप्राप्त्यादिसाधनगमनवत् । अयं चानुमितसूर्यगमन-साधनोऽपि सर्वेन न गन्तुमर्हतीति विरुद्धः । सो यं शक्तिकल्पनया निवार्यते ।

- काशिका (श्लो० वा० अ० ३ पर) ।

उदाहरण है।[1] प्रश्न उठता है कि क्यों गवय के प्रत्यक्षोपरान्त ही गो में यह सादृश्य अभिव्यक्त होता है ? गो के प्रथम दर्शन के समय यह सादृश्य क्यों नहीं अभिव्यक्त होता है ? गो का गवयसदृश होना यह स्पष्ट करता है कि गो में गवय के अवयवसामान्य रहते हैं और ये अवयवसामान्य गो के प्रथम दर्शनकाल में भी रहते हैं ; तब प्रथम दर्शनकाल में ही इस सदृश ज्ञान की उपमिति क्यों नहीं होती ? इस अनुपपत्ति का समाधान तभी हो सकता है जब यह कल्पना की जाय कि गो में शक्ति है जो प्रतियोगी गवय के दर्शन से अभिव्यक्त होती है और `गवयसदृशी गौः` यह उपमिति उत्पन्न करती है।[2] इस प्रकार सदृशज्ञानग्राह्यशक्ति की कल्पना `उपमानपूर्विका अर्थापत्ति` का उदाहरण है।

(४) <u>अर्थापत्तिपूर्विका —</u>

अर्थापत्ति पर आधारित अर्थापत्ति का यह प्रकार शब्द की नित्यता की कल्पना पर आधारित है। शब्द की नित्यता की कल्पना शब्द की बोधक शक्ति (वाचकशक्ति) पर आधारित है जिसका अर्थापत्ति द्वारा शब्द से अर्थ के अभिधान में प्रयोग होता है।[3] अर्थात्, शब्द के द्वारा अर्थ के अभिधान से शब्द में वाचकत्व शक्ति की कल्पनास्वरूप `अर्थापत्ति` निष्पन्न होती है। शब्द में इस वाचकत्व शक्ति की उपपत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक उसे नित्य न माना जाय।[4]

---

१. गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता । - श्लो०वा० अ० ४ द्वि० पं०

२. कथं गवि तत्सादृश्यज्ञानं कल्प्यते, यदि हि कल्पयेत् प्रथमदर्शनेऽपि किं न कल्पयेत्, सन्ति हि तदापि गवि गवयावयवसामान्यानि, तदेवं तावदपि गव्युपमानमनुपपत्त्यावसीदति । शक्ति कल्पनयोपपाद्यते । अस्ति नाम कोऽपि गोरतिशयो यः प्रतियोगिदर्शनप्रतिलब्धाभिव्यक्तिर्गवयसदृशीं निरूपयति ।
- श्लो० वा० पर काशिका, पृ० १६३

३. अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् ।
शब्दे बोधकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् ॥ - श्लो०वा० अ० ५

४. अभिधा नान्यथा सिध्येदिति वाचकशक्तिताम् ।
अर्थापत्त्यावगम्यैवं तदनन्यगतेः पुनः ॥
अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ।
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते ॥ - श्लो० वा० अ० ६-७

अपि च, No denotation is possible without expressiveness; and this latter could not be possible, if the words were not eternal.

अतएव शब्द में नित्यत्वकल्पनास्वरूप अर्थापत्ति शब्द में उक्त वाचकत्व शक्ति की कल्पनास्वरूप अर्थापत्तिमूलक है । इसी कारण इसे अर्थापत्तिपूर्विका कहा गया है ।

(५) अनुपलब्धिपूर्विका — भाष्यकार ने जो जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके बहिर्भाव की अदृष्ट परिकल्पना को अर्थापत्ति का उदाहरण बतलाया है वह वस्तुतः अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति का ही उदाहरण है । प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों से अनिर्णीत तथा अभाव से निर्णीत गृहवृत्ति जीवित चैत्र के अभाव से जो चैत्र के बहिरस्तित्व की कल्पना की जाती है वही अनुपलब्धिप्रमाणमूलक अर्थापत्ति का उदाहरण है ।[1] कुमारिल का अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति का यही उदाहरण वेदान्तपरिभाषाकार ने श्रुतार्थापत्ति के उदाहरण के रूप में दिया है ।

(६) शब्दपूर्विका अर्थापत्ति अथवा श्रुतार्थापत्ति— अर्थापत्ति का यह प्रकार शब्द प्रमाण पर आधारित है । 'पीनो दिवा न भुंक्ते' (यह पीन व्यक्ति दिन में नहीं खाता है) इस वाक्य से जो 'रात्रिभोजन' का विज्ञान होता है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं ।[2] प्रकृत में 'पीनो दिवा न भुंक्ते' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण दिया गया है तथा 'रात्रिभोजन' स्वरूप प्रमेय को श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण कहा जाता है । किन्तु, पहले यह बतलाया जा चुका है कि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी होने से दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण है[3] और श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिन में भोजन न करने वाले पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुंक्ते' इस

---

१. प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् ।
गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्वियं दर्शिता ॥
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।
— श्लो० वा० अ० ८-९ का पूर्वार्द्ध

२. पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ — श्लो० वा० अ० ५१

३. प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा ॥
— श्लो० वा० अ० २

वाक्य स्वरूप प्रमाण का ग्रहण होता है। तत्पश्चात् `रात्रिवाक्य` स्वरूप प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ का अवबोधन होता है। अतः श्रुतार्थापत्ति से `रात्रौ भुंक्ते` इस वाक्य का ग्रहण होता है अथवा `रात्रिभोजन` रूप अर्थ का? इसके समाधानार्थ कुमारिल का कथन है कि श्रुतार्थापत्ति को कोई अर्थगोचर (प्रमेय-ग्राहिणी) मानते हैं और कोई इसे शब्दस्वरूप प्रमाण की ग्राहिका (प्रमाण-ग्राहिणी) मानते हैं अतएव कोई विरोध नहीं है।[1] किन्तु सभी लोग श्रुतार्थापत्ति को आगम प्रमाण से अभिन्न मानते हैं। ~~किन्तु सभी लोग श्रुतार्थापत्ति को आगम प्रमाण से अभिन्न मानते हैं।~~ क्योंकि प्रायः सभी वैदिक व्यवहार शब्दपूर्विका श्रुतार्थापत्ति के द्वारा ही व्यवस्थित होते हैं। यदि उसे आगम प्रमाण से अभिन्न न माना जाय तब तो वे सभी वैदिक व्यवहार अवैदिक[2] हो जायेंगे। इसी कारण इसको आगम प्रमाण पर आधारित माना जाता है।

सभी श्रुतार्थापत्तिवादी स्वीकार करते हैं कि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा कल्पित अर्थ आगमप्रमाणबोध होता है। इसी सन्दर्भ में किसी की मान्यता है कि `पीनो दिवा न भुंक्ते` -- इस श्रुत वचन का ही `रात्रिभोजन` अर्थ है। अन्यों की (सिद्धान्तियों की) धारणा है कि `पीनो दिवा न भुंक्ते` इस वाक्य के[3] द्वारा `रात्रौ भुंक्ते` रूप कल्पित वाक्यान्तर का ही अर्थ `रात्रिभोजन` है। `पीनो दिवा न भुंक्ते` श्रूयमाण इस वाक्य का `रात्रिभोजन` रूप अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य कभी भी अनेकार्थक नहीं होता है (चाहे भले ही हो) साथ ही उसमें वाचकता भी नहीं होती है अतएव `दिवा न भुंक्ते` इस वाक्य का अभिधेयार्थ `रात्रिभोजन` नहीं हो सकता।[4] तत्र पदों के सकल अर्थ परस्पर अन्वित

---

१. वाक्यगोचरां केचिदपरे ह्यर्थगोचराम्।
सर्वमन्त्यागमगाम्येतामभिन्नां प्रतिजानते॥ - श्लो० वा० अ० ५२

२. प्रायश्च वाक्या वेदे व्यवहारो व्यवस्थितः।
सो वैदिकः प्रसज्येत अवेधा भिद्यते यतः॥ - श्लो० वा० अ० ५३

३. यत्रास्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः केचिदभाषिताः।
तदर्थापत्तिकल्प्याद्विशिष्टो वाक्यान्तरस्य तु॥ - श्लो० वा० अ० ५४

४. न तावच्छ्रूयमाणस्य वाक्यस्यार्थोऽयमिष्यते।
न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा॥ - श्लो० वा० अ० ५५

होकर ही वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं।[1] अतः 'दिवाभोजन' वाक्य से 'रात्रि-भोजन' की प्रतीति नहीं हो सकती। 'रात्रिभोजन' दिवादि का संसर्ग (व्यापक) भी नहीं है एवं रात्रिभोजन दिवाभोजन का 'भेद' अर्थात् विशेष भी नहीं है जिससे 'दिवाभोजन' प्रतिपादक 'पीनो दिवा न भुंक्ते' यह वाक्य 'रात्रिभोजन' का प्रतिपादक हो सके। किन्च, 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य का अर्थ 'दिवाभोजन' होता है अतएव 'रात्रिभोजन' रूप द्वितीय अर्थ की कल्पना करना व्यर्थ है[2] क्योंकि दुर्जनतुष्टिन्यायेन वाक्य को अनेकार्थक मानकर उक्त वाक्य का 'दिवाभोजन' तथा 'रात्रिभोजन' -- दोनों ही अर्थ लिया जाय तब भी उक्त वाक्य का दो बार उच्चारण करना होगा क्योंकि एक अर्थ के लिए उच्चारित एक शब्द से दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता है।[3]

तस्मात्, 'रात्रौ भुंक्ते'[4] इस बुद्धिस्थवाक्यान्तर के द्वारा 'रात्रि-भोजन' अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार, 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस श्रुत वाक्य से व्यक्ति 'रात्रौ भुंक्ते' रूप बुद्धिस्थ वाक्यान्तर की कल्पना करता है और कल्पित (बुद्धिस्थ) उस वाक्य से 'रात्रिभोजन' स्वरूप अर्थ का बोध होता है। स्पष्ट है कि 'रात्रौ भुंक्ते' यह आगमप्रमाणस्वरूप वाक्य ही प्रकृत में अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय है न कि 'रात्रिभोजन' स्वरूप अर्थ। इस प्रकार, 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का आगमप्रमाणगम्य होना भी सिद्ध होता है।

---

१. पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते ।
   न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते ॥
   - श्लो० वा० अ० ५६

२. न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम् ।
   न भेदो येन तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम् ॥
   - वही ५७

३. अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना ।
   - वही ५८ पूर्वार्द्ध

४. तस्माद् वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते ॥
   - वही ५८ उत्तरार्द्ध

वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों ने ही अर्थापत्ति के दो भेद -- दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति--स्वीकार किये हैं। कुमारिल ने दृष्टार्थापत्ति के पांच उपभेदों को उपस्थापित किया है किन्तु धर्मराज ने दृष्टार्थापत्ति का कोई उपभेद नहीं माना है। कुमारिल के दृष्टार्थापत्ति के पाँच भेद प्रत्यक्षादि, पांच प्रमाणों पर आधारित हैं। शब्द पूर्विका अर्थापत्ति को श्रुतार्थापत्ति के रूप में स्वीकार किया है अतएव श्रुतार्थापत्ति शब्दप्रमाण पर आधारित है। इस प्रकार, प्रमाणों के आधार पर अर्थापत्ति के छः प्रकार होते हैं जिनमें से शब्दपूर्विका अर्थापत्ति के छः प्रकार होते हैं जिनमें से शब्दपूर्विका अर्थापत्ति श्रुतार्थापत्ति है तथा शब्द प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों पर आधारित अर्थापत्ति दृष्टार्थापत्ति है। दृष्टार्थापत्ति को प्रमेयग्राहिणी तथा श्रुतार्थापत्ति को प्रमाणग्राहिणी बतलाकर उनके मध्य एक और भेद उपस्थित किया है। किन्तु, वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमाणों के आधार पर अथवा विषय के आधार पर (विषय कभी प्रमाण होता है तो कभी प्रमेय) अर्थापत्ति का भेद नहीं स्वीकार किया है। जिसका विषय दृष्ट होता है वह दृष्टार्थापत्ति है तथा जिसका विषय श्रुत होता है वह श्रुतार्थापत्ति है--एतद्विषयक समानता दोनों में ही प्राप्त होती है। वेदान्तपरिभाषा में श्रुतार्थापत्ति के अवान्तरभेदों- अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति--का निरूपण धर्मराज की मौलिकता का परिचायक है। कुमारिल ने इन दोनों भेदों की चर्चा तक नहीं की है।

श्लोकवार्तिक तथा वेदान्तपरिभाषा में अर्थापत्तिविषयक ये भिन्नताएं लक्षित होती हैं --

(१) कुमारिल ने अनुपपत्ति का कारण विरोधाभास बतलाया है[१] जबकि धर्मराज इस विषय पर मौन हैं। यद्यपि धर्मराज द्वारा दिए गए अर्थापत्ति के विविध उदाहरणों में से अधिकांश में विरोधाभास दर्शित है तथापि उसका पृथक् निरूपण अप्राप्त है।

(२) कुमारिल के अनुसार श्रुतार्थापत्ति में सदैव ही कोई शब्द या वाक्य कल्पित होता है जबकि धर्मराज के अनुसार कभी तो शब्द की कल्पना की जाती है तथा कभी अर्थ की (वस्तु की)। जैसे -- `द्वारम्` पद के श्रवण से `पिधेहि` पद की कल्पना करना तथा `पीनो दिवा न भुंक्ते` से `रात्रिभोजन` रूप अर्थ की कल्पना करना।

---

१. द्रष्टव्य श्लो० वा० /का० १

६.३ अर्थापत्ति के अनुमान में अन्तर्भाव की सम्भावना

क्या अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव है ?

सांख्याचार्य अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं । नैयायिकों ने 'व्यतिरेकी अनुमान' में अर्थापत्ति को अन्तर्भूत बतलाया है । किन्तु वेदान्त तथा मीमांसा दोनों ने ही अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व का निरूपण किया है । अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता -- इस बात की पुष्टि निम्न कारणों से होती है —

(१) पक्षधर्मता का अभाव-- नैयायिकों की शङ्का है कि 'जीवन् देवदत्तो बहिरस्ति, विद्यमानत्वे सति गृहेऽभावात्'[१] इस अनुमान से ही देव के गृहासत्त्व से बहि:सत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाती है अत: अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है । इसका समाधान श्लोकवार्तिककार इस प्रकार करते हैं कि उक्त कल्पना में पक्षधर्मत्वादि अङ्गों की अपेक्षा ही नहीं रहती अतएव यह कल्पना अनुमिति नहीं कहला सकती । इसी कारण अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण है[२] । देव के बहि:सत्त्व की कल्पना को जिस अनुमान में अन्तर्भूत किया जा सकता है उसके दो रूप हो सकते हैं (१) देवो बहिर्देशविशिष्ट: गृहेऽभावात्, (२) बहिर्देशो देव-विशिष्ट: गृहेऽभावात् । प्रथम अनुमान में पक्ष 'देव' है तथा द्वितीय अनुमान में 'बहिर्देश' पक्ष है । किन्तु, प्रश्न उठता है कि हेतु क्या होगा ? ज्ञात है कि अनुमान के लिए हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है (पक्षधर्मता ज्ञान) । प्रकृत में 'गृहाभाव' स्वरूप हेतु न तो 'देव' स्वरूप पक्ष का धर्म है और न ही 'बहिर्देश'

---

१. न्यायरत्नाकर, पृ० सं० ३२१

२. अभावावगताच्चैवाद बहिर्भावस्य पूर्वम् ।
   पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानतः ॥

   - श्लो० वा० अ० १०

स्वरूप पक्ष का धर्म है। अत: गृहाभाव को हेतु मानने पर पक्षधर्मता ही नहीं बनेगी[1]।

उक्त अनुमान में 'चैत्राभावविशिष्ट गृह' हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि उसमें भी पक्षधर्मता अनुपपन्न होती है तथा 'गृहाभावविशिष्ट चैत्र' भी पक्षधर्मता की अनुपपत्ति के कारण हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि गृह में चैत्राभाव की प्रतीतिकाल में गृह की ही प्रतीति होती है चैत्र की प्रतीति नहीं होती है[2]। गृह में चैत्र के प्रत्यक्षाभाव से 'अदर्शन' को भी हेतु नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जिस प्रकार 'अभाव' किसी अनुमान के द्वारा प्रमित नहीं हो सकता है[3] उसी प्रकार अनुपलब्धि किसी अनुमेय की सिद्धि के लिए 'हेतु' भी नहीं हो सकती[4]। अतएव 'चैत्रो बहिरस्ति गेहमन्यदृष्टत्वात्' में 'गेहमन्यदृष्टत्वात्' हेतु भी पक्षधर्मता के अभाव में अनुपपन्न है। किञ्च, 'अदर्शन' हेतु से चैत्र का बहिर्देश में होना- इस साध्य की सिद्धि भी नहीं हो पाती है क्योंकि इस हेतु से साध्य का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। 'गेहमन्यदृष्टत्व' से गृह में चैत्र के अभाव का ही ज्ञान होगा तत्पश्चात् चैत्र में बहिरस्तित्व का ज्ञान होगा। पश्चाद्वर्ती ज्ञान का हेतु 'गेहमन्यदृष्टत्व' नहीं हो सकता। यह भी कहना अनुचित है कि गृह में अदर्शन के द्वारा निश्चित चैत्राभाव को ही उक्त अनुमिति का हेतु माना जाय क्योंकि उक्त चैत्राभाव गृह में

---

1. बहिर्देशविशिष्टे वा गेहे वा तद्विशेषिते ।
   प्रमेये योगृहाभाव: पक्षधर्मस्तदा कथम् ।।
   — श्लो० वा० अ० ११
2. तदभावविशिष्टं तु गृहं धर्मो न कस्यचित् ।
   गृहाभावविशिष्टस्तु तदा चैत्रो न प्रतीयते ।।
   — वही १२
   गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्र: प्रतीयते । — वही १३ का पूर्वार्द्ध
3. न चाभावदर्शनं हेतुर्बाभावादे निगद्यते ।। — वही १३ का उत्तरार्द्ध
4. श्लो० वा० अभाव ५०

है चैत्रस्वरूप अथवा बहिर्देशस्वरूप पक्ष में नहीं है । अत: यहाँ भी पक्षधर्मता की अनुपपत्ति होती है ।[1]

किञ्च, अनुमान में पक्ष को पूर्व ज्ञात होना चाहिए । पूर्व में अगृहीत साध्यविशिष्ट पक्ष (धर्मी) की प्रमेयता सिद्ध नहीं होती । प्रकृत में तो (चैत्रविशिष्ट) बाह्यदेश अथवा (बाह्यदेशविशिष्ट) चैत्र पूर्व में अज्ञात है अत: प्रमेय (साध्यविशिष्ट पक्ष) नहीं हो सकते ।[2]

(२) <u>व्याप्ति की अनुपपत्ति</u> — अर्थापत्ति का अनुमान से इसलिए भी पार्थक्य है क्योंकि जिस समय अर्थापत्ति प्रमाण से गृहाभाव द्वारा बहिर्भाव कल्पित होता है उसके बाद ही गृहाभाव तथा बहिर्भाव में अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति गृहीत होती है । अर्थापत्ति प्रमाण की परिणति के पूर्व व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है अत: गृहाभाव तथा बहिर्भाव में यदि व्याप्ति हो तो भी व्याप्ति के गृहीत न होने के कारण अर्थापत्ति प्रमा में वह अनुपयोगी होती है । इसी कारण व्याप्ति-ज्ञान की अर्थापत्ति में कारणता नहीं होती है अत: अर्थापत्ति अनुमिति से भिन्न है । किञ्च, गृहाभाव तथा बहिर्भाव के मध्य व्याप्ति का ज्ञान जिसे नहीं भी रहता है उसे भी गृहाभाव के द्वारा बहिर्भाव की कल्पना होती है ।[3] गृहाभाव तथा बहिर्भाव

---

१. तेन देशान्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते ।
   अपक्षधर्मत्वं च प्रमेयस्यावधारिते ।। - श्लो० वा० अ० १४
   बहिर्भावविभक्तितो देशात्पक्षहेतुता ।
   देशाभावस्य हेतुत्वं गेहेऽभावस्य दर्शित: ।। - वही १५
२. पूर्वं न चागृहीतस्य धर्मिण: स्यात् प्रमेयता ।
   न चात्र बाह्यदेशो वा चैत्रो वा गृह्यते पुरा ।। - वही १६
३. अविनाभाविता चात्र तदैव परिकल्प्यते ।
   न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ।। - वही ३०
   गृहाभावबहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगत: । - वही ३१ पूर्वार्द्ध
   अपि च, अत: प्रागर्थापत्ते: अन्यथाविनाभावोऽनवगतत्वान्नानुमानस्य कारणं भवतीति । - न्या० र०, पृ० ३२५

के नियत साहित्यस्वरूप जिस व्याप्ति का उल्लेख किया गया है वह व्याप्ति भी अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही गृहीत होती है । इसी अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति) से एक के ज्ञान से (जीवी व्यक्ति का गृह में अभाव के ज्ञान से) अन्य का (उसकी बाह्यस्थिति का) ज्ञान होता है । यदि एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान कल्पित न हो तब तो उनमें व्याप्ति भी नहीं हो सकती । अतएव व्याप्तिसम्बन्ध के ग्रहण स्थल में दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान (बहिर्भाव ज्ञान) अर्थापत्ति के द्वारा ही ज्ञात होता है तत्पश्चात् अनुमान की प्रक्रिया सम्भव हो सकती है ।[1] अर्थात्, नियतसाहित्यस्वरूप व्याप्तिसम्बन्ध के जो गृहाभाव तथा बहिर्भाव स्वरूप दो सम्बन्धी हैं उनमें से बहिर्भावस्वरूप एक सम्बन्धी का ज्ञान नियमत: अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है । अतएव अर्थापत्ति के द्वारा बहिर्भाव के गृहीत होने के पश्चात् गृहाभाव के साथ उसकी व्याप्ति गृहीत होती है । तत्पश्चात् जो गृहाभाव से बहिर्भाव का ज्ञान होता है उसे अनुमिति भले ही कहा जाय, किन्तु बहिर्भाव का वह प्राथमिक ज्ञान तो अर्थापत्ति प्रमाणस्वरूप ही होता है ।

यहाँ पूर्वपक्षी का यह आक्षेप हो सकता है कि व्याप्ति सदैव अर्थापत्तिप्रमाणमूलक नहीं होती है क्योंकि गृहाभाव तथा बहिर्भाव का व्याप्तिज्ञान गृह द्वार पर स्थित उस पुरुष को जो चैत्र को गृह के बाहर देखता है, हो सकता है । गृह द्वार पर स्थित जो पुरुष चैत्र को घर के बाहर देखता है उसे भी जिस समय चैत्र एक स्थान पर रहता है (गृह के बाहर) उस समय दूसरे स्थान पर नहीं रहता है (गृहादि में) इसके आधार पर अन्य समस्त स्थलों में चैत्र की अविद्यमानता का अनुमान नहीं किया जा सकता है क्योंकि हेतु रूप बहिर्भाव की 'एकदेश

---

१. साहित्येऽपि प्रमाणं च तयोरन्यन्न विद्यते ।।
अन्यथानुपपत्त्यैव त्वेकेनान्यत् प्रतीयते ।
— वही(श्लो० वा० अ० ३१)
तदा न कल्प्यते तस्मिन् साहित्यं न प्रतीयते ।। — वही ३२
तेन सम्बन्धवेलायां सम्बन्ध्यन्तरतो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यावगन्तव्य: पश्चादस्त्वनुमानता ।।
— वही ३३

में अनस्तित्व (गृहाभाव) के साथ व्याप्ति ही नहीं हो सकती ।[1] एकदेश में अस्तित्व तथा अन्य स्थलों पर अस्तित्व के सम्बन्ध का ज्ञान अनुभवात्मक भी नहीं हो सकता क्योंकि चैत्राभाव का ज्ञान उसी स्थान पर हो सकता है जहाँ जाने पर उसका अनस्तित्व उपलब्ध होता है, और इस प्रकार की स्थिति बहुत कम ही होती है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि किसी स्थान पर अविद्यमानता का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है उसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से अप्रयत्नसाध्य (बिना विशेष प्रयत्न के ही) एकदेशस्थ की दूरस्थ देशों में अविद्यमानता सिद्ध हो जाती है ।[2] अत: अर्थापत्तिप्रमाणमूलक व्याप्ति की मान्यता अनुचित है । कुमारिल समाधानार्थ कहते हैं कि अनुपलब्धि से भी अन्य सभी स्थानों में चैत्र के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि दूरस्थ देशों में गमन न होने के कारण इस प्रकार का अभाव अन्य दूरस्थ विद्यमान वस्तुओं में भी होने लगेगा अनुपलब्धि प्रमाण से चैत्राभाव का ज्ञान तभी हो सकता है जब कोई एक स्थल से अन्य स्थलों पर जाय । विभिन्न स्थानों पर जा-जाकर उस वस्तु के अनस्तित्व को प्राप्त करने पर तथा ज्ञान के अन्य कारण (प्रमाण) की अनुपस्थिति से उस स्थल पर उसके अभाव का निर्धारण होता है ।[3] यहाँ पूर्वपक्षी का यह आक्षेप हो सकता है कि अभाव का ज्ञान केवल अनुपलब्धि से नहीं होता वरन् वस्तु के अधिकरणीभूत स्थलों में गमनोपरान्त ही वस्तु की अनुपलब्धि होगी एवं इस अनुपलब्धि से ही इन अधिकरणों में

---

1. गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भावं प्रकल्पयेत् ।
   यदेकस्मिन्नयं देशे न तदान्यत्र विद्यते ।। - श्लो० वा० अ० ३४
   तदान्याविद्यमानत्वं न सर्वत्र प्रतीयते ।
   न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिस्तेनोऽभिविष्यति ।। - वही ३५
2. अन्यत्राविद्यमानत्वं मन्यसेऽनुपलब्धितः ।
   सा चाप्रयत्नसाध्यत्वादेकस्थस्यैव सिध्यति ।। - वही ३६
3. गेहानुपलम्भनाद् यस्त्वभाव: प्रतीयते । - वही ३७
   अदेशगमनाद् वा किं दूरस्थेष्वस्ति वस्त्वपि ।।
   गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
   तदा न्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ।। - वही ३८

वस्तु के अभाव की सिद्धि होगी तब तो वह्नि के अभाव वाले सभी स्थलों पर किसी का जाना ही सम्भव नहीं है अतएव "जहाँ-जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है"।[1] इसप्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी सिद्ध न हो सकेगी। इसका समाधान कुमारिल ने इस प्रकार किया है कि जिनके मत में अनुमान का प्रमेय 'वस्त्वन्तराभाव' (विपक्ष) है अर्थात् जो लोग सभी विपक्षों में हेत्वभाव के पश्चात् व्यतिरेकमूलक अनुमान करते हैं उनके मत में उक्त दोष अवश्यमेव सिद्ध होता है किन्तु हमारे (मीमांसकों) के मत में तो दो-चार स्थानों में ही वह्निके अभाव के साथ धूम को न देखकर ही सहचारी वह्नि के अभाव का ज्ञान होना पर्याप्त है।[2] अर्थात् भाट्ट मत में तो दो चार स्थानों में ही वह्नि के साथ धूम के साहचर्य दर्शन के पश्चात् ही अन्वय व्याप्ति गृहीत होती है और इसी प्रकार विपक्ष में वह्नि के अभाव से धूमाभाव भी गृहीत होता है। अतएव व्यतिरेक व्याप्ति के लिए समस्त साध्यों का अभाव तथा समस्त धर्मों के अभाव का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। इस पर यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि इसी प्रकार गृहस्थित चैत्राभाव तथा बहिर्भूत चैत्रभाव – इन दोनों में व्याप्ति गृहीत हो सकती है। इस प्रकार, अनुपलब्धि[3] से ही इसके गृहीत होने पर व्याप्ति को अर्थापत्तिमूलक मानना असंगत है। अर्थात् दो चार स्थलों से ही वह्नि तथा धूम के मध्य व्याप्ति गृहीत हो सकती है तब तो गेह के गृहाभाव से बहिर्भूति में चैत्राभाव के दर्शन रूप व्याप्ति भी एक स्थल में दृष्ट होने पर गृहीत हो जायगी। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्तियों के एक स्थल में दर्शनमात्र से गृहीत हो जाने पर अनुमान प्रमाण की स्थिति ही सिद्ध होती है। अतः अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व की आवश्यकता ही

---

1. ननु चान्यत्रगताऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम् ।
   सर्वत्रागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिध्यति ॥

   – श्लो० वा० अं० ३६

2. यस्य वस्त्वन्तराभावः प्रमेयस्तस्य दुष्यति।
   मम त्वदृष्टमात्रेण भवतः सहचारिणः ॥ – वही ४०

3. अन्येषामितरेणापि सम्बन्धो गृह्यतामितः ।
   चैत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥

   – वही ४१

नहीं होगी। इस आक्षेप का उत्तर कुमारिल ने इस प्रकार दिया है कि वह्नि-धूम तथा चैत्र के बहिर्भाव तथा गृहगृहि भाव -- इन दोनों में समानता ही नहीं है क्योंकि वह्नि तथा धूम के अधिकरण परिमित हैं (मितदेशत्वात्) उनका सम्बन्ध (साहित्य) भी प्रसिद्ध है। इसके विपरीत, एक स्थल में अस्तित्व से अन्य सभी स्थलों में अनस्तित्व की व्याप्ति[1] माने तब तो अन्य स्थलों में अनस्तित्व का विस्तार अपरिमित (अनन्त) होगा। अतएव यद्यपि `एक देश में अस्तित्व` का ज्ञान एक ही बार होने तथा `अन्य देशों में अनस्तित्व` ज्ञान के अनन्त होने से भाव तथा अभाव के मध्य सम्बन्ध ही नहीं गृहीत हो सकता अतएव व्याप्ति ही नहीं बन पाती है। अर्थात् प्रकृत में साहित्य (सम्बन्ध) भाव तथा अभाव रूप सम्बन्धियों का है (जिसमें एकदेशस्थ अस्तित्व `रूप सम्बन्धी भावरूप है तथा `अन्यदेशस्थ अनस्तित्व` रूप सम्बन्धी अभावरूप है)। इनमें से भावपदार्थ के देशकाल परिमित होने से ग्राह्य है तथा अभाव अनन्तदेशवर्ती होने से अग्राह्य हो[2] जाते हैं अतएव साहित्य के अग्रहण से व्याप्ति ही नहीं गृहीत हो पाती।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अनुमान द्वारा चैत्र के अनस्तित्व का ज्ञान हो सकता है। जैसे --

प्रतिज्ञा -- अन्य देशों में भी चैत्राभाव है।

हेतु -- ये देश भी चैत्राधिष्ठित देश से भिन्न हैं

उदाहरण -- चैत्राधिष्ठित देश के समीपस्थ देश में चैत्राभाव के समान।[3]

---

1 साहित्ये मितदेशत्वात् प्रसिद्धे वह्निधूमयोः।
व्यतिरेकस्य तादृग्भिर्नैकत्वं प्रकल्प्यते ॥ -श्लो० वा० अ० ५२
इह साहित्यमेकैकस्य सभावतः।
अनन्तदेशवर्तित्वान्न तावदुपलभ्यते ॥ - वही ५३

2. इह भावः परिमितदेशकालत्वात्सुलभो गृहीतुम्, अभावस्त्वनन्तदेशवर्ती न कथञ्चिद् ग्रहीतुं शक्यते, अतः साहित्यस्यैवाग्रहणात् नियमो दुरापास्त इति।
- न्या० र० पृ० ३२७

3. ननु देशान्तरं शून्यं चैत्रेणेति प्रतीयते।
तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत् ॥

(देशान्तराणि वेदशून्यानि तत्संयुक्तदेशव्यतिरिक्तत्वात्) कुमारिल का कथन है कि उपर्युक्त अनुमानविधि अनुपपन्न है क्योंकि इसी रीति से उक्त देशान्तरों में वेदसंयुक्तत्व का भी अनुमान किया जा सकता है । अर्थात् वेदसंयुक्तत्व के पक्ष में इस प्रकार से अनुमान सम्भव है --

प्रतिज्ञा -- अन्य देश वेदसंयुक्त हैं

हेतु -- वेदाधिष्ठित देश के समीप देश[1] से भिन्न देश होने के कारण ।

उदाहरण-- वेदाधिष्ठित देश के समान ।

(देशान्तरं वेदयुक्तं तत्समीप देशव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवत्)

इस प्रकार, एकदेशस्थ वेद का अन्य समस्त स्थलों में अभाव ज्ञान न तो अनुपलब्धि से ही हो सकता है और न ही अनुमान से; क्योंकि अनुमान के लिए व्याप्ति की आवश्यकता है और एकदेशस्थ अस्तित्व से अन्यदेशस्थ अनस्तित्व की अवधारणा के रूप में व्याप्ति की गृहीत नहीं हो पाती । तब एकदेशस्थ वेद का अस्तित्व तथा अन्य देशों में उसके अभाव का ज्ञान एक साथ कैसे सम्भव है ? कुमारिल का कथन है कि इसका ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा ही हो सकता है । उनके मत में एक स्थान पर सम्पूर्ण मनुष्य की प्राप्ति होती है- यह तब तक सुनिश्चित नहीं हो सकता है, जब तक यह कल्पित न किया जाय कि वह अन्य स्थलों में नहीं रहता है,[2] इसी प्रकार उसके सभी स्थलों में अभाव का ग्रहण अर्थापत्ति पर आधारित है ।

कुमारिल ने पक्षधर्मता की अनुपपत्ति तथा व्याप्ति की अनुपपत्ति दिखाकर अनुमान से पृथकता सिद्ध की है ।

(२) <u>अन्वय व्याप्ति का अभाव --</u> अर्थापत्ति का अन्वयी अनुमान में भी अन्तर्भाव

---

१. विरुद्धाव्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते ।
समीपदेशभिन्नत्वात् वेदाधिष्ठितदेशवत् ।।

- श्लोक वा० अ० ५५

२. पुरुषस्य तु का तस्मिन् सर्वेकत्वोपलम्भनम् ।
तस्यान्यथा न सिद्धिः स्यादित्यन्यत्रास्य नास्तिता ।।

- वही ५६

नहीं हो सकता क्योंकि अन्वय व्याप्ति का ज्ञान ही नहीं हो पाता ।[1] जहाँ-जहाँ पीनत्व है वहाँ-वहाँ रात्रिभोजन है '-- ऐसी अन्वय व्याप्ति अनुपपन्न है । प्रत्युत 'जो पीन होता है वह भोजनवान्' होता है इस प्रकार भोजन तथा 'पीनत्व' में व्याप्ति गृहीत होती है किन्तु 'रात्रिभोजन' तथा 'पीनत्व' में व्याप्ति ही नहीं गृहीत होती। अतएव अन्वयी अनुमान में इस अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है ।

(४) व्यतिरेक व्याप्ति का अभाव -- 'जो-जो रात्रिभोजनाभाववान् होता है वह दिन में बिना भोजन किए पीनत्वाभाववान् होता है जैसे घट' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति को अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है क्योंकि धर्मराज ने व्यतिरेकी अनुमान को अस्वीकार किया है ।[2]

धर्मराज ने उक्त दो कारणों से अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं माना है । अर्थापत्ति का पृथक् प्रामाण्य अनुभव के आधार पर भी सिद्ध होता है । अर्थापत्ति से जो रात्रिभोजन का ज्ञान होता है उसको यदि अनुमानप्रमाणजन्य माना जाय तब तो 'रात्रिभोजन का अनुमान करता हूँ '-- ऐसा अनुव्यवसाय होता है । किन्तु दिवाऽभुञ्जान पुरुष के पीनत्व से उसके 'रात्रिभोजन की कल्पना करता हूँ ' -- इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाणजन्य ज्ञान का ही अनुभव होता है तथा वैसा ही अनुव्यवसाय होता है ।[3] इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाणजन्य ज्ञान का ही अनुभव का अनुमान से भेद है - यह मत पुष्ट हुआ ।

§ ५ नैयायिकाभिमत व्यतिरेकी अनुमान का अर्थापत्ति में अन्तर्भाव --

नैयायिकों ने जिसे व्यतिरेकी अनुमान बतलाया है वेदान्त-

---

१. अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात् । - वे० प०, पृ० २८४

२. व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम् ।- वे०,प०, पृ० २८४

३. अनुमित्यार्थापत्तिरूपो(?) भुङ्क्ते इति नानुव्यवसायः, किन्तु अनेनेदं कल्पयामीति ।

- वे० प०, पृ० २८४

परिभाषाकार स्वाभिमत से उसका अन्तर्भाव अर्थापत्ति में करते हैं। नैयायिकों के व्यतिरेकी अनुमान का प्रसिद्ध उदाहरण है --

प्रतिज्ञा - पृथ्वी, इतर (अन्य) से भिन्न है

हेतु - गन्धवत्व के कारण

उदाहरण- जो इतर से भिन्न नहीं रहता, वह गन्धवत् भी नहीं रहता जैसे घट।

यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति 'जो इतर से भिन्न नहीं रहता, वह गन्धवत् भी नहीं रहता' के आधार पर अनुमान दिखाया गया है किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार के मत में साध्य के अभाव में साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान का साधन के द्वारा साध्य की अनुमिति कर्तव्य होने पर कोई उपयोग नहीं है।[1] अतः अनुमान केवल अन्वयीरूप ही होता है।[2] वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति के समस्त उदाहरण अर्थापत्ति के ही उदाहरण हैं। अतएव अर्थापत्ति से व्यतिरेकी अनुमान की पृथकता असिद्ध है। पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है - आदि स्थलों में इतरभेद के बिना गन्धवत्व अनुपपन्न है अतः 'गंध' ही यहाँ उपपाद (कारण) हुआ। इतरभेद के अभाव का व्यापक जो गन्धाभाव है उसका प्रतियोगी गन्ध है। जल में इतरभेद नहीं होता अतः वहाँ गन्ध भी नहीं रहता। इसलिए इतरभेद-ज्ञान अर्थापत्ति ही है। अतएव 'पृथिवी इतरभेद वाली है' इत्यादि स्थल में पृथिवी में गन्धवत्व इतरभेद के बिना अनुपपन्न है। इसी ज्ञान को इतरभेद कल्पना का करण मानते हैं। अतएव पृथिवी में इतरभेद की मैं कल्पना करता हूँ ऐसा अनुव्यवसाय भी होता है।[3]

वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। नैयायिकाभिमत अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव खण्डित किया गया है।

---

१. साध्याभावे साधनाऽभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। - वे० प०, पृ० १७२

२. तस्मादनुमानमन्वयिरूपमेव। - वे० प०, पृ० १७४

३. अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किन्तु अनेनेदं कल्पयामीति,

सप्तम अध्याय

अनुपलब्धि प्रमाण

७.१ अभाव का स्वरूप

७.२ अनुपलब्धि की परिभाषा

७.२.१ योग्यानुपलब्धि

७.३ अभावग्रहण में इन्द्रियों का असामर्थ्य

७.४ अभावग्रहण में अनुमान प्रमाण का असामर्थ्य

७.५ अनुपलब्धि के पृथक् प्रामाणत्व पर विचार

७.६ अभाव के प्रभेद : अभाव के भेद

७.६.१ प्रागभाव

७.६.२ प्रध्वंसाभाव

७.६.३ अत्यन्ताभाव

७.६.४ अन्योन्याभाव

७.७ अभाव भी प्रमेय है ।

अनुपलब्धि प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति - ये पाँच प्रमाण भाव पदार्थ के ही ग्राहक हैं, अभाव के नहीं। अभाव का प्रमेयत्व अशङ्कनीय है क्योंकि 'भूतल पर घट नहीं है', 'यह पुष्प सुगन्धयुक्त नहीं है', 'यह अश्व गो नहीं है' — इत्याकारक प्रतीतियाँ सभी को होती हैं। यही कारण है कि वेदान्त तथा भाट्ट मीमांसा दोनों ही सिद्धान्तों में अभाव के ग्रहणार्थ 'अनुपलब्धि' के पृथक् प्रमाणत्व को स्वीकार किया गया है जिससे दोनों ही मतों में षट् प्रमाणों की सिद्धि होती है।

७.१ अभाव का स्वरूप—

भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती अभाव को अधिष्ठान से भिन्न मानते हैं जबकि प्राभाकर मीमांसक अधिकरण से अतिरिक्त अभाव को नहीं मानते। उनके मत में यदि घट का अभाव गृह में है तो वह गृहरूप ही है, अतः अनुपलब्धि नामक प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता ही नहीं है। सांख्य दर्शन में भी अभाव को अधिकरणरूप ही माना गया है। सांख्य मत में भूतलनिष्ठ घटाभाव घट की भाँति भूतल का परिणामविशेष ही है। अन्तर केवल यही है कि जहाँ घट भूतल से भिन्न आकार का है वहाँ घटाभाव भूतलाकार का अर्थात् उससे अभिन्न ही है। भूतल में विद्यमान होने पर भी घट उसका दूसरा धर्म है जिसे 'सद्वितीय धर्म' कहा जाता है, जबकि घटाभाव हो जाने पर वह घटाभाव भूतल से अभिन्न ही है जिसे 'अद्वितीय धर्म' कहा जाता है। इस प्रकार, घट का अभाव भूतल के घटरहितत्वरूप परिणामविशेष से भिन्न कोई पृथक् वस्तु नहीं है।[१] सांख्य मतानुसार अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण ही है क्योंकि घटाभाव के भूतलरूप होने के कारण भूतल के साथ

---

१. न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम।

— सां० त० कौ०, पृ० १३१

नेत्रेन्द्रिय के जिस सन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष होता है उसी सन्निकर्ष से तन्निष्ठ घटाभाव का भी प्रत्यक्ष होगा। अतः अतिरिक्त सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । अभाव को भिन्न पदार्थ मानने के कारण ही उसके प्रत्यक्ष में न्याय-वैशेषिक को संयोग के अतिरिक्त विशेषण-विशेष्यभाव नामक एक अभिनव सन्निकर्ष मानना पड़ता है ।[1] घटरहितत्वरूप भूतल का परिणामविशेष इन्द्रियग्राह्य है, अतः प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला 'अभाव' नामक कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है जिसके ज्ञान के लिए 'अभाव' (अनुपलब्धि) नामक पृथक् प्रमाण माना जाय ।[2] अतः अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, उससे भिन्न नहीं ।

प्राभाकर मत में अभाव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है प्रत्युत वह आधार-स्वरूप ही है । भूतल में घटाभाव की प्रतीति होने पर भूतल में घट का न होना केवल-स्वरूप होता है । अतएव भूतल का 'कैवल्य' ही घटाभाव का स्वरूप है । भूतल के कैवल्य (केवलस्वरूप) से भिन्न घटाभाव कोई पृथक् वस्तु नहीं है । प्राभाकर मत में अभाव को आधारस्वरूप मानने में ही लाघव है क्योंकि अधिष्ठान तो पूर्वस्वीकृत ही है । उक्त मत के खण्डनार्थ न्याय-वैशेषिक तीन युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं :—

(१) न्याय-वैशेषिकसिद्धान्तानुसार अनन्त आधारों के स्वरूप को ही अभाव मानने की अपेक्षा एक अलग पदार्थ (अभाव) को मान लेने में ही लाघव है ।[3] अर्थात् नैयायिकसम्मत 'घटाभाव' नामक नित्य पदार्थ के स्थान पर अनन्त आधारों के स्वरूप, को मानना गौरवयुक्त है क्योंकि 'भूतल में घटाभाव' भूतलस्वरूप होगा तथा 'पर्वत में घटाभाव' पर्वतस्वरूप होगा - इस प्रकार अनन्त आधारों की कल्पना करनी होगी ।

---

१. 'सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा' - पृ० १३१ प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ।

२. स च परिणामभेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्रा-भावाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति ।
— सां० त० कौ०, पृ० १३१

३. अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनापेक्षयातिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात् ।
— न्या० सि० मु०, पृ० ७४

(२) इसके अतिरिक्त, 'भूतल में घटाभाव' — यहाँ आधार-आधेयभाव की स्पष्ट प्रतीति होती है जिसमें घटाभाव आधेय है तथा भूतल आधार है । किन्तु, घटाभाव को भूतलस्वरूप मान लेने पर तो आधार तथा आधेय की पृथक्-पृथक् प्रतीति ही न हो सकेगी ।[1]

(३) न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में यह मान्यता है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु की प्रतीति होती है उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के अभाव का ग्रहण होता है । इस प्रकार, प्रतियोगी तथा उसके अभाव का ग्रहण एक ही इन्द्रिय से होता है । श्रोत्रेन्द्रिय से यदि शब्द का ग्रहण होता है तो श्रोत्रेन्द्रिय से ही शब्द के अभाव का भी ग्रहण होता है ; नेत्र से रूप का ग्रहण होता है अत: नेत्र से ही रूप के अभाव का भी ग्रहण होगा । वायु में रूपाभाव चक्षु से गृहीत होता है किन्तु प्राभाकर मत की भाँति यदि अभाव को आधारस्वरूप माना जाय तब तो रूपाभाव का प्रत्यक्ष नेत्र से नहीं हो सकेगा क्योंकि 'वायु में रूपाभाव' —यहाँ अभाव का आधार वायु है और यदि रूपाभाव वायुस्वरूप ही है तो वायु चक्षु से कैसे गृहीत हो सकता है ? उसका ग्रहण तो त्वचा से होता है । इस प्रकार, अभाव को यदि पृथक् पदार्थ न मानकर आधारस्वरूप मान लिया जाय तो अभाव की प्रतीति उस इन्द्रिय से न हो सकेगी जिससे उसका प्रतियोगी गृहीत होता है ।[2] अत:, अभाव को आधारस्वरूप नहीं माना जा सकता है ।

नैयायिकों ने प्राभाकर मत का खण्डन करके अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सिद्धि की है । अभाव के किसी पदार्थ में रहने के विषय में न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि अभाव अपने आधार में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, जैसे - घटाभाव भूतल में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है अर्थात् भूतलस्वरूप है । इस प्रकार, अनन्त आधारों

---

१. एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते ।

— न्या० सि० मु०, पृ० ७७

२. एवं च तत्तदिन्द्रियसम्बन्धात्तदभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते । अन्यथा तत्तदधिकरणानां तदिन्द्रियाग्राह्यत्वात्तदप्रत्यक्षत्वं स्यात् ।

— न्या० सि० मु०, पृ० ७७

के होने से अभाव का स्वरूप भी अनन्त है । स्वरूप सम्बन्ध से रहने का अर्थ है कि घटाभाव भूतल का विशेषण है । भूतल के इन्द्रिय से संयुक्त होने के कारण तथा 'अभाव' के विशेषण होने के कारण भूतल का नेत्रेन्द्रिय के साथ 'संयुक्तविशेषणता' नामक सन्निकर्ष हुआ । इस प्रकार, न्याय-वैशेषिक मत में अभाव पदार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही माना गया है जिसमें 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष माध्यम बनता है ।

भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती अभाव को अधिकरणस्वरूप न मानकर अधिष्ठान से अतिरिक्त तत्त्व मानते हैं । कुमारिल के अनुसार सभी वस्तुएं सद्रूप तथा असद्रूप से दो स्वरूपों वाली हैं ।[1] घट अपने घटस्वरूप से 'सत्' है तथा वही घट पटस्वरूप से असत् है । घट के भूतल में रहने पर वह घट सत्त्व की प्रतीति को उत्पन्न करता है, एवं भूतल से अन्यत्र वही घट असद्रूप से घटाभाव की प्रतीति को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार एक वस्तु में अन्य वस्तु कभी अपने स्वरूप के द्वारा प्रतीत होती है तथा कभी पररूप के द्वारा प्रतीत होती है । पररूप के द्वारा प्रतीत होने पर ही उसकी प्रतीति उस वस्तु के अभाव की प्रतीति कहलाती है । जिस समय वस्तुओं के इन दोनों रूपों में से जो रूप 'उद्भूत' रहता है अथवा जिस रूप से वस्तु को जानने की इच्छा रहती है उसी रूप से उस वस्तु का ज्ञान होता है एवं उसी रूप से वस्तु का 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' यह व्यवहार होता है । इसका कारण यह है कि तत्काल वस्तुओं का उद्भूत रूप ही प्रतीति में सहायक होता है किन्तु उस समय उसका 'दूसरा' अर्थात् 'अनुद्भूत' रूप भी विद्यमान होता है । अथवा सद्रूप तथा असद्रूप दोनों में से एक रूप के ग्रहण में भी दूसरे रूप की अनुवृत्ति बनी रहती है ।[2]

---

1. सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपम्, यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेणासन् ..... । — न्या० र० पृ० ११८

2. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद् रूपं किञ्चित् कदाचन ।। — श्लो० वा० अभाव 12
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा वोपजायते ।
वेद्यते तदनुभूतस्य तेन न व्यपदिश्यते ।। — वही 13

किसी भाव पदार्थ का जो 'अयमेव' इत्याकारक निर्णयात्मक ज्ञान होता है वह दूसरी वस्तु के अभाव-विषयक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। सद्विषयक सभी निर्णय अभावविषयक भले ही न हों किन्तु अभावविषयक 'नास्ति' इत्याकारक समस्त प्रतीतियाँ भावविषयक होतीं हैं क्योंकि अभावविषयक समस्त प्रतीतियाँ 'इदमिह नास्ति' इस रूप की होतीं हैं जिनमें भाव पदार्थ भी भासित होते हैं। किसी भी अभाव की प्रतीति भाव सम्बन्ध के बिना नहीं होती है। अतएव सभी वस्तुएँ सद्रूप तथा असद्रूप दोनों ही हैं। जिस समय प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अभाव प्रमाण' असदंश के प्रकाशनार्थ प्रयुक्त होता है तत्समय भाव के ज्ञापन प्रत्यक्षादि प्रमाण वस्तुओं के भावांश को प्रकाशित करने के लिए नहीं प्रयुक्त होते।[1] वेदान्तपरिभाषा में अभाव के स्वरूप पर पृथक् रूप से[2] प्रकाश नहीं डाला गया है। वेदान्तसिद्धान्त में उपर्युक्त भाट्ट मत ही स्वीकृत है।

७.२ अनुपलब्धि की परिभाषा :-

जैमिनि सूत्रों के भाष्यकर्ता शबरस्वामी का कथन है कि अभाव प्रमाण वहाँ होता है जहाँ 'प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा योग्य वस्तु का अभाव हो। इन्द्रिय के सम्पर्क में जो वस्तु न आए उस वस्तु के विषय में 'यह नहीं है' इत्याकारक ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।'[3] कुमारिल ने इसका स्पष्टीकरण करते

---

१. अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमाद् ऋते ॥ - श्लो० वा० अभाव १५
नास्तीत्यपि च संवित्तिर्वस्त्वनुगमाद् ऋते ।
ज्ञानं न जायते किञ्चिदनुपष्टम्भवर्जितम् ॥ - वही १६
प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥ - वही १७

२. व्यवहारे भट्टनयः । - वे० प० सं० पृ० १६

३. अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य ।
- शा० भा० पृ० ३०

हुए लिखा है 'वस्तु की सत्ता के अवबोधनार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जहाँ वस्तु रूप का ज्ञान नहीं होता वहाँ अभाव की प्रमाणता सिद्ध होती है।'[1] अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जब किसी वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती है तब अभाव प्रमाण के द्वारा वस्तु के न होने का ज्ञान होता है। यह ज्ञान जिस साधन से होता है उसे ही अनुपलब्धि प्रमाण (अभाव प्रमाण) कहते हैं। इसी अनुपलब्धि प्रमाण को वेदान्तपरिभाषाकार ने और भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, ज्ञान रूप करण से अजन्य जो अभाव का अनुभव है उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धिरूप प्रमाण कहते हैं।[2] अनुमिति प्रमा में व्याप्तिज्ञान, उपमिति प्रमा में सादृश्यज्ञान तथा शाब्दी प्रमा में तात्पर्यादि से विशिष्ट शब्दज्ञान, अर्थापत्ति प्रमा में उपपाद्यज्ञान करण होता है परन्तु अभाव प्रमा ज्ञानकरण से अजन्य है। अभाव का अनुभव प्रत्यक्षज्ञान से भी नहीं होता है, इसीलिए इसको ज्ञानकरणाजन्य माना गया है। इसी ज्ञानकरणाजन्य अभावप्रमा के अनुभव में असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है।

अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में प्रयुक्त 'ज्ञानकरणाजन्य', 'अभाव', 'अनुभव' तथा 'असाधारण कारण' — इन चारों का प्रयोजन भी निर्दिष्ट है। यदि अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण 'अभावानुभव असाधारण कारण' किया जाय तथा 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण न दिया जाय तो अतीन्द्रिय अभाव प्रमा के कारण अनुमान में इसकी अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का अनुभव अनुमान से ही होता है।[3] अतीन्द्रिय अभाव के ज्ञान में अनुमान प्रमाण के

---

1. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
   वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥
   — श्लो० वा० अभाव १
2. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम् ।
   — वे० प० पृ० २८८
3. अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय
   असाधारणेति पदम् ।
   — वे० प० पृ० २८८

कारण होने का उदाहरण प्रस्तुत है — किसी भी व्यक्ति को दु:खी देखकर यह अनुमान किया जाता है कि 'यह धर्माभाववान् है : क्योंकि यह दु:खी है ।' यहाँ पर उसके धर्माभाव का प्रत्यक्ष तो होता नहीं है क्योंकि धर्मादि पदार्थों के अतीन्द्रिय होने से उनका अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है । यही अतीन्द्रियविषयक अनुमिति है । उक्त अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में ज्ञानकरणाजन्य विशेषण न देने पर अतीन्द्रिय वस्तु-धर्मादि के अभावानुभव के असाधारण कारण अनुमान में अतिव्याप्ति होगी । इसी के वारणार्थ 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण दिया गया है क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु के अभावानुभव व्याप्तिज्ञानकरण से जन्य हैं, अजन्य नहीं । अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में 'अभाव' पद को सम्मिलित न करने पर भाव पदार्थ के अनुभव के कारण चक्षुरादि में अतिव्याप्ति हो जाएगी[1] क्योंकि भाव पदार्थों के अनुभव का असाधारण कारण चक्षुरादि ही है और उससे होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान में 'ज्ञान' करण नहीं होता है क्योंकि वह तो साक्षात्, अपरोक्ष ज्ञान है (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्), जबकि अनुमानादि प्रमाणों में व्याप्तिज्ञानादि करण होते हैं । यदि अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारणकारण' केवल इतना ही किया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण में उसकी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि घटादि भाव पदार्थ का अनुभव ज्ञानकरण से अजन्य है जिसका असाधारण कारण नेत्रादि प्रमाण हैं । 'अभाव' विशेषण देने पर अतिव्याप्ति नहीं हो पाती क्योंकि घटादि का अनुभव ज्ञानरूप करण से अजन्य होते हुए भी भाव का अनुभव है, अभाव का नहीं । यही कारण है कि 'अभाव' विशेषण देने पर ज्ञानकरणाजन्य अभाव अनुभव के असाधारण कारण अनुपलब्धि की नेत्रादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है । यदि लक्षण में 'असाधारण' पद न दिया जाय तो अदृष्टादि साधारण कारण में अतिव्याप्ति

---

१. भावानुभवकरणे चक्षुरादावतिव्याप्तिवारणाय अभाव पदम् ।

— अर्थदीपिका, पृ० २८८

होने लगेगी[1] क्योंकि देश, काल, ईश्वर, ईश्वरेच्छा, अदृष्टादि भाव तथा अभाव समस्त पदार्थों के साधारण कारण होते हैं । अतः अदृष्टादि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही `असाधारण` पद दिया गया है । अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में `अनुभव` पद के सन्निविष्ट होने का भी प्रयोजन दर्शाया गया है । ज्ञान के दो प्रकार हैं— अनुभव तथा स्मृति । स्मृति का असाधारण कारण संस्कार है । यह स्मृति घट की भी हो सकती है तथा घटाभाव की भी । घटाभाव के अनुभवजन्य संस्कार से घटाभाव की स्मृति होती है । घटाभाव की यह स्मृति ज्ञानकरणाजन्य है क्योंकि इसकी उत्पत्ति संस्कार से होती है । अतः संस्कार से होने वाली घटाभाव की यह स्मृति ज्ञानकरण से अजन्य तो है किन्तु उसका असाधारण कारण संस्कार है, अनुपलब्धि प्रमाण नहीं । यदि अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में `अनुभव` पद न दिया जाय तो अभावस्मृति के असाधारण कारण संस्कार में अतिव्याप्ति हो जाएगी[2] । अतः `अनुभव` पद दिया गया है । स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभव होता है जिसका करण कोई न कोई प्रमाण होता है । यथा— घटानुभव में प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसी प्रकार घटाभावानुभव में अनुपलब्धि प्रमाण है । घटाभाव का अनुभव ज्ञानकरण से अजन्य है जिसका असाधारण कारण `अनुपलब्धि प्रमाण` है । इस प्रकार, अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में समस्त पदों की सार्थकता स्पष्ट है । श्लोकवार्तिक के अनुपलब्धि प्रमाण से सहमत होते हुए वेदान्तपरिभाषाकार ने अनुपलब्धि प्रमाण का स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

७.२.१ योग्यानुपलब्धि —

अनुपलब्धि प्रमाण की विवेचना स्पष्ट कर यह जिज्ञासा होती है कि क्या अभाव का ज्ञान सर्वत्र अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है ? यदि नहीं, तो अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान कब होता है ? कहा जा चुका है कि धर्मा-

---

1. अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम् ।

   — वे० प० पृ० २८८

2. अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम् ।

धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है । अतः वेदान्त मत में क्या विशेषता है जो घटादि अभाव का ज्ञान तो अनुपलब्धि प्रमाण से माना जाता है किन्तु धर्मादि के अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ; क्योंकि दोनों में ज्ञान अभावविषयक ही होता है । घटाभाव की भाँति धर्मादि के अभाव का अनुभव अनुपलब्धि प्रमाण से क्यों नहीं माना जाता है ? इसके समाधानार्थ वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि केवल योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक है[1] । धर्माधर्म की उपलब्धि न होने पर उसके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता है । वेदान्ती अभावप्रमा में प्रतियोग्यानुपलब्धि को अनुपलब्धित्वरूपेण कारण नहीं मानते हैं प्रत्युत योग्यतानुपलब्धित्वरूपेण अनुपलब्धि को अभावानुभव में कारण मानते हैं । अर्थात् 'यदि भूतल में घट होता तो भूतल की भाँति घट की भी उपलब्धि होती । यहाँ घट की उपलब्धि नहीं हो रही है ।' इस प्रकार के विमर्श से अनुपलब्धि की इसी योग्यता के द्वारा अभाव का निश्चय होता है । धर्माधर्म के नेत्रादि से अनुपलभ्य होने के कारण उनमें प्रत्यक्षयोग्यता नहीं होती । इसी अयोग्यता के कारण उनका एवं उनके अभावों का ज्ञान अनुमानादि प्रमाणों से ही सम्भव है । इस प्रकार अभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही है । श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिल भी इसी से सहमत हैं । पार्थसारथि मिश्र का कथन है कि अभाव में दृश्यादर्शन (योग्यानुपलब्धि) ही प्रमाण है, केवल अदर्शन नहीं[2] । भूतलादि आश्रय स्वरूप वस्तु के सद्भाव का इन्द्रियजनित ज्ञान एवं अभाव के घटादि प्रतियोगियों का स्मरण— इन दोनों के साहाय्य से ही उक्त अभावप्रतीति होती है[3] । डॉ॰ गङ्गानाथ झा ने इस वार्तिक

---

1. धर्माधर्मानुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात् ।

— वे० प०, पृ० २६३

2. दृश्यादर्शनमभावे प्रमाणं नादर्शनमात्रम् ।

—न्या० र० पृ० ३४२

3. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात् ॥

— श्लो० वा० अभाव २७

से सम्बन्धित टिप्पणी में अनुपलब्धि ज्ञान की प्रक्रिया को इस प्रकार से समझाया है —(१) आश्रय का नेत्र से प्रत्यक्ष होता है, (२) घट (जो पूर्वदृष्ट है, तथा यदि वह उपस्थित होता तो उसका दर्शन हो सकता था) का (इस रूप से) स्मरण होता है, तत्पश्चात् (३) मानसिक प्रक्रिया के द्वारा घटाभाव का ज्ञान होता है।[१] उक्त तीनों की सहायता से ही अभाव का ज्ञान सम्भव है। आश्रय के गृहीत होने तथा प्रतियोगी घट के स्मृत होने पर ही दृश्यादर्शन की सहायता से मन के द्वारा (मानसिक प्रक्रिया के द्वारा) अभाव का ज्ञान होता है। इस अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय की शक्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए।[२] यदि कोई यह आक्षेप करे की योग्यानुपलब्धि (दृश्यादर्शन) नामक कोई प्रमाण नहीं है— तो इसके उत्तर में वार्तिककार का कथन है कि `स्वरूप` अर्थात् आधारभूत देश को देखकर कोई व्यक्ति पूर्वाधिगत देश का स्मरण करते हुए वहाँ अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करता है।[३] अर्थात् जब कोई व्यक्ति केवल `स्वरूप` को (आधारभूत

---

१. The sense of the reply is that the process may be thus explained :(1) The place is seen by the Eye;(2) the jar (which has been seen before, and which could have been seen if it had been present) is remembered;(3) then there follows a purely mental process which gives rise to the notion of the non-existence of the jar. The qualified notion of such non-existence in a place a can be explained as having been brought about by the collective action of all the aforesaid three processes.

- Slokavartika, translated by G.N. Jha, page no. 247.

२. गृहीते चाश्रये प्रतियोगिनि च स्मृतेऽस्थानीयेन दृश्यादर्शनसहायेन मनसैवाभाव-ज्ञानजन्मोपपत्तेर्नेन्द्रियस्याभावे शक्तिः शक्या कल्पयितुम् ।

- न्या० र० पृ० ३४२

३. स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि ।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते ॥

- श्लो० वा० अभाव २८

देशमात्र को) देखता है, उस देश में व्याघ्रादि हिंसक पशुओं को नहीं देखता है तो व्याघ्रादि प्रतियोगियों का स्मरण सम्भव न होने के कारण उनके अभाव का ग्रहण भी सम्भव नहीं हो पाता । देशमात्र को देखकर आने के बाद यदि कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि `प्रातःकाल आपके वहाँ उपस्थित रहने पर व्याघ्र, गज, सिंह आदि आए थे` तब वह पुरुष उस अधिगत देश का स्मरण करते हुए व्याघ्रादि के अभाव का उसी समय अनुभव करता है जिसका उसे पूर्वानुभव न था[1]। इस प्रकार, व्याघ्रादि के अभाव का ज्ञान वह अनुपलब्धि प्रमाण से करता है ।

श्लोकवार्तिक से साम्य रखते हुए वेदान्तपरिभाषाकार ने भी अभाव के ग्राहक के रूप में योग्यानुपलब्धि को ही स्वीकार किया है । श्लोकवार्तिक में योग्यानुपलब्धि (दृश्यादर्शन) पर पृथक् रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है जबकि वेदान्तपरिभाषा में इसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या है ? योग्यता का निश्चय कैसे होता है ? इन प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है । वेदान्तपरिभाषाकार ने विपक्षी की आशंकाओं को प्रस्तुत करते हुए उचित तर्कों से उनका समाधान भी किया है । उनके अनुसार, पूर्वपक्षी यह आशङ्का कर सकता है कि योग्यानुपलब्धि का विग्रह षष्ठी तत्पुरुष समास के अनुसार `योग्यस्य अनुपलब्धिः`, किया जाय तो `प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि`— यह अर्थ होगा । घटाभाव के सन्दर्भ में तो यह विग्रह उचित ही आभासित होता है क्योंकि घटाभाव का प्रतियोगी है `घट` - जो प्रत्यक्षयोग्य भी है ; अतः उसकी अनुपलब्धि ही योग्यानुपलब्धि हुयी । पूर्वपक्षी का कथन है कि यह विग्रह अधिकांश स्थल पर तो ठीक बैठ सकता है किन्तु `स्तम्भः पिशाचो न` अर्थात् यह स्तम्भ पिशाच नहीं है `इत्याकारक ज्ञान में स्तम्भ में पिशाच के भेद ( अन्योन्याभाव ) का जो ज्ञान वेदान्तियों ने माना है उसमें उपयुक्त नहीं होता क्योंकि `योग्यस्य अनुपलब्धिः` इस विग्रह को मानने पर प्रतियोगी पिशाच को भी प्रत्यक्षयोग्य मानना पड़ेगा जबकि पिशाचादि का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह तो

---

1. द्रष्टव्य न्या० र० पृ० ३४३

सिद्ध ही है। अतएव पूर्वपक्षी का कथन है कि वेदान्ती यदि षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार विग्रह करते हैं तो उनकी परिभाषा अव्याप्त हो जाती है (क्योंकि विग्रहानुसार पिशाच का प्रत्यक्ष होना चाहिए जो कि नहीं होता है)। इस प्रकार योग्यानुपलब्धि का षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार विग्रह अनुपयुक्त है अतः योग्यानुपलब्धि नामक कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वपक्षी का कथन है कि वेदान्ती इस अनुपपत्ति से बचने के लिए योग्यानुपलब्धि का यदि 'योग्ये अनुपलब्धिः' रूप सप्तमी तत्पुरुष के अनुसार विग्रह करें और पूर्व उत्थापित दोष का समाधान करने के लिए 'प्रत्यक्ष योग्य अधिकरण में अनुपलब्धि' — यह अर्थ लें तो यह विग्रह पिशाचादि के उदाहरण में तो उपयुक्त है क्योंकि स्तम्भरूप अधिकरण तो प्रत्यक्ष-योग्य है ही, प्रतियोगी के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष के विषय में कोई आग्रह नहीं है। किन्तु, पूर्वपक्षी के अनुसार यह विग्रह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञान होने लगेगा क्योंकि आत्मारूप अधिकरण (जहाँ धर्माधर्म आदि का अभाव अनुमित है) प्रत्यक्षयोग्य तो है ही ; जबकि आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का ज्ञान सदैव अनुमान प्रमाण से होता है, अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं।[1] पूर्वपक्षी के मतानुसार उक्त दोनों ही विग्रहों में क्रमशः अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष आते हैं अतः योग्यानुपलब्धि नामक प्रमाण की सत्ता में शंका होती है। पूर्वपक्षी की ओर से उठाये जा सकने वाले उक्त आक्षेपों को ध्यान में रखते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि तत्पुरुष के अनुसार योग्यानुपलब्धि का विग्रह करना वेदान्त सिद्धान्त में अमान्य है। उन्होंने इसमें कर्मधारय समास बतलाया है जिसके अनुसार ही इसका विग्रह भी

---

१. ननु केयं योग्यानुपलब्धिः? किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरुत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः? नाद्यः; स्तम्भे पिशाचादि-भेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तेरिति चेत्।

— वे० प० पृ० २६४

किया है । योग्यानुपलब्धि — 'योग्य जो अनुपलब्धि' है[1] । अर्थात् अनुपलब्धि का विशेषण 'योग्य' पद है । यह योग्यता क्या है ? तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि में योग्यता है[2] । अर्थात् जिस अधिकरण में प्रतियोगी की सत्ता तर्कित हो, ऐसे प्रतियोगी की सत्ता से प्रसञ्जित (आरोपित) है प्रतियोगिकत्व जिसका — उसी को तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व कहते हैं । इसी को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है (घटाभाव) उसका जो प्रतियोगी है (घट), अधिकरण में उस घट के 'यदि यहाँ होता' — इस तर्क के द्वारा कल्पित सत्ता से 'तो दिखाई पड़ता' — इस प्रकार आपादनयोग्य जो है (इस प्रकार जिसको कहा जा सकता है) यही अनुपलब्धि की योग्यता है[3] । यह योग्यता अनुपलब्धि के प्रतियोगी उपलब्धि के स्वरूप है (अर्थात् घटाभावरूप अनुपलब्धि का प्रतियोगी है 'घट' उसकी उपलब्धि होना ही अनुपलब्धि की योग्यता है) । तात्पर्य यह है कि जिस अनुपलब्धि के विषय में 'यह पदार्थ यहाँ होता तो दिखाई देता (उपलब्ध होता), वह दिखाई नहीं पड़ता (उपलब्ध नहीं होता) अतः नहीं है', ऐसा कहा जा सकता है — वही योग्यानुपलब्धि है और वही अभाव प्रमा का ग्राहक प्रमाण है । घटाभाव अनुपलब्धि प्रमाण से ग्राह्य है, 'घट' उसका प्रतियोगी है और उस प्रतियोगी के 'घट होता' इत्याकारक तर्क से कल्पना किए हुए अस्तित्व से — 'तो दीखता, किन्तु दीखता

---

1. न । योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात् ।

   — वे० प० पृ० २९५

2. तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम् ।

   — वे० प० पृ० २९५

3. यस्याभावो गृह्यते तस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं तस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः ।

   — वे० प० पृ० २९५

नहीं अतः नहीं है ' इस प्रकार की घटानुपलब्धि की प्रतियोगिनी जो घटोपलब्धि है उसका उपपादन किया जा सकता है अतः घटाभाव योग्यानुपलब्धि से ज्ञात होता है। ध्यातव्य है कि घटाभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से ग्रहण प्रकाश में ही सम्भव है। अन्धकार में घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं वरन् अनुमानादि से होता है क्योंकि अन्धकार में उस प्रकार का आपादन सम्भव नहीं है। अन्धकार में घट की उपलब्धि न होने पर 'यदि यहाँ होता' इस तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व से 'तो दिखाई पड़ता'[1] इस प्रकार अनुपलब्धि के प्रतियोगी घटोपलब्धि का आपादन नहीं कर सकते। अन्धकार में घट की अनुपलब्धि के होने पर भी वह अनुपलब्धि योग्य नहीं होती। योग्य न होने पर अनुपलब्धि प्रमाण से घटाभाव का ज्ञान नहीं किया जा सकता। ऐसा भी सम्भव है कि यहाँ घट हो तथा अन्धकार के कारण उसकी अनुपलब्धि हो रही हो। अतः अन्धकार के कारण घट की अनुपलब्धि होने पर उसके भाव तथा अभाव के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्तम्भ में पिशाच होता तो स्तम्भ के समान उसका भी प्रत्यक्ष होता--- ऐसा आपादन सम्भव हो जाता है। इसलिए स्तम्भ में पिशाच का भेद भी अनुपलब्धि प्रमाणगम्य है। स्तम्भ में पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) अथवा पिशाच का अत्यन्ताभाव दोनों ही विषय में उपर्युक्त तर्क सम्भव हो जाता है। आत्मा में धर्मादि के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं जाना जा सकता क्योंकि धर्मादि के अतीन्द्रिय होने से उसके विषय में यदि आत्मा में धर्मादि होता तो आत्मा की भाँति उसका भी उपलम्भ होता[2] --- ऐसा आपादन सम्भव नहीं है। इसलिए धर्मादि के अभाव को अनुमानप्रमाणगम्य ही

---

1. तथाहि, स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तर्हि घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता।

   - वे० प० पृ० २६४

2. अत एव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः। आत्मनि धर्माधिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवात् न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्।

   - वे० प० पृ० २६४

माना गया है । श्लोकवार्तिक में योग्यता का स्पष्ट तथा विविक्त वर्णन प्राप्त नहीं होता है ।

७.३ अभावग्रहण में इन्द्रियों का असामर्थ्य —

वेदान्तपरिभाषाकार ने नैयायिकों की ओर से आक्षेप किया है कि अभाव को अनुपलब्धि प्रमाणगम्य मानने में भी वेदान्ती अधिकरण के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष को अवश्यमेव स्वीकार करते हैं । अत: अभावानुभव के प्रति इन्द्रियों में कारणता उभयवादी सम्मत होने से क्लृप्त (सिद्ध) ही है । नैयायिक अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत मानते हैं अत: उनके मत में इन्द्रियाँ अभावग्रहण में करण हैं जबकि वेदान्तपरिभाषाकार इन्द्रियों की कारणता मानते हुए भी उसे अभाव का करण नहीं मानते हैं — यही दोनों में भिन्नता है । अत:, नैयायिक यह आक्षेप कर सकते हैं कि जब क्लृप्त (सिद्ध) इन्द्रियाँ ही अभावाकारवृत्ति में करण हो सकती हैं तो अभावानुभव में अनुपलब्धि की कारणता की कल्पना ही क्यों की जाय ? इन्द्रियों को करण मान लेने में ही लाघव है । इन्द्रियों के रहने पर ही अभाव का निश्चय होता है, इन्द्रियों के न रहने पर उस स्थल में अभाव का निश्चय नहीं हो पाता । इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रियों को ही अभावानुभव में कारण मानना चाहिए[1] ।

इस आक्षेप के समाधानार्थ धर्मराज का कथन है कि अभाव के प्रतियोगी की अनुपलब्धि को भी अभावज्ञान में कारण माना गया है । अत: अनुपलब्धि में अभाव की कारणता भी उभयवादी सम्मत होने से क्लृप्त ही है । केवल करणत्व की ही

---

१. ननु रीत्या ऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमनुमतं तत्र क्लृप्तेन्द्रियस्यैवाभावाकारवृत्तावपि करणत्वम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति चेत् ।

— वे० प० पृ० २६६

सिद्ध करती है, कारणत्व की नहीं।[1] वेदान्त सिद्धान्त में अनुपलब्धि को ही करण माना गया है जबकि नैयायिक अनुपलब्धि को केवल कारण ही मानते हैं, करण नहीं। धर्मराज का कथन है कि इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं हो पाता अतः वह अभाव में कारण नहीं है।[2] नैयायिकों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी ग्रहण होता है। नील घट में पीत रूप के अभाव का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है क्योंकि घट का ज्ञान भी चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय का अधिकरण के साथ सन्निकर्ष होने पर उस इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है क्योंकि 'यह भूतल घटाभाववान् है' इस प्रकार जब भूतल का ज्ञान होता है तब इसमें भूतल के विशेषण के रूप में घटाभाव का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार चक्षु के साथ भूतल का संयोग हुआ। उस संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण रूप है अतः इन्द्रियों का घटाभाव के साथ संयुक्तविशेषणता नामक सन्निकर्ष होता है। नैयायिकों का यह मत धर्मराज को अभिप्रेत नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाणाभाव है। इन्द्रियों के साथ अभावानुभव का सम्बन्ध न बनने से अभावानुभव का कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं अतः करण बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि अधिकरण ग्रहण के लिए इन्द्रियों को क्लृप्त माना जाय, तब तो अधिकरण का ज्ञान कराके ही इन्द्रियाँ उपक्षीण हो जाती हैं। अर्थात् घटाभाव के अधिकरण भूतलादि को ग्रहण कर इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में भूतल में घटाभाव अनुभव के समय इन्द्रियों का अन्वय-

---

१. न। तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्।

— वे० प०, पृ० २९९

२. इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्।

— वे० प० पृ० २९९

व्यतिरेक अन्यथासिद्ध है ।[1] नैयायिक मत में अन्यथासिद्ध कदापि कारण नहीं बन सकता क्योंकि कारण सदैव अन्यथासिद्धशून्य और कार्य से नियतपूर्ववर्ती होता है ।[2] दोनों ही मतों में अनुपलब्धि अभाव का कारण है क्योंकि नैयायिक मत में भी `घट दिखाई नहीं देता अर्थात् घट की अनुपलब्धि है` -- इसी से घटाभाव का निश्चय होता है । इन्द्रिय अभावानुभव में अन्यथासिद्ध है अतः नैयायिकों को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के स्थान पर अनुपलब्धि को ही अभावानुभव का करण मानना चाहिए ।

अभाव प्रमा के प्रत्यक्ष कोटि में होने पर उसका कारण भी प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ अतः इन्द्रिय से ही अभावप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण से नहीं— इस आशय को लेकर नैयायिकों का आक्षेप है कि `भूतले घटो न` इस प्रकार के घटाभावानुभवस्थल में भूतल अंश में प्रत्यक्षत्व तो दोनों ही मतों में सिद्ध है । अतः प्रत्यक्ष होने के कारण वृत्ति का निर्गमन आवश्यक है, अर्थात् भूतलावच्छिन्न चैतन्य तथा चक्षुरादि द्वारा निकली हुयी तदाकार अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृचैतन्य का अभेद हो गया है । विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमात्रवच्छिन्न चैतन्य के अभेद से प्रत्यक्षत्व सिद्ध ही है । अतः जिस प्रकार भूतलावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो जाने पर भूतल का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार भूतल में घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ[3] चैतन्य का भी अभेद हो जाने के कारण अभावांश में भी प्रत्यक्षत्व मानना चाहिए । अतः अनुपलब्धि को

---

१. इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः ।

- वे० प० पृ० २९१

२. अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत् .... ।

- न्या० सि० मु० पृ० ९३

३. ननु भूतले घटो नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभयोः सिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवदभिन्नघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपीति चेत् ।

- वे० प० पृ० ३०१

छठा प्रमाण न मानकर इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष में करण मान लेना चाहिए । इस आक्षेप के समाधानार्थ धर्मराजाध्वरीन्द्र का कथन है कि भूतल में घटाभाव की प्रतीति को प्रत्यक्ष मानने पर भी उसका करण अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न ही है । किञ्च, 'साध्यप्रमा के प्रत्यक्षात्मक होने पर उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होना चाहिए'-- यह कोई नियम तो है नहीं क्योंकि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही होता है जबकि उसका प्रमाण प्रत्यक्षभिन्न आप्त वाक्यरूप शब्द प्रमाण है।[1] इसी प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी उसका साधन प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं हो सकता वरन् अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण ही उस अभाव प्रत्यक्ष का प्रयोजक है । धर्मादि के अभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता क्योंकि उसकी योग्यता ही नहीं है ।

इस पर नैयायिकों की यह शंका हो सकती है कि घट तथा घटाभाव के प्रत्यक्ष में कोई विलक्षणता नहीं है तब घटप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षप्रमाण तथा घटाभाव-प्रत्यक्ष में अनुपलब्धि प्रमाण को करण मानकर दो प्रमाणों को मानने का कोई औचित्य नहीं है।[2] ग्रन्थकार का उत्तर है कि 'प्रमाओं में भेद होने से ही प्रमाणों में भेद होता है'-- यह कोई नियम नहीं है । वृत्तियों में भेद होने से ही प्रमाणों में भेद हो जाता है।[3] यही कारण है कि 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द से प्रमा प्रत्यक्षात्मक

---

१. उच्यते । अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात् । न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

— वे० प०, पृ० ३०१

२ फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत् ।

— वे० प० पृ० ३०३

३. न । वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः ।

ही होती है तथापि उसका प्रमाण प्रत्यक्ष न होकर शब्द ही है -- इस प्रकार प्रमा में भेद न होने पर भी प्रमाणों में भेद हो जाता है । अतः प्रत्यक्षता में भेद न होने पर भी अभावाकारवृत्ति का जनक प्रमाण अनुपलब्धि है तथा इतर विषयाकारवृत्तियों में इन्द्रिय ही प्रमाण है । इतर विषयाकारवृत्तियाँ इन्द्रिय से उत्पन्न होती हैं जबकि अभावाकारवृत्ति वैसी नहीं होती है क्योंकि उसका इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं हो पाता । इन्द्रियाँ तो अधिकरणों के साथ सम्बद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकारवृत्ति को उत्पन्न करके ही उपक्षीण हो जाती हैं । घट की अनुपलब्धि प्रमाण से ही वह अभावाकारवृत्ति जन्य है अतः अभावाकारवृत्ति का जनक अनुपलब्धि-संज्ञक पृथक् प्रमाण ही है ।[1]

पूर्वपक्षी का यह आक्षेप हो सकता है कि अनुपलब्धि को अभाव प्रमा का प्रमाण मान लेने पर भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं । घटाभावज्ञान के प्रत्यक्षात्मक होने पर भी यदि किसी व्यक्ति को भूतल पर घट की उपस्थिति होने पर भी दृष्टिगत नहीं होता है, और 'इस भूतल पर घट नहीं है '-- इस प्रकार का भ्रमात्मक घटाभाव का ज्ञान होता है-- तो इसे भी प्रत्यक्षात्मक कहना पड़ेगा क्योंकि यहाँ भी घटाभावज्ञान अनुपलब्धिजन्य ही है ।[2] भ्रमस्थल पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि भ्रम का विषयभूत पदार्थ उस समय अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत में भी भ्रम के विषयभूत घटाभाव को अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए । यदि वेदान्ती यह कहते हैं कि वे भी घटाभाव भ्रमस्थल पर घटाभाव का अनिर्वचनीय उत्पन्न होना

---

1. तथा च घटाभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात् । किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम् ।

   - वे० प० पृ० २०३

2. अनुपलब्धिरूपमानान्तरवादेऽप्युक्तरीत्या प्रत्यक्षत्वे वक्तव्ये घटाभाव-भ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तथात्वानिर्वचनीयघटाभावोऽभ्युपगम्येत ।

   - वे० प० पृ० २०४

ही मानते हैं अत: पूर्वपक्षी की शङ्का इष्टापत्ति ही है -- तो यह उचित नहीं है क्योंकि भ्रमस्थल में घटाभाव को अनिर्वचनीय मानने पर अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादान कारण `माया` को मानना पड़ेगा । किन्तु, माया तो `भावरूप` है उससे `घटाभाव` -- इस अभाव रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती (असत्कार्यवाद हो जाएगा) । इस दोष के परिहारार्थ यदि माया को घटाभाव में कारण न मानें (घटाभाव को इसका अपवाद मानें) तब तो `माया समस्त कार्यों का उपादान कारण है `-- यह वेदान्तसिद्धान्त ही बाधित हो जाएगा ।[1]

उक्त अनुपपत्तियों के समाधान में धर्मराजाध्वरीन्द्र का कथन है कि प्रत्यक्ष के सभी प्रकार के भ्रमस्थल पर माया के द्वारा ही विषयोत्पत्ति होती है केवल यही मान्यता नहीं है वरन् जहाँ पर आरोप्य पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है वहाँ पर नैयायिकों की भाँति अन्यथाख्याति को भी स्वीकार किया गया है ।[2] भ्रम का विवेचन करते हुए यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ जपाकुसुम इन्द्रियसन्निकृष्ट होता वहाँ स्फटिक में भासमान रक्तत्व प्रातिभासिक उत्पन्न नहीं होता अपितु पुष्पगत रक्तत्व ही स्फटिक में भासित होता है -- यह मानकर ऐसे स्थलों में अन्यथाख्याति ही माननी चाहिए । `घटवद्भूतल` में घटाभाव का जो भ्रम होता है उसका तत्काल में उत्पन्न हुआ (अनिर्वचनीय) घटाभाव विषय नहीं होता है वरन् भूतल के समीप में स्थित लौकिक (व्यावहारिक)

---

१. न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तेः मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिरिति चेत् ।

- वे० प० पृ० ३०४

२. आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।

- वे० प० पृ० ३०५

घटाभाव भूतल पर आरोपित किया जाता है, अत: वह अन्यथाख्याति ही है।[1]
जिस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक आपणस्थ रजत का पूर्ववर्ती शुक्ति देश में भान मानते हैं, उसी प्रकार भूतल में घट है भूतल के रूप में नहीं, क्योंकि घट का अधिकरण भूतल है, भूतलरूप नहीं। घट तथा भूतल दोनों ही द्रव्य हैं अत: संयोग सम्बन्ध से घट का अधिकरण भूतल है किन्तु भूतल का `रूप` गुण है, उसमें किसी भी सम्बन्ध से घट नहीं रह सकता। अत: मानना होगा कि भूतल के रूप में घट का अभाव है और वह व्यावहारिक है, उसी भूतल के रूप में विद्यमान घटाभाव का भूतल में आरोप हो रहा है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्यथाख्याति में `भ्रमविषयभूत पदार्थ को इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होना चाहिए`—ऐसा कहा गया है। किन्तु, यहाँ घटाभाव रूप आरोप्य पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है क्योंकि परिभाषाकार ने माना है कि अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। इसी कारण अभावाकारवृत्ति की जनक अनुपलब्धि को प्रमाणत्वेन स्वीकार करना पड़ा है। वेदान्त मत में जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं होता है तो घटाभाव भ्रम को अन्यथाख्याति कैसे कहा जा सकता है ? अत: उपर्युक्त स्थल पर अन्यथाख्याति नहीं लगायी जा सकती है। पूर्व समाधान की इस अरुचि से ही ग्रन्थकार घटाभावभ्रमस्थल में घटाभाव की अनिर्वचनीय उत्पत्ति मानकर ही चरम समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार अन्यथाख्याति को न मानने पर भी कोई दोष नहीं होता। घटाविशिष्ट भूतल पर जो घटाभाव भासित होता है उसे अन्यथाख्याति मानकर शुक्ति-रजततुल्य अनिर्वचनीय घटाभाव की उत्पत्ति ही मानी जाती है। उस अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादान माया ही है। माया जैसे भावरूप पदार्थ से `अनिर्वचनीय घटाभाव`—अभावरूप यह कार्य नहीं हो सकता — यह आक्षेप भी नहीं किया जा सकता क्योंकि

---

1. घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव।

— वे० प० पृ० ३०५

उपादान कारण तथा उपादेय (कार्य) का अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) रहना चाहिए -- यह कोई नियम भी नहीं है । तन्तु तथा पट में भी तन्तुत्व, पटत्वादि रूप से वैजात्य ही है, साजात्य नहीं । यदि 'यत्किञ्चित्' साजात्य की बात कही जाय तो माया एवं उसके कार्य अनिर्वचनीय घटाभाव में मिथ्यात्व रूप धर्म के विद्यमान होने से 'मिथ्यात्व' रूप साजात्य है ।[1] पूर्वपक्षी इस पर यदि यह शंका करे कि विजातीय पदार्थों में भी यदि कार्य-कारणभाव को स्वीकार किया जाता है तब तो ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मान लेना चाहिए अतः 'माया' को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । इसका समाधान परिभाषाकार करते हैं कि यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि प्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता है क्योंकि परिणामित्वरूप उपादानकारणत्व की निरवयव ब्रह्म में अनुपपत्ति है । प्रपञ्च का[2] परिणामी उपादान कारण माया है, ब्रह्म नहीं क्योंकि ब्रह्म तो निरवयव है ।

श्लोकवार्तिक में प्रत्यक्ष प्रमाण से अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है—यह बतलाया गया है । उनके अनुसार 'नास्ति' इत्याकारक बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न नहीं होती है, उससे तो भावविषयक बुद्धि[3] ही उत्पन्न होती है क्योंकि इन्द्रियाँ भावपदार्थों के साथ ही संयुक्त हो पाती हैं । इस पर यदि यह शङ्का

----

१. न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात् । यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात् ।

- वे० प० पृ० ३०६

२. परिणामित्वरूपोपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः । तथा च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

- वे० प० पृ० ३०६

३. न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥

- श्लो० वा० अभाव १८

किया जाय कि वार्तिककार ने तो भाव से अभाव को अभिन्न माना है[1] अतः इन्द्रियों का सम्बन्ध यदि भाव पदार्थों के साथ है तो अभावों के साथ भी (भाव पदार्थों से अभिन्न होने के कारण) अवश्य होगा, अतः इन्द्रियों से ही अभावों का ग्रहण हो सकता है -- तो यह उचित नहीं है क्योंकि भाव तथा अभाव यद्यपि अभिन्न हैं तथापि 'अत्यन्त अभिन्न' नहीं हैं। जिस प्रकार रूप रसादि गुण एक ही आश्रय में रहने के कारण अभिन्न होते हुए भी अपने रूपत्व तथा रसत्व रूपों से भिन्न भी हैं[1] उसी प्रकार भूनिष्ठ अभाव भूप्रदेश रूप धर्मी से अभिन्न होते हुए भी अपने 'अभावत्व' रूप से धर्मी से भिन्न भी है। भूतल में तो इन्द्रियसंयोग है किन्तु भूतल से कथञ्चित् भिन्न अभाव में इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। यदि धर्म तथा धर्मी अत्यन्त अभिन्न हों तो कथञ्चित् उद्भूत होने के कारण एक का ग्रहण तथा अनुद्भूत होने के कारण दूसरे का अग्रहण उपपन्न नहीं होगा अतः मीमांसक धर्मी तथा धर्म में अभेद के समान ही कथञ्चित् भेद भी मानते हैं।[2] भावस्वरूप धर्मी तथा अभावस्वरूप धर्म इन दोनों में भेद का एक यह प्रयोजक है कि भाव पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित होता है किन्तु अभाव पदार्थ के ज्ञान में इन्द्रिय-संयोग की अपेक्षा नहीं होती है। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न होते तब तो दोनों का एक ही प्रमाण से ग्रहण होता।[3] इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही अभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण नहीं माना गया है जबकि नैयायिक अभाव का ग्रहण संयुक्तविशेषणता नामक सन्निकर्ष से स्वीकार करते हैं।

---

1. ननु भावादभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च ।
   न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥
   — श्लो० वा० अभाव १९

2. धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते ।
   उद्भवाभिभवात्मत्वाद् ग्रहणं चावतिष्ठते ॥
   — वही २०

3. इत्येन निमित्तं च विभेदस्य प्रतीयते ।
   भावाभावविभोरत्वैः सम्बन्धोऽस्त्यनपेक्षणात् ॥

७.४ अभावग्रहण में अनुमान प्रमाण का असामर्थ्य—

यह अनुपलब्धि (अभाव) नामक प्रमाण अनुमानस्वरूप भी नहीं है अर्थात् अभाव का बोध अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता है क्योंकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिङ्ग अप्राप्त है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या अभावविषयक ज्ञान में भासित होने वाला 'भाव' पदार्थ ही अभावविषयक अनुमान का हेतु होगा ? वार्तिककार ऐसा नहीं मानते क्योंकि अभावविषयक ज्ञान के समय भाव पदार्थ का ग्रहण नहीं हो पाता ।[१] भावविषयक ज्ञान के न होने पर ही अभावज्ञान का जन्म होता है । इसके विपरीत, जब भावविषयक प्रतीति होती है तो अभावविषयक ज्ञान नहीं होता है ।[२] किञ्च, अभाव का ग्रहण यदि अनुमान प्रमाण से माना जाय तब तो व्याप्ति रूप सम्बन्ध के ग्रहण में दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है । 'भूतले घटाभावः' इसको यदि अनुमानगम्य मानें तो साध्यरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है । उस अभाव का ज्ञान किस प्रमाण से होगा ?[३] अतः अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता । उस समय लिङ्ग द्वारा सम्बन्धी का ग्रहण नहीं हो सकता अतः अभावप्रमा के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाणान्तर की अपेक्षा है[४] जिसको अभाव, दृश्यादर्शन, अनुपलब्धि आदि कहते हैं ।

७.५ अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व पर विचार—

वार्तिककार ने अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने के कई हेतु प्रस्तुत

---

१. न चाप्यस्यानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते ।
भावांशो ननु लिङ्गं स्यात् तदानीं नाभिलक्षणात् ॥–श्लो०वा० अभाव २९

२. अभावाननुवेधेन भावांशो ह्युपलक्ष्यते ।
तस्मिन् प्रतीयमाने तु नाभावे जायते मतिः ॥ – वही ३०

३. सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहणं ध्रुवम् ।
तदभावमतिः केन प्रमाणेनोपजायते ॥ – वही ३१

४. तदानीं न हि लिङ्गेन सम्बन्धिग्रहणं भवेत् ।
तदाभावस्याभावस्य प्रमाणान्तरतो मतिः ॥ – वही ३२

किए हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्षादि से अनुत्पन्न इस अभाव प्रमाण से 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति होती है। अनुपलब्धि प्रमाण के पश्चात् ही 'नास्ति'[1] इत्याकारक प्रतीति होने के कारण 'अभाव' नामक स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि प्रमाण अभावस्वरूप कैसे हो सकता है? प्रमाण को भावस्वरूप होना चाहिए। इसके समाधानार्थ वार्तिककार का कथन है कि इसका[2] प्रमेय भी अभावस्वरूप है अतः जैसा प्रमेय है उसी प्रकार का प्रमाण भी है। प्रत्यक्षादि प्रमाण भावस्वरूप हैं, अतः उनसे अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार घटादि भावस्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण अभावस्वरूप नहीं होता उसी प्रकार 'अभाव' स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण भी भावस्वरूप नहीं हो सकता।[3] यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि प्रमाण भावस्वरूप ही हो। जिसका फल 'परिच्छेद' हो अर्थात् प्रमात्मक बुद्धि हो वही प्रमाण है। प्रमाण के इस लक्षण के अनुसार 'अभाव' की भी प्रमाणता हुयी क्योंकि उसे भी 'घटो नास्ति' इत्यादि आकारों की प्रमात्मक बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।[4] प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न 'अभाव' नामक प्रमाण की सिद्धि वार्तिककार निम्न प्रकार से करते हैं—

(i) प्रमाणाभावाभावो (अनुपलब्धिः — दृश्यादर्शनादिशब्दव्यपदेश्यः)
प्रत्यक्षादेर्भिन्नो अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रमेयाभाववत्।

---

१. नास्तीति धीः फलं येषां प्रत्यक्षादेरजन्मनः ।
तस्यैव च प्रमाणत्वमभावस्याद्य प्रतीयते ॥
– श्लो० वा० अभाव ४३

२. भावं त्वभावरूपेषु प्रमेयं साधकं कीदृशम् ।
मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् ॥ – वही ४५

३. भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ।
तथाभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ॥
– वही ४६

४. भावात्मकत्व मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम् ।
परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यं स्याद् द्वयोरपि ॥
– वही ४७

अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्षादि भावस्वरूप प्रमाणों के प्रमेयों का अभाव 'प्रमेयाभाव' शब्द से व्यवहृत होता है उसी प्रकार उन प्रमेयों के अभाव का ज्ञापक अभावस्वरूप (अनुपलब्धिस्वरूप) प्रमाण भी 'प्रमाणाभाव' शब्द से व्यवहृत होता है।[1]

(२) प्रमेयाभावो स्वजातीयेन प्रमाणेन गृह्यते प्रमेयत्वात् भावात्मक-प्रमेयवत् ।

अर्थात् जिस प्रकार भावस्वरूप प्रमेय भावस्वरूप प्रमाण से गृहीत होता है, उसी प्रकार अभावस्वरूप प्रमेय भी अभावस्वरूप प्रमाण से ही गृहीत हो सकता है।[2] अतः प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न अभाव नामक (अनुपलब्धि) प्रमाण आवश्यक है ।

७.६ अभाव के प्रमेय : अभाव के भेद

वेदान्तपरिभाषा[3] तथा श्लोकवार्तिक[4] दोनों में ही अनुपलब्धि-

---

१. अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेरिव भिद्यते ।
प्रमाणानामभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥
- श्लो० वा० अभाव ५४

अपि च,
श्लोकवार्तिक हिन्दी व्याख्या, पं० दुर्गाधर झा । - पृ० ५८८

२. अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते ।
प्रमेयत्वाद् यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक् ॥-श्लो०वा०अभाव ५५

अपि च,
द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार पं० दुर्गाधर झा । -पृ०५८८

३. स चाभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ।
- वे० प०, पृ० १०६

४. श्लो० वा० अभाव २, ३, ४

प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद बतलाए गए हैं जिन्हें क्रमश: प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव कहा गया है । अनुपलब्धि के प्रमेयरूप अभाव के उक्त प्रकारों के विषय में दोनों ही ग्रन्थों में साम्य है ।

७.६.१ प्रागभाव—

प्राक् अर्थात् कार्योत्पत्ति से पूर्व उस कार्य को जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहा जाता है । जैसे--मृत्पिण्ड आदि कारण में कार्य घटादि की उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं।[1] यह प्रागभाव कार्य के उपादान कारण में होता है । घट-रूप कार्य का उपादान कारण है मृत्पिण्ड और उसी मृत्पिण्डरूप उपादान कारण में घट रूप कार्य का अभाव रहता है । प्रागभाव की प्रतीति `भविष्यति` — यहाँ कार्य होगा— इस प्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है।[2] मृत्पिण्ड के अतिरिक्त तन्तु आदि कारणों में `यहाँ घट होगा` ऐसी प्रतीति नहीं होती है अत: स्पष्ट है कि घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड में ही रहता है । इस प्रकार, कार्योत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव होता है, वह प्रागभाव है । नैयायिकों ने इस प्रागभाव को अनादि तथा सान्त माना है।[3] वार्तिककार ने प्रागभाव का उदाहरण देते हुए कहा है कि दूध में दही की नास्तिता की `क्षीरे दधि नास्ति` इत्याकारक प्रतीति होती है उस `नास्तिता` को अर्थात् दूध में दही की अनुद्भूतता को `प्रागभाव` कहते हैं।[4]

७.६.२ प्रध्वंसाभाव—

कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है ।

---

१. तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः।
— जै० प० पृ० ३०६

२. स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः । — जै० प० पृ० ३०६

३. विनाशवत्त्वानादित्वं प्रागभावत्वम् । — न्या० सि० मु० पृ० ६६

४. क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ।।
— श्लो० वा० अभाव २ की टि० पं०

मृत्पिण्ड में घट का मुद्गरपात के अनन्तर जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है[1]।
श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि दही में दूध के अभाव की `दधिन दुग्धं नास्ति`
इत्याकारक जो प्रतीति होती है, दूध की इस नास्तिता को प्रध्वंसाभाव कहते हैं[2]।
नैयायिक इस अभाव को `सादिरनन्तः प्रध्वंसः` अर्थात् उत्पत्तिमान् होता हुआ[3] जो
नाशरहित अभाव है उसको प्रध्वंसाभाव मानते हैं। उनके मत में प्रध्वंसाभाव का कभी
नाश नहीं होता है। वेदान्तपरिभाषाकार को नैयायिकों का यह मत अभिप्रेत नहीं
है। प्रध्वंसाभाव को विनाशरहित मानने पर तो प्रध्वंसाभाव तथा ब्रह्म दोनों ही
अविनाशी सिद्ध होंगे जिससे द्वैतापत्ति होगी अतः वेदान्तपरिभाषा में प्रध्वंसाभाव
का भी ध्वंस स्वीकृत है। घट के प्रध्वंसाभाव का भी अपने अधिकरणभूत कपाल के
नाश होने पर नाश होता है[4] अर्थात् जब यह कहा जाता है कि `घटो नास्ति` तो
उसका अर्थ होता है कि घट का किसी अधिकरण में अभाव है। जब घट का प्रध्वंसा-
भाव होता है तो वह अभाव उसके समवायीकारणरूप `कपाल` में रहता है।
इसीलिए, कपालों का नाश होने पर घट के प्रध्वंसाभाव का आधार नष्ट हो जाता
है। इस प्रकार, ध्वंस का भी अपने अधिकरण कपालों के नाश से नाश हो जाता है।
इस पर यह शङ्का होती है कि ध्वंस का भी ध्वंस मानने पर तो पुनः घटोत्पत्ति
होगी क्योंकि घटध्वंस का ध्वंस अर्थात् घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही हुआ।
किन्तु, यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका
प्रतियोगी घटध्वंस नहीं होता है अपितु घट ही होता है। घटध्वंस का ध्वंस होने
पर भी `घटः विनष्टः` यही प्रतीति होती है क्योंकि घटध्वंस कपालस्वरूप हुआ,

---

1. तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः।

   — वे० प० पृ० ३०६

2. नास्तिता पयसो दधिन प्रध्वंसाभाव इष्यते।

   — श्लो० वा० अभाव ३ की पृ० पं०

3. जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्।

   — न्या० सि० मु० पृ० ६६

4. ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव।

   — वे० प० पृ० ३०६

और कपालों के भी नष्ट हो जाने पर घट पूर्णरूपेण नष्ट हुआ — यही प्रतीति होती है। अतः घटध्वंस का ध्वंस मानने पर घट के ही प्रतियोगी होने से घटोत्पत्ति का प्रसङ्ग ही नहीं उठेगा। यदि ऐसा न मानें तब तो घट-प्रागभाव ध्वंसरूप जो घट है उसका भी ध्वंस मानने पर प्रागभाव उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा[1] क्योंकि प्रागभावध्वंसरूप घट का विनाश ही दृष्टिगत होता है। इस प्रकार घट का मुद्गरपात के अनन्तर जो ध्वंस होता है वह कपालरूप होता है और उस ध्वंस का भी कपालनाश के पश्चात् जो ध्वंस होता है, वह घट का ही पूर्ण रूप से ध्वंस है। अतएव दोनों ही स्थलों में 'घटो विनष्टः' यही अनुभवात्मक प्रतीति होती है। इसी प्रकार, प्रागभाव के ध्वंस रूप घट का जो ध्वंस होता है उसका भी प्रतियोगी प्रागभाव को ही समझना चाहिए। अतएव मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है वही उस ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है — अनुभव प्रमाण से इसको मानना चाहिए। वेदान्तपरिभाषा के अनुसार यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जहाँ ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है वहाँ उस ध्वंस का नाश कैसे हो सकता है? अर्थात् वह अविनाशी होगा। शब्दध्वंस का अधिकरण आकाश है जिसका कभी नाश ही नहीं होता है अतः शब्द ध्वंस का ध्वंस (आकाशध्वंस) कैसे सम्भव है? अतः शब्दादिकों के ध्वंस में अविनाशित्व प्रसक्त होने से ध्वंस तथा ब्रह्म दोनों ही नित्य सिद्ध होंगे और द्वैतापत्ति हो जाएगी। किञ्च, ब्रह्म में समस्त जगत् का लय (नाश) होने से अधिष्ठानभूत ब्रह्म के नित्य होने से तन्निष्ठ जगत् का ध्वंस भी नित्य होगा अतः प्रलयावस्था में ब्रह्म तथा जगत् का ध्वंस — ये दो नित्य पदार्थ हो जायेंगे। इस पर धर्मराज का कथन है कि ध्वंस का अधिकरण चैतन्य से भिन्न मानना अनुपपन्न है क्योंकि एक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को छोड़कर संसार के किसी भी पदार्थ में अविनाशित्व नहीं है क्योंकि ब्रह्म में कल्पित जगत् की ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति हो जाती है।[2]

---

1. न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः ? घटध्वंसध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिकध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मकघटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।
   — वे० प० पृ० ३०६
2. ध्वंसाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यतया वक्ष्यमाणत्वात्।
   — वे० प० पृ० ३१२

यदि चैतन्य को ही ध्वंस का अधिकरण माना जाय तब भी जगत् के ध्वंस में नित्यत्वापत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जिस ध्वंस का प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसा ध्वंस जो कि अधिष्ठानरूप से भासित होता है, वह अधिष्ठानरूप ही होता है । उदाहरणार्थ—शुक्ति में 'यह रजत है' यह मिथ्या ज्ञान होता है किन्तु यथार्थ ज्ञान होने पर मिथ्यारजतज्ञान का बाध[1] हो जाता है और 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक विपरीत ज्ञान होता है । इस प्रकार, इस ज्ञान में पूर्व भासित रजत का नाश हुआ— ऐसा अनुभव होता है । यहाँ रजतध्वंस का प्रतियोगी जो 'रजत' है वह मिथ्या है अतः उसका नाश अर्थात् उस रजत का अधिष्ठान 'इदम्' आकार से अवच्छिन्न चैतन्य ही है । ठीक इसी प्रकार जगत् मिथ्या है तथा ब्रह्म उस जगदाकार भ्रम का अधिष्ठान है । उस ब्रह्म में जगत् का जो ध्वंस होता है वह अधिष्ठानस्वरूप (ब्रह्मरूप) होता है, पृथक् नहीं । चैतन्यात्मक ब्रह्म में चैतन्यात्मकता के अभाव का भान होना ही प्रपञ्च ज्ञान है । प्रपञ्चध्वंसकाल में उस चैतन्यात्मकता के अभाव का अभाव होता है जिसके कारण चैतन्यात्मकता भासती है । इसी कारण सुरेश्वराचार्य की उक्ति भी है — 'कल्पित वस्तु का नाश अधिष्ठानरूप ही होता है ।' अतः चैतन्य में होने वाले ध्वंस में भी नित्यत्व प्राप्त नहीं होता है । इसी तरह रज्जु पर भासमान सर्प के ध्वंस को भी रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य ही समझना चाहिए । उक्त रीति से वेदान्त मत में द्वैतापत्ति नहीं हो पाती है ।

७.६.३ <u>अत्यन्ताभाव—</u>

जिस अधिकरण में जिसका कालत्रय में भी (तीनों कालों में भी) अभाव रहता है उस अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं । जैसे — वायु में रूप का

---

१. अपि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं अस्त्विति:, आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्याधिष्ठानैक्यप्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात् । उक्तं ह्यधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः । इति । एवं शुक्तिरूप्यविनाशो इदमवच्छिन्नं चैतन्यमेव ।

— वे० प० पृ० ३१२

त्रैकालिक अभाव है अत: वायु में रूप का अभाव अत्यन्ताभाव है।[1] नैयायिकों ने अत्यन्ताभाव का उदाहरण `इह भूतले घटो नास्ति` दिया है। किन्तु; एक स्थान पर घट के अत्यन्ताभाव से यह तो सिद्ध नहीं होता है कि तदतिरिक्त स्थल पर भी घट का अत्यन्ताभाव रहता है। वायु में रूप का अभाव — यह अत्यन्ताभाव का उदाहरण निर्विवाद रूप से सत्य है। श्लोकवार्तिक में अत्यन्ताभाव के उदाहरण में `शशशृङ्ग` को प्रस्तुत किया गया है। शश के सिर के दोनों सिरों के अवयव ऊँचे नहीं रहते (निम्न रहते हैं) तथा वे (गवादि के शृङ्ग की भाँति) ठोस भी नहीं रहते हैं। अत: शृङ्ग के स्वरूप की जो `शशशृङ्ग नास्ति` इत्याकारक प्रतीति होती है उस प्रतीति के विषय शृङ्ग के स्वरूप को ही `शशशृङ्ग का अत्यन्ताभाव` कहते हैं।[2]

नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार ने अत्यन्ताभाव का भी नाश माना है।[3] उनके अनुसार अत्यन्ताभाव भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी होता है। जिस प्रकार घटादिकों का ध्वंस होता है उसी प्रकार अत्यन्ताभाव भी ध्वंस का प्रतियोगी है, उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस होता है। इस कारण ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता है।

---

१. यदधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभाव: सोऽत्यन्ताभाव:, यथा वायौ रूपात्यन्ताभाव:।

— वे० प० पृ० ३१४

२. शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता:।
शशशृङ्गादिशब्देन सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥

— श्लो० वा० अभाव ४.

३. सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव।

— वे० प० पृ० ३१४

७.६.४ अन्योन्याभाव—

'यह यह नहीं' इस प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह अन्योन्याभाव है।[1] इस प्रकार, 'यह घट पट नहीं है'—इस रीति से घट में वर्तमान जो पटरूपता का अभाव है वह अन्योन्याभाव है। इसी कारण नैयायिक तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता है जिसकी ऐसे अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं।[2] अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि अनेक प्रतियोगियों के संयोग, समवाय आदि अनेक सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न रहती है। 'यह घट पट नहीं है'—इस स्थल में यह घट स्वरूपत: पट नहीं है अर्थात् पटभेद का प्रतियोगी पट है – उसका स्वयं से (पट से) जैसा तादात्म्य है वैसा घट से नहीं है -- यही ज्ञान होता है। इस कारण तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला अन्योन्याभाव है – ऐसा माना गया है।

नैयायिकों के अनुसार विभाग तथा पृथक्त्व गुण हैं तथा वे अन्योन्याभाव से भिन्न हैं। वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने अन्योन्याभाव, भेद, विभाग, पृथक्त्व— इन सभी को पर्याय रूप में स्वीकार किया है।[3] 'घट पट से विभक्त है' तथा 'घट पट से पृथक् है' इत्याकारक प्रतीतियों में कोई भिन्नता नहीं है—यह वेदान्तियों का मत है। वार्तिककार के अनुसार भी 'अयं गौ: नाश्व:' इत्याकारक भी में जो अश्वाभाव

---

1. इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभाव: ।

   – वे० प० पृ० ३१५

2. अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम् ।

   – न्या० सि० मु० पृ० ६६

3. अयमेव विभागो भेद: पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते । भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात् ।

   – वे० प० पृ० ३१५

की प्रतीति होती है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं ।[1]

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अन्योन्याभाव के अधिकरण सादि तथा अनादि भेद से दो प्रकार के होते हैं अतः सादि तथा अनादि भेद से अन्योन्याभाव भी दो प्रकार का है —

(१) <u>सादि —</u> जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण उत्पत्तिशील होता है वह सादि होता है । जैसे—पटभेद का (पटान्योन्याभाव का) अधिकरण घट है जो सादि है अतः वह अन्योन्याभाव भी सादि हुआ ।[2]

(२) <u>अनादि —</u> जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण अनादि होता है वह अनादि अन्योन्याभाव होता है । जैसे— जीव, ब्रह्मादि अनादि होते हैं (क्योंकि जीव, ईश्वर, शुद्धचैतन्य, जीवेश्वर भेद, अविद्या अर्थात् माया और अविद्या का चैतन्य के साथ सम्बन्ध— ये छः पदार्थ वेदान्त में अनित्य माने गए हैं) । अतएव 'जीव ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार का ब्रह्मभेद या ब्रह्म में भासित होने वाला 'ब्रह्म जीवो न' यह जीवभेद — ये दोनों ही अनादि अन्योन्याभाव हैं ।[3] किन्तु,उक्त दोनों अन्योन्याभाव नित्य नहीं हैं वरन् ध्वंस के प्रतियोगी ही हैं । पटभेद के अधिकरण (घट) के नाश होने पर पटभेद का भी नाश निश्चित है । किन्तु, जीव ब्रह्म का

---

१. गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

- श्लो० वा० अभाव ३ की टि० पं०

२. अयं चान्योन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः । यथा घटे पटभेदः ।

- वे० प० पृ० ३१४

३. अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव, यथा जीवे ब्रह्मभेदः, ब्रह्मणि वा जीवभेदः ।

- वे० प० पृ० ३१४

भेद भी अविद्या के कारण ही होता है[1] किन्तु ब्रह्म ज्ञान से मूलाविद्या के नाशोपरान्त जीव-ब्रह्मभेद भी समाप्त हो जाता है।

प्रकारान्तर से अन्योन्याभाव के दो भेद भी प्राप्त होते हैं —

(१) <u>सोपाधिक—</u>

जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्त होती है वह सोपाधिक भेद है, जैसे—एक ही आकाश का घटादि उपाधियों के भेद से जो "घटाकाश मठाकाश नहीं है" इस रूप का भेद होता है, वह सोपाधिक अन्योन्याभाव है। अथवा, एक ही सूर्य का पात्रों (कलशादिकों) के भेद से जो भेद होता है वह भी सोपाधिक भेद है। इसी प्रकार, ब्रह्म के अखण्ड होने पर भी विभिन्न अन्तःकरण-रूप उपाधियों के कारण ब्रह्म में नाना जीव रूप से व्यवहार होता है। यह भी सोपाधिक अन्योन्याभाव का उदाहरण है।[2]

(२) <u>निरुपाधिक —</u>

जिस भेद में उपाधि सत्ता की अपेक्षा नहीं होती है उसे निरुपाधिक भेद कहते हैं। जैसे— घट, पट से स्वाभाविकतया भिन्न है।[3]

यदि कोई यह शङ्का करे कि चैतन्यरूप जीव तथा ब्रह्म का जो भेद है वह सोपाधिक है अतः ब्रह्मज्ञानोपरान्त उस उपाधि की निवृत्ति हो जाने से उस

---

१. द्विविधेऽपि भेदोऽविद्याकल्पितोऽस्त्येव, अविद्याया निवृत्तौ तत्परकल्पितानां निवृत्तत्वसम्भवात् ।

— वे० प० पृ० ११५

२. तत्रोपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वं, ... । यथा— एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः । यथा वा एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाज्जीवभेदः ।

— वे० प० पृ० ११७

३. .... तदशून्यत्वं निरुपाधिकत्वम् । .... निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः ।

— वे० प० पृ० ११७

भेद की भी निवृत्ति हो जाती है अत: यहाँ कोई आपत्ति नहीं है ; किन्तु, यह प्रपञ्च तथा केवल ब्रह्म का भेद तो निरुपाधिक है अत: ऐसा मानने पर तो प्रपञ्चभेद तथा ब्रह्म — इन दोनों की ही सिद्धि होने से द्वैतापत्ति होती है — तो यह शंका अनुचित है क्योंकि ब्रह्म में प्रपञ्च का भेद मानने पर भी द्वैतापत्ति नहीं हो सकती । ब्रह्म में समस्त जगत् जैसे कल्पित है उसी प्रकार उस प्रपञ्च का भेद भी तात्त्विक न होकर कल्पित (आरोपित) है[1] । इस कारण आकाशादिकों के तुल्य ही यह भेद भी प्रलयपर्यन्त ही रहता है । ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव होने पर ब्रह्म एकमेवाद्वितीय रूप से सिद्ध होता है ।

वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही उक्त चतुर्विध अभावों को स्वीकार किया गया है जिनकी प्रतीति योग्यानुपलब्धि के द्वारा ही होती है । इस प्रतीति का प्रयोजक अनुपलब्धि प्रमाण ही है[2] ।

७.७ अभाव भी प्रमेय है —

कुछ लोगों का यह आक्षेप कि 'अनुपलब्धि' नामक कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि उससे प्रमित होने वाला कोई प्रमेय ही नहीं है — निराधार है । जो वस्तु पहले से विद्यमान नहीं था, बाद में उसका अस्तित्व में आ जाना है । 'कार्य' है तथा जो क्षीर पहले से था किन्तु दधि के आविर्भाव के बाद नहीं रहता है वही क्षीर दधि का उपादान कारण कहलाता है[3] । यदि अभाव के प्रागभाव

---

१. तात्त्विकभेदाधिकरणानुपलम्भेन यावदाविद्यकद्वैताभावाभावात्मकत्वात् ।
— वे० प० पृ० ३१७

२. एवं चतुर्विधानामभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः । अनुपलब्धिप्रमाणान्तरम् ।
— वे० प० पृ० ३१६

३. यद् खलु वस्तुकं प्रागभूत्वा भवति तदुत्पत्तेः कार्यत्वं, यच्च प्राग्भूत्वासत् क्षीर-रूपं पश्चान्न भवति तदुपादानकारणम् — सोऽयं कार्यकारणविभागः ।
— न्या० र० पृ० ३३६

तथा प्रध्वंसाभाव क्यों को न माना जाय तो उक्त कार्यकारणभाव अनुपपन्न हो जाएगा ।[1] अभाव अवस्तु नहीं है क्योंकि 'अवस्तु' के प्रागभावादि अवान्तर भेद नहीं हो सकते[2] प्रत्युत घटादि के समान अभाव वस्तु ही है । प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव— इन सभी में 'ये अभाव हैं' इत्याकारक अनुवृत्ति प्रतीति होती है । प्रत्येक में 'यह प्रागभाव है, ध्वंस नहीं' अथवा 'यह ध्वंसाभाव है अत्यन्ताभाव नहीं' इत्याकारक व्यावृत्ति प्रतीति भी होती है । जिस प्रकार गवादि वस्तुओं में अनुवृत्ति प्रतीति तथा व्यावृत्ति प्रतीति दोनों ही होती है उसी प्रकार उक्त दोनों ही प्रतीतियाँ अभावों में भी होती हैं अत: अभाव भी गवादि के समान वस्तु ही है, आकाशकुसुम की भाँति अवस्तु नहीं । अभाव भी गवादि वस्तुओं के समान प्रमेय हैं अत: अभाव अवस्तु नहीं है । यदि अभाव को न मानकर अनुपलब्धि में प्रमाणता न स्वीकार किया जाय तो 'दूध में दही है', 'दही में दूध है', 'घट में पट है', 'शश में शृङ्ग है', 'पृथिव्यादिभूत वर्ग में चैतन्य है',......... 'वायु में रूप, रस,[4] गन्ध आदि हैं', 'आकाश में स्पर्श है'— इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति होगी । अतएव अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण है जिसका 'अभाव' प्रमेय है ।

---

१. न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागत: ।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो भिद्यते यदि ।।
— श्लो० वा० अभाव ७

२. न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता ।
— वही ८ की पू० पं०

३. यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् ।
तस्माद् गवादिवद् वस्तु प्रमेयत्वाच्च गम्यते ।। — श्लो० वा० अभाव ६

४. क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पट: ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं..........।।
.... वायौ रूपेण तौ च ।
व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ।।
— श्लो० वा० अभाव ५।

अष्टम अध्याय

प्रामाण्यवाद

८.१ प्रामाण्य तथा अप्रामाण्यविषयक दार्शनिक मतभेद

८.१.१ प्रामाण्यस्वतस्त्व विचार

८.१.२ अप्रामाण्यपरतस्त्व विचार

प्रामाण्यवाद

सभी दार्शनिकों के लिए प्रामाण्यवाद की समस्या महत्त्वपूर्ण समस्या है । ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय हेतु विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में विविध मतों का प्रतिपादन किया गया है । ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ दो भेद होते हैं । इनमें से यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है तथा उसकी कारण सामग्री प्रमाण है । प्रमाता को प्रमा के याथार्थ्य तथा प्रमाण के सत्यत्व की इच्छा होती है । ज्ञान के इस याथार्थ्य तथा तद्द्वारा प्रमाण के सत्यत्व के निश्चय को ही प्रामाण्य कहा जाता है । अयथार्थ ज्ञान अप्रमा कहलाता है और उसका करण अप्रमाण । इस अप्रमा के अप्रमात्व तथा अप्रमाण के अप्रमाणत्व को अप्रामाण्य कहते हैं । इस प्रकार, किसी प्रमा या प्रमाण की यथार्थता का ज्ञान प्रामाण्य प्रक्रिया द्वारा किया जाता है ।

ज्ञान की सत्यता तथा उसकी निर्दोषता ही प्रामाण्य है । संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शुद्ध ज्ञान का निश्चय तथा मूल्याङ्कन प्रामाण्य के द्वारा ही होता है । मीमांसा शास्त्र में प्रामाण्य का विवेचन एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इसी प्रकार प्रमाणों के विषय में सम्यक् अनुशीलन करने वाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा बौद्धों द्वारा भी इस समस्या पर विस्तृत विचार किया गया है । न्याय-वैशेषिक के प्राचीन आचार्यों ने प्रमा तथा प्रमाण की यथार्थता के लिए प्रामाण्य शब्द का प्रयोग किया है, जबकि नव्य नैयायिकों ने प्रामाण्य के स्थान पर 'प्रमात्व' शब्द का प्रयोग किया है । भाट्ट मीमांसकों ने इसके लिए 'प्रामाण्य' शब्द का ही प्रयोग किया है[1] ।

---

1. In the Nyaya system valid knowledge is called 'prama' and validity is called 'pramātva'. The later Mimamsa writers adopt these terms. But Kumarila and his commentators are not known to have used them. They have used the terms 'pramana' and 'pramanya' for valid knowledge and validity respectively and 'apramana' and 'apramanya' to express the opposite notions.

   — Epistemology of the Bhatta..........

प्रामाण्य की उत्पत्ति किसी साधनविशेष के द्वारा होती है तथा ज्ञानविषयत्व के कारण इसका ग्रहण भी होता है । उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति -- इन दोनों ही स्थितियों में प्रामाण्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है । कुछ दार्शनिकों ने उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार किया है तथा कुछ विद्वानों ने परतस्त्व स्वीकार किया है । जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हो अथवा जिस कारण सामग्री से ज्ञान गृहीत हो, उसी ज्ञान की सामग्री से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न या गृहीत हो तो प्रामाण्य स्वतः होता है । तथा, जिस कारण सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति या ज्ञप्ति हो उससे भिन्न कारण सामग्री से ज्ञान का प्रामाण्य उत्पन्न या गृहीत हो तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाएगा । प्रामाण्य की भाँति ही अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में भी दार्शनिक मतभेद है ।

८.१. प्रामाण्य तथा अप्रामाण्यविषयक दार्शनिक मतभेद—

माधवाचार्य ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के विषय में चार मतों का उल्लेख किया है ।[1] सांख्याचार्य प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को ही स्वतः तथा नैयायिक दोनों को परतः मानते हैं । बौद्धगण प्रामाण्य को परतः तथा अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं जबकि मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं ।

वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही प्रामाण्यवाद को विवेचित किया गया है । पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए वार्तिककार ने

---

१. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः :

नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः :-

प्रथमं परतः प्राहुः, प्रामाण्यं वेदवादिनः

प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ।

- स० द० सं० पृ० [illegible]

स्वत: प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन किया है । वेदान्त मत में भी स्वत: प्रामाण्य-वाद ही स्वीकृत है ।

कुमारिल ने भी प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के सम्बन्ध में चार मतों का उल्लेख किया है । सांख्याचार्य सत्कार्यवाद को मानते हैं । उनके अनुसार जिस वस्तु की सत्ता पहले से जिस वस्तु में नहीं है उसमें उसका उत्पादन कोई भी नहीं कर सकता । अत: ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पहले से ही है । ये दोनों स्वत: गृहीत होते हैं अतएव उनके लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है । इनसे सर्वथा विपरीत नैयायिक दोनों को परत: गृहीत मानते हैं । नैयायिकों का कथन है कि कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही अपने विषय को निश्चित रूप से तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक दूसरे प्रमाण से उसकी पुष्टि न हो । अत: ज्ञानगत प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही क्रमश: साधारण उत्पादक कारणों से भिन्न गुण और दोष से उत्पन्न होते हैं । बौद्ध विद्वानों के अनुसार अप्रामाण्य तो स्वत: गृहीत होता है किन्तु प्रामाण्य परत: गृहीत होता है । मीमांसाचार्यों का कथन है कि प्रामाण्य तो स्वत: गृहीत होता है किन्तु अप्रामाण्य परत: गृहीत होता है । कुमारिल तथा धर्मराज दोनों ने ही इसी मत का प्रतिपादन किया है । परत:-प्रामाण्यवादी नैयायिक यह मानते हैं कि किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य उससे उत्पन्न प्रवृत्ति के साफल्य पर निर्भर करता है । उनके अनुसार, प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की ज्ञापक सामग्री प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान है । किसी भी

---

१. स्वतोऽसतामशक्यत्वात्कैश्चिदाहुर्द्वयं स्वत: ।
अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषावधारणात् ॥ - श्लो० वा० चोदना ३४
वहि च, बृहद्भाष्य न्या० र० पृ० ४२

२. अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषावधारणात् । - श्लो० वा० चोदना ३४ की टिप्पणी

३. तस्मात्स्वाभाविकं तेषामप्रामाण्यस्वनिश्चयात् ।
प्रामाण्यञ्च परापेक्षमन्यादौ निरूप्यते ॥- श्लो० वा० चोदना ३८

४. स्वत: सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्ति: कर्तुमन्येन शक्यते ॥
- श्लो० वा० चोदना ४७

प्रमाण के द्वारा जलादि का ज्ञान होने पर उसके ग्रहणार्थ मनुष्य में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति होने पर यदि प्रमाण से ज्ञात जलादि की उपलब्धि होती है तो वह ज्ञान यथार्थ होता है। प्रवृत्ति के विफल होने पर वह ज्ञान अयथार्थ होता है। इस प्रकार, प्रवृत्ति के सफल होने पर प्रामाण्य तथा विफल होने पर अप्रामाण्य का निर्धारण होता है। ज्ञातव्य है कि न्याय मत में ज्ञान की ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' है जबकि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री प्रवृत्ति-साफल्य अथवा वैफल्यमूलक अनुमान होता है। 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान के पश्चात् 'घटज्ञानवानहम्' अथवा 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे ही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं जिसका विषय 'घट ज्ञान' होता है 'घट' नहीं।

८.१.१ प्रामाण्यस्वतस्त्व-विचार —

नैयायिकों के विपरीत वेदान्त तथा मीमांसा दोनों दर्शनों में प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति व ज्ञप्ति मानी गयी है। दोनों ही सिद्धान्तों में स्वतः प्रामाण्यवाद स्वीकृत है। सांख्य-मतावलम्बी भी स्वतःप्रामाण्यवाद स्वीकार करते हैं किन्तु इनके पक्ष में प्रयुक्त युक्तियाँ सदोष हैं जिनका खण्डन श्लोकवार्तिककार ने बौद्धों के माध्यम से करवाया है।[1] कुमारिल के मत में सांख्याचार्यों की युक्तियों के आधार पर उनका मत सर्वथा अनुचित है। प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञान के विषय में धर्मराजाध्वरीन्द्र का कथन है कि प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही (स्वतएव) अर्थात् ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है और स्वतः ही ज्ञात भी होता है।[2] यह प्रामाण्य स्मृति एवं अनुभव दोनों के लिए साधारण दोषादि-

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य श्लो० वा० चोदना ३६-३७

२. एवमुत्पन्नानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च ।

वे० प० पृ० 322

प्रवृत्ति के अनुकूल 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व' है।[1] इस प्रकार स्मृति तथा अनुभव दोनों में ही व्याप्त रहने वाले प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व' ही है। 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में 'घट' विशेष्य है और घट का ज्ञान 'घटत्व' धर्म से हो रहा है। अतएव 'घटत्व' इस ज्ञान में विशेषण या प्रकार हुआ। लक्षण में प्रयुक्त 'तद्' पद से इसी घटत्व धर्म का ग्रहण होता है। इस प्रकार, 'घटत्ववान्' पदार्थ में 'यह घट' इत्याकारक घटत्वप्रकारक ज्ञान होना ही घटप्रमा का प्रामाण्य हुआ। 'तत्प्रकारकज्ञानत्व' केवल इतना ही लक्षण करने पर तो भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि शुक्तिका में होने वाला रजतज्ञान भी रजतत्वप्रकारक ही होता है। इसी के निवारणार्थ 'तद्वति' पद सन्निविष्ट है। ज्ञान में प्रामाण्य होने पर उसकी इच्छा से प्रवृत्त हुए पुरुष की प्रवृत्ति सफल (संवादि) होती है। यह प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है। स्वतः का अर्थ 'स्वयं से' नहीं है वरन् 'जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से प्रामाण्य भी होता है' यह अर्थ है। इस प्रकार, प्रामाण्य ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है, इसके लिए उसे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहने वाला कोई गुण नहीं है।[2] नैयायिक प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणतः मानकर ज्ञानजनक सामग्री तथा प्रामाण्यजनकसामग्री को भिन्न-भिन्न मानते हैं। परन्तु वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि यह मत उचित नहीं है क्योंकि समस्त ज्ञान में अनुगत रहने वाला एक भी गुण नहीं है। इस पर नैयायिक यह कह सकते हैं कि यद्यपि प्रमाओं के प्रामाण्य का जनक एक गुण के रहने पर भी विशेष प्रमा का जनक विशेष गुण तो होता ही है। जैसे — 'भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' रूप गुण (उपकारक) प्रत्यक्ष में होता है; जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसके बहुत से या अधिकतर अवयवों के साथ नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर ही उस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य उत्पन्न

---

1. तथा च स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम् । — वे० प० पृ० 322
2. तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगत-गुणाभावात् ।

— वे० प० पृ० 322

होता है । अनुमिति में भी `सल्लिङ्ग परामर्श' अर्थात् यथार्थ लिङ्ग का ज्ञान गुण है । हेतु के सत्य होने तथा उसका पक्ष पर ज्ञान होने पर अनुमिति का प्रामाण्य होता है । इसी प्रकार, उपमिति के प्रामाण्य के लिए `सादृश्यज्ञान' गुण अपेक्षित है । यथार्थ योग्यताज्ञान रूप गुण से शाब्द प्रमा का प्रामाण्य सिद्ध होता है । अतएव सभी प्रकार की प्रमाओं के प्रामाण्य में ज्ञानसामान्य सामग्री से अतिरिक्त गुण की अपेक्षा होती है— नैयायिकों के इस मत का खण्डन वेदान्तपरिभाषाकार ने किया है । उनके अनुसार, `भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' रूप गुण प्रत्यक्ष प्रमा का जनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें व्यभिचार है । `रूप में अवयव नहीं होते' यह तो दोनों ही मतों में स्वीकृत है । अतएव निरवयव रूपादि के बहुत से अवयवों के साथ नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष ही नहीं कहा जा सकता । किन्तु, रूपादि का प्रत्यक्ष भी होता है और प्रत्यक्ष प्रमा का प्रामाण्य भी सिद्ध होता है । इसी प्रकार निरवयव आत्मा में भी `भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' सम्भव नहीं है तथापि उसका प्रत्यक्ष दोनों ही सिद्धान्तों में स्वीकृत है । यहाँ गुण के न रहने पर भी प्रामाण्य रहता है अतः नैयायिकों का मत समीचीन नहीं है । इसी प्रकार, पीलिया-ग्रस्त व्यक्तियों को समस्त पदार्थ पीले ही दृष्टिगत होते हैं । शंख श्वेत होता है किन्तु पीलिया के रोगी को उसके पीलेपन का ही ज्ञान होता है । यहाँ पर शङ्ख के अनेक भूयोऽवयवों के साथ उस पुरुष के इन्द्रियों का सन्निकर्ष रूप गुण भी रहता है किन्तु ज्ञान प्रामाण्य नहीं है । अतः गुण को प्रामाण्य का जनक नहीं माना जा सकता । इसी रीति से अनुमित्यादि प्रमाओं में भी नैयायिकों ने जो सल्लिङ्ग परामर्शादि गुण माना है वह भी अनुपपन्न है क्योंकि कहीं-कहीं भ्रम में ही `यह धूम है' इत्याकारक ज्ञान होता है । यहाँ पर यदि किसी अन्य कारण से ही, दैवयोगात् अग्नि प्राप्त हो जाय तब तो असल्लिङ्ग परामर्श के होते हुए भी अनुमिति

---

१. नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः । रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात् । सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वाच्च ।

— वे० प० पृ० 322

प्रमात्मक होती है ।[1] अतः वेदान्तपरिभाषा के अनुसार, सल्लिङ्ग परामर्श को गुण नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार उपमिति तथा शाब्दबोध में भी समझना चाहिए क्योंकि कभी-कभी सादृश्य भ्रम से भी यथार्थ उपमिति होती है तथा विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त हरि शब्द के उच्चारण से भ्रमवश 'सिंह'-- ऐसा तात्पर्य भ्रम भी होता है । इस कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणादि सामग्री से न होकर स्वतः रूप होती है अर्थात् प्रामाण्य की जनक ज्ञानजनक सामग्री ही है । प्रमाओं में कोई एक गुण सम्भव नहीं है और न ही विशेष प्रमा के प्रामाण्य के लिए विशेष गुण की अपेक्षा है । नैयायिकों की शङ्का है कि जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य भी होता है -- ऐसा मानने पर तो भ्रम को भी प्रमा मानना होगा क्योंकि रजत का रजतरूप से ज्ञान होते समय इन्द्रियादि जो ज्ञान की सामग्री होती है वही शुक्तिका में रजतभ्रम होते समय भी होती है ; अतएव रज्जु में सर्प का ज्ञान भी सत्य मानना होगा । वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि स्वतः प्रामाण्य मानने पर भी अप्रमा में प्रमात्व नहीं हो जाता क्योंकि प्रमा में जैसे अन्य ज्ञानसामग्री की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दोषाभावरूप सहकारिकारण को भी अङ्गीकार किया गया है ।[2] शुक्ति में जब रजत का ज्ञान होता है तब नेत्र में तिमिरादि कोई दोष उत्पन्न हो जाता है जिससे समस्त कारणों में से दोषाभाव रूप एक कारण अप्रमा में न होने से प्रमा रूप ज्ञान नहीं हो पाता है । इस पर कोई यदि यह कहे कि ज्ञानजनक सामग्री के अतिरिक्त दोषाभावरूप दूसरे कारण को स्वीकार करने पर तो परतस्त्व ही प्राप्त होता है, तो

---

१. अत एव न सल्लिङ्गपरामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्ग-परामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात् ।

- वे० प० पृ० ३२८

२. न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम् । दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात् ।

- वे० प० पृ० ३२८

यह उचित नहीं है क्योंकि आगन्तुक भावरूप कारण की अपेक्षा रहने पर ही परतस्त्व प्राप्त होता है।[1] नैयायिक भी गुण रूप आगन्तुक भाव कारणों की अपेक्षा होने से ही परतः प्रमात्व की उत्पत्ति मानते हैं अतः दोषाभावरूप (अभाव-रूप) सहकारी कारण को स्वीकार करने पर भी परतस्त्व सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार 'प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है' इसकी सिद्धि होती है।

प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति की भाँति ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) भी स्वतः ही होती है और यही स्वतोग्राह्यत्व है। स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या इस प्रकार है — 'दोष' का अभाव रहते हुए यावत् (समस्त) स्वाश्रय का[2] (प्रमा का) ग्रहण करने वाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाना (जानना)। इसको इस प्रकार समझना चाहिये — प्रमा का धर्म ही प्रमात्व या प्रामाण्य है। जिस प्रकार घट का घटत्व धर्म घट में ही रहता है उसी प्रकार प्रमात्व (प्रामाण्य) भी प्रमानिष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) होता है। यह ज्ञान (प्रमा) [illegible] है जो वृत्तिज्ञान ही है। इस कारण स्व (प्रामाण्य) का आश्रय (आधार) वृत्तिज्ञान ही होता है। इसलिए स्वाश्रय शब्द से प्रामाण्य का आश्रय जो घटाकाराकारित वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यरूप है, उसका ग्रहण करना चाहिए। उन समस्त वृत्ति ज्ञानों का ग्राहक साक्षिज्ञान ही है। इस कारण साक्षिज्ञान ही स्वाश्रयग्राहक (वृत्तिज्ञान-ग्राहक) सामग्री है। यह साक्षिज्ञान ही [illegible] है जिसके द्वारा वृत्तिज्ञानरूप[3] प्रमा का जब ज्ञान होता है तभी तन्निष्ठ प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। नैयायिकों के इस मत का निरास हो गया कि प्रामाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान प्रमाण से)

---

1 न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम् । आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात् । वे-प-पृ ३२८

2. ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः । स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम् ।

— वे० प० पृ० ३२८.

3. स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते ।

— वे० प० पृ० ३२८

होता है। नैयायिकों का पूर्वपक्ष है कि ऐसा मानने पर तो भ्रम तथा प्रमा दोनों ही ज्ञानों में वृत्तिज्ञान तो रहता ही है तथा उसका ग्राहक साक्षिज्ञान भी होता है। इस प्रकार किसी भी ज्ञान के साक्षिज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते ही उसके प्रामाण्य का निश्चय होना ही चाहिए। तब 'यह ज्ञान सत्य है या असत्य' इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए, जबकि होता है। इस आक्षेप के समाधानार्थ वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि संशय स्थल में संशय के अनुरोध से अनभ्यास आदि दोष के होने से प्रामाण्य का ही ग्रहण नहीं होता है। अतः 'दोषाभाव से युक्त स्वाश्रयग्राहकसामग्री के द्वारा ग्राह्य होना' -- यही स्वतोग्राह्यत्व का निष्कृष्ट लक्षण है। अथवा, यावत् जो आश्रय, उसका ग्राहक जो साक्षिज्ञान उससे ग्राह्य (ज्ञात होने योग्य) होना ही स्वतोग्राह्य का लक्षण किया जाय। संशय स्थल में प्रामाण्यग्रह होने की योग्यता तो रहती है किन्तु दोष के प्रतिबन्धक होने से प्रामाण्य का निश्चय न होकर संशय उत्पन्न होता है। अतः 'दोषाभाव' विशेषण न देने पर भी योग्यत्व सहित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण युक्त है, और प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है -- यह सिद्ध हुआ

श्लोकवार्तिक भी प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के स्वतस्त्व का ही समर्थन करता है। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा स्वतः गृहीत भी होता है क्योंकि ज्ञान में यदि अपने विषय का अवधारण करने की शक्ति

---

1. न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्त्वेन दोषाभावसहितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्याग्रहात्।

— वे० प० पृ० 328

2. यद्वा - यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहात् न संशयानुपपत्तिः।

— वे० प० पृ० ~~328~~ 329

'स्वतः' नहीं है तो वह शक्ति किसी अन्य के द्वारा ज्ञान में उत्पन्न नहीं की जा सकती है ।[1] मीमांसकों का यह कहना नहीं है कि ज्ञानगत प्रामाण्य या प्रमात्व किसी से उत्पन्न ही नहीं होता । उनके मत में तो ज्ञान के जितने उत्पादक कारण हैं उन्हीं कारणों से प्रामाण्य का भी उत्पादन होता है । प्रामाण्य के उत्पादन में उन कारणों से भिन्न किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं है । प्रमाज्ञान में जो विषयावधारण शक्ति स्वरूप प्रामाण्य है वह 'गुण' (नैयायिकाभिमत) की अपेक्षा नहीं रखता है । कोई भी ज्ञान केवल इसीलिये प्रमा है कि वह 'बोधात्मक' है । ज्ञान का यह स्वाभाविक प्रमात्व अथवा विषय के असाधारण धर्मस्वरूप 'तथात्व' के अवधारण की क्षमता केवल दोष के ज्ञान से ही हटती है । अर्थात् दोष के रहने पर ज्ञान अपने विषय को उस रूप में प्रकाशित करता है जो रूप उस विषय का नहीं है । दूरत्वादि दोषों के रहने से शुक्ति उन रजतत्वादि रूपों से प्रकाशित होती है जो वस्तुतः शुक्ति के धर्म नहीं है ।[2] तस्मात् ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः है ।

इस प्रकार, वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में ही प्रामाण्य के स्वतस्त्व का समर्थन प्राप्त होता है । सभी प्रमाणों में प्रामाण्य को स्वतः मानने के साथ ही दोनों ही ग्रन्थों में अप्रामाण्य परतः स्वीकृत है, जिसका वर्णन अपेक्षित है ।

८.१.२ अप्रामाण्यपरतस्त्व विचार —

वेदान्तपरिभाषाकार अप्रामाण्य को परतः ही उत्पन्न मानते हैं । किञ्च, उसका ज्ञान भी परतः ही होता है । ज्ञान सामान्य सामग्री से ही उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने

---

१. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते । - श्लो० वा० चोदना ४७.

२. तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोह्यते ॥ - श्लो० वा० चोदना ५३

पर तो प्रमा में भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा।[1] विदित है कि भ्रम तथा प्रमा दोनों में ज्ञान सामान्य की इन्द्रियादि सामग्री ही होती है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति 'दोष' से ही होती है[2] जो ज्ञानसामान्यसामग्री से नितान्त भिन्न है। यह अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है। रजतत्वाभाववान् पदार्थ में रजतत्वप्रकारक ज्ञान का होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है जिसे 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम्' कहते हैं। इस अप्रामाण्य का ज्ञान यावत् स्वाश्रयग्राहकसामग्री अर्थात् साक्षिज्ञान से नहीं होता है क्योंकि अप्रामाण्य के लक्षण में 'तदभाववत्व' रूप अवयव का वृत्ति के द्वारा ज्ञान नहीं हो पाता अतएव उसका साक्षिज्ञान भी नहीं होता है। भ्रमस्थल में शुक्ति के आकार की वृत्ति न होकर रजताकार की वृत्ति बनती है। इस प्रकार रजतत्वाभावाकार वृत्ति के न बनने पर उसका साक्षिभास्यत्व कैसे सम्भव है? अतः अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता है। इस अप्रामाण्य का ज्ञान विफल प्रवृत्ति आदि हेतुओं से होने वाले अनुमान प्रमाण से होता है। यह अनुमान इस प्रकार होता है--'मुझे जो पहले रजत का ज्ञान हुआ था उसे अप्रामाण्य होना चाहिए क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, जिस प्रकार रज्जु में पहले सर्प का ज्ञान होता है।' इस प्रकार अप्रामाण्य विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है।[4] तस्मात् अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है तथा परतः ही ज्ञात होता है। नैयायिक भी अप्रामाण्य की

---

1. अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः।

   - वे० प० पृ० ३३१

2. किन्तु दोषप्रयोज्यम्।

   - वे० प० पृ० ३३१

3. नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्। अप्रामाण्यघटकतदभाववत्वा-देर्वृत्त्यनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्।

   - वे० प० पृ० ३३१

4. किन्तु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानुमित्यादिविषय इति परत एवाप्रामाण्य-मुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

   - वे० प० पृ० ३३१

उत्पत्ति तथा उसके ज्ञान को परत: मानते हैं । इस विषय में दोनों ही सिद्धान्तों में साम्य दृष्टिगत होता है क्योंकि दोनों ने ही अप्रामाण्य का निर्धारण विफल-प्रवृत्तिमूलक अनुमान से किया है ।

श्लोकवार्तिक में भी अप्रामाण्य के परतस्त्व का निरूपण किया गया है । दोष के रहने पर ज्ञान अपने विषय को यथार्थ रूप[1] में नहीं प्रकाशित कर पाता है वरन् `अर्थ के अन्यथात्व` को ही प्रकाशित करता है । इस अप्रामाण्य का ज्ञान `दोष ज्ञान` से होता है अत: अप्रामाण्य परत: होता है । अप्रामाण्य दोष से उत्पन्न होता है तथा दोष ज्ञान से ही जाना जाता है -- इसकी पुष्टि करने के लिए कुमारिल ने अप्रामाण्य का त्रिभागमूलक स्पष्टीकरण किया है । उनके अनुसार, अप्रामाण्य (१) मिथ्यात्व (विपर्यय), (२) अज्ञान तथा (३) संशय-- तीन प्रकार का होता है । इनमें विपर्यय तथा संशय ये दोनों ही `भाव` स्वरूप हैं । अत: इनकी उत्पत्ति दोषघटित ज्ञानोत्पादक सामग्री से ही हो सकती है । अज्ञान अर्थात् अज्ञानस्वरूप अप्रमा में दोषों का व्यापार मीमांसक मत में अमान्य है क्योंकि अज्ञानस्वरूप अप्रमा की उत्पत्ति ज्ञान के सामान्य कारणों के अभाव से ही हो जाती है ।[2] इस प्रकार, अप्रमा केवल अभाव रूप ही होती है यह मानकर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि अप्रमा के अभावरूप होने के कारण इसकी उत्पत्ति दोष से नहीं हो सकती या यह दोष से नहीं ज्ञात हो सकती । अप्रमा अभावरूप होने के साथ ही संशय तथा विपर्यय रूप भी होती है । अत: दोष के कारण अप्रामाण्य की

---

१. अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोह्यते ।

- श्लो० वा० चोदना सू० की द्वि० पं०

२. अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयै: ।
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात् ।।
अज्ञाने तु दोषाणां व्यापारो नैव कल्प्यते ।
कारणाभावतस्तेन सिद्धं तदनपेक्षकम् ।।

- श्लो० वा० चोदना ५४-५५

उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों ही सम्भव है । इस अप्रामाण्य का ग्रहण दो प्रकार से होता है (१) बाधकप्रत्यय तथा (२) दोषज्ञान के द्वारा । जहाँ शुक्तिका में `इदं रजतम्` इस प्रकार का ज्ञान होता है किन्तु बाद में `नेदं रजतम्` इस ज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान का बाध होता है वहाँ `बाधकप्रत्यय` से अप्रामाण्य को पहचाना जा सकता है । पीलिया का रोगी नेत्र में दोष के कारण ही श्वेत शङ्ख को पीला देखता है, अत: वहाँ अप्रामाण्य का ग्रहण `दोष-ज्ञान` से होता है । [1]

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अप्रामाण्य के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है तब तो उस ज्ञान के लिये भी किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी और इस प्रकार मीमांसकों ने जो नैयायिक सम्मत परत: प्रामाण्य के सन्दर्भ में अनवस्था दोष का उद्भावन किया है वह उनके अपने मत (अप्रामाण्य को परत: मानने में) में भी होने लगेगा । अत: नैयायिकों का आक्षेप है कि मीमांसकों के परत: अप्रामाण्य के सिद्धान्त में भी अनवस्था उत्पन्न होती है । इसके समाधानार्थ कुमारिल का कथन है कि केवल पराधीनता से ही अनवस्था दोष नहीं होता है । उसके लिए आवश्यक है कि सजातीय `पर` की अधीनता रहे । जैसे — किसी भी ज्ञान की सत्यता दूसरे ज्ञान की सत्यता पर आधारित हो । नैयायिकों के प्रमाण को गुणाधीन मानने में यह अनवस्था प्रसक्त होती है क्योंकि प्रमात्व के अवधारणार्थ गुणावधारण की अपेक्षा होती है, एवं गुणावधारण स्वरूप प्रमा के लिए दूसरे गुण का अवधारण आवश्यक होता है । यदि कोई अप्रामाण्य ज्ञान किसी अन्य अप्रामाण्य ज्ञान पर आधारित होता तब तो अनवस्था का प्रसङ्ग उठ सकता था किन्तु वस्तुत: होता यह है कि पूर्वज्ञान (इदं रजतम्) का अप्रामाण्य निर्धारित होता है बाधज्ञान से अथवा दोषज्ञान से; जो स्वत: प्रामाण्य एवं यथार्थ है । यथार्थ ज्ञान से अप्रामाण्य का ज्ञान होने पर तो अनवस्था की बात ही नहीं उठती ।[2]

---

1. तत्र दोषान्तरज्ञानं बाधबोधौ परा न चेत् । — श्लो० वा० चोदना सू० २ पृ० पं०
2. दोषतस्त्वप्रमाणत्वे स्वत: प्रामाण्यवादिनाम् ।
   गुणज्ञानानवस्थावन्न दोषेषु प्रसज्यते ॥
   ज्ञातांशिकविज्ञानादपेक्ष्येव स्वप्रमाणता ।
   — श्लो० वा० चोदना ५६-५७ की पृ० पं०

प्रश्न हो सकता है कि शुक्तिका में जो 'इदं रजतम्' यह भ्रम होता है उसका बाध बाद में होने वाले 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से क्यों होता है ? इसके विपरीत 'नेदं रजतम्' इसी ज्ञान का बाध प्रथमोत्पन्न 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से क्यों नहीं होता है ? इसका समाधान है कि स्वेच्छा से इसमें बाध्यबाधकभाव नहीं लगाया जा सकता है वरन् जब तक[1] पहले ज्ञान का बाध नहीं होता है तब तक दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । उत्तरवर्तित्व तथा प्रमात्व दोनों ही 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान में रहते हैं अत: इससे पूर्ववर्ती 'इदं रजतम्' रूप ज्ञान का बाध हो जाता है ।

यदि एक ज्ञान का बाध दूसरे ज्ञान से होता है तथा दूसरे ज्ञान के विषय में संशय होने पर तीसरे ज्ञान द्वारा प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्धारण होने पर और इसी क्रम से आगे चलते रहने पर तो अनवस्था दोष हो सकता है -- यह आक्षेप समीचीन नहीं है । अप्रामाण्य के ग्राहक दोषज्ञान की उक्त परम्परा तीन या चार ज्ञानों से आगे तक नहीं जाती ।[2] इसी से किसी एक ज्ञान में प्रामाण्य दृढ़ हो जाता है, जो वस्तुत: स्वत: है । जिस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में दोष का ज्ञान[3] नहीं निविष्ट रहता है उस ज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं करनी चाहिए । जहाँ द्वितीय ज्ञान के पश्चात् उसमें अप्रामाण्य का सम्पादन करने वाला कोई तीसरा दोषज्ञान अथवा 'नेदं तथा' इस आकार का बाधज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ दूसरे ज्ञान से पहले ज्ञान का बाध होता है तथा प्रथम ज्ञान का अप्रामाण्य

----

१. पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति ।

— श्लो० वा० चोदना ५७ की द्वि० पं०

२. एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावदेवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥

— श्लो० वा० चोदना ६१

३. दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शङ्क्या निष्प्रमाणता ।

— श्लो० वा० चोदना ६० की द्वि० पं०

गृहीत होता है । ऐसे स्थलों में द्वितीय ज्ञान यथार्थ रहता है किन्तु जहाँ तीसरे ज्ञान की उत्पत्ति हो जाय अर्थात् द्वितीय ज्ञान के कारणीभूत दोषों का ज्ञान हो जाय अथवा 'नेदं तथा' इत्याकारक साक्षात् बाधकज्ञान ही उत्पन्न हो जाय तब तो पहले ज्ञान से द्वितीयज्ञान का बाध और उसी से उसका अप्रामाण्य गृहीत होता है ।[1]

सांख्याचार्य प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को ही स्वतः मानते हैं । प्रामाण्य के विषय में 'स्वतस्त्व' स्वीकार करने पर भी वार्तिककार तथा परिभाषाकार से इनकी भिन्नता है । सांख्याचार्य यह मानते हैं कि कारणगत गुण तथा दोष के द्वारा प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की अभिव्यक्ति होती है । अत्यन्त असद् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती । जिस प्रकार कारक-व्यापार से घटादि की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार कारणगत गुण-दोषों के द्वारा प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की भी अभिव्यक्ति होती है । इसका खण्डन भाट्ट मीमांसक इस प्रकार करते हैं कि यदि असद् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती तब घटादि की अभिव्यक्ति के विषय में जिज्ञासा होती है कि वह कारक-व्यापार से पूर्व मृत्पिण्ड में है अथवा नहीं ? यदि है तब तो कारक-व्यापार ही व्यर्थ है और यदि नहीं है तब असद् अभिव्यक्ति की कारक-व्यापार से उत्पत्ति माननी होगी, असद् की उत्पत्ति का प्रतिषेध कैसे करेंगे ? अतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों स्वतः नहीं हो सकते । किन्च, जल तथा अग्नि के समान अत्यन्त विरुद्ध प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का समावेश एक ही ज्ञान में नहीं हो सकता ।[2] वार्तिककार का भी कथन है —
'स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात् '।[3]

---

1. तत्र दोषान्तरज्ञानं बाधधीर्वा परा न चेत् ।
   तदुत्पत्तौ द्वितीयस्य मिथ्यात्वादाद्यमानता ॥
   - श्लो० वा० चोदना ५८

2. द्रष्टव्य - शा० दी० पृ० १००-०१

3. श्लो० वा० चोदना० ३४

इस प्रकार सांख्यों का स्वत: प्रामाण्यवाद वार्तिककार को अभीष्ट नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचना स्पष्ट करती है कि वेदान्तपरिभाषा तथा श्लोकवार्तिक दोनों में स्वत: प्रामाण्य के साथ ही साथ अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परत: माना गया है । इस विषय में दोनों ही ग्रन्थों में साम्य स्पष्ट लक्षित होता है । नैयायिकों ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परत: ही माना है । वेदान्तपरिभाषाकार नैयायिकों की ही भाँति प्रवृत्ति के विफल हो जाने पर हुए अनुमान के आधार पर अप्रामाण्य का पारतन्त्र्य स्वीकार करते हैं किन्तु वार्तिककार बाधकज्ञान को अथवा दोषज्ञान को अप्रामाण्य के परतस्त्व का प्रयोजक मानते हैं । मीमांसकों ने स्वत: प्रामाण्यवाद की स्थापना करके अपने वेद-अपौरुषेयत्व के सिद्धान्त को सुरक्षित किया है । चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिक वेदों के प्रामाण्य पर विश्वास तो करते हैं किन्तु कुछ दार्शनिकों ने वेद को पौरुषेय माना है तथा कुछ ने अपौरुषेय । नैयायिक वेदों का प्रामाण्य परत: मानते हैं क्योंकि उन्होंने वेदों के पौरुषेयत्व को स्वीकार करके ईश्वर को उसका रचयिता बताया है ।[1] मीमांसक मतानुसार 'वेद अपौरुषेय है' और इस प्रकार वेदों का प्रामाण्य स्वत: ही है क्योंकि वेद किसी की कृति नहीं है । वेदान्तपरिभाषाकार का इस विषय में विलक्षण मत है । उसके अनुसार वेद परमेश्वरकर्तृक होने पर भी अपौरुषेय है क्योंकि परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में पूर्वसर्ग के समय वेदों की सिद्ध आनुपूर्वी के समान ही जिसकी आनुपूर्वी है ऐसे वेद की रचना की । अत: इसमें सजातीय उच्चारण की अपेक्षा जिसे नहीं ऐसे उच्चारण का विषयत्व नहीं है । 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण का विषय होना' ही पौरुषेयत्व है ।[2] इसी अर्थ में वेदान्तपरिभाषाकार ने वेद को अपौरुषेय माना है । अपौरुषेय होने

---

१. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।

— वै० सू०

२. द्रष्टव्य वे० प० पृ० २६१

पर भी, उनके मत में वेद नित्य नहीं है क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है और यह बात श्रुति प्रमाण से भी सिद्ध है। मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद स्वीकार करने से ही वेदों के अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त अक्षुण्ण रहता है। वेदान्त-सिद्धान्त में भी भाट्ट मत का अनुसरण करते हुए ही स्वतः प्रामाण्यवाद की स्थापना की गयी है जिसको पूर्णं विवेचित किया जा चुका है।

-०-

---

१. अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात् ।
उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्-ऋग्वेदः' (बृ० २-४-१०) इत्यादि श्रुतेः ।
— वे० प० पृ० २६५-६६

सहायक ग्रन्थसूची

संस्कृत ग्रन्थ

१- अर्थ-सङ्ग्रह: - हिन्दी व्याख्याकार डा० वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी ।

२- अर्थदीपिका - त्रिदण्ड, श्री दक्षिणामूर्ति सं० महाविद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी ।

३- अद्वैतसिद्धि: - मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई । बालबोधिनी टीका सहित, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी ।

४- अभावविमर्श: - दीपकघोष, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय:, वाराणसी ।

५- अष्टाध्यायीसूत्रपाठ: - सम्पादक श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़ (सोनीपत- हरियाणा) ।

६- ऋग्वेद - सायणभाष्यसहित । वैदिक संशोधनमण्डल, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना ।

७- कारिकावली - चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

८- काशिका - युनिवर्सिटी आफ केरल, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम ।

९- काव्यप्रकाश: - चौखम्भा विद्याभवन, चौक, वाराणसी ।

१०- चित्सुखी - (तत्त्वप्रदीपिका) चित्सुख, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

११- छान्दोग्योपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर ।

१२- जैमिनिसूत्र - 'मीमांसादर्शनम्' - सुभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

१३- तर्कसङ्ग्रह - दीपिका तथा न्यायबोधिनी टीका सहित ।
भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना ।
- अन्नम्भट्ट । चौखम्बा लोकभारतीय प्रकाशन,
वाराणसी ।

१४- तर्कभाषा - केशव मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस,
वाराणसी ।

१५- तत्त्वकौमुदी-प्रभा - डा० आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन,
८ बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद ।

१६- तत्त्वसङ्ग्रह - २ भाग, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका सहित । गायकवाड़
ओरियण्टल सीरीज़ बड़ौदा ।

१७- तत्त्वचिन्तामणि - चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

१८- तन्त्रवार्तिक - श्री सद्गुरु पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।

१९- तात्पर्यटीका - चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी ।

२०- तैत्तिरीयसंहिता - आनन्द आश्रम प्रेस, पूना ।

२१- न्यायबिन्दुटीका - डा० श्रीनिवास शास्त्री द्वारा सम्पादित,
साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ ।

२२- न्यायमञ्जरी - जयन्तभट्ट, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

२३- न्यायभाष्य - 'न्यायदर्शनम्', सम्पादक-स्वामी द्वारिकादास
शास्त्री बौद्ध भारती, वाराणसी ।

२४- न्यायरत्नाकर - पार्थसारथि मिश्र, रत्ना पब्लिकेशन्स ।

२५- न्यायरत्नमाला - पार्थसारथि मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

२६- न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका- बि० इं० कलकत्ता ।

२७- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली- हिन्दी व्याख्या डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

२८- न्यायसूत्र - 'न्यायदर्शनम्' में सम्पादक-स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी ।

२९- पञ्चदशी - विद्यारण्यस्वामी, भार्गव पुस्तकालय, गाय घाट, वाराणसी ।

३०- पञ्चपादिका - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

३१- प्रकरणपञ्चिका - का० हि० वि० वि०, काशी ।

३२- प्रमाणमीमांसा - स्वोपज्ञवृत्ति तथा भाषा टिप्पण सहित । सिं० जै० ग्र०, अहमदाबाद ।

३३- प्रमाणवार्तिक - मनोरथवृत्ति सहित । का० जा० अ० सं० पटना ।

३४- प्रमाणवार्तिकभाष्यम् - का० जा० अ० सं० पटना ।

३५- प्रामाण्यवादः - गदाधर भट्टाचार्य कृत चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी ।

३६- प्रशस्तपादभाष्य - प्रशस्तपादाचार्यविरचित । श्रीधरकृत न्यायकन्दली टीका युक्त । सम्पादक - श्री दुर्गाधर झा । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

३७- बृहती - ऋजुविमला टीका सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

३८- बृहदारण्यकोपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर ।

३९- बौद्धधर्मदर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

४०- ब्रह्मसिद्धि व्याख्या - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

४१- ब्रह्मसूत्र - ४ भाग, अ० गु० काशी ।

४२- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् - सत्यानन्दी दीपिका सहित, गोविन्दमठ,टेढ़ीनीम, वाराणसी ।

४३- भामती व्याख्या - चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी

४४- मणिप्रभा - 'वेदान्तपरिभाषा', खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई ।

४५- मानमेयोदय: - नारायणभट्टप्रणीत, अद्वैतप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी ।

४६- मीमांसादर्शनम् - मीमांसा सूत्र तथा शाबरभाष्यसहित, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

४७- मुण्डकोपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर ।

४८- योगसूत्र - योगभाष्य सहित, डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य, वशिष्ठ प्रकाशन, इलाहाबाद-२ ।

४९- योगभाष्य - व्याख्याकार डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य शास्त्री, वशिष्ठ प्रकाशन, इलाहाबाद -२ ।

५०- वाक्यपदीयम् - चौ० प्र० वाराणसी ।

५१- विवरणप्रमेयसंग्रह - विद्यारण्य मुनि, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय,काशी ।

५२- वेदान्तकल्पतरु - चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

५३- वेदान्तपरिभाषा - शिखामणि तथा मणिप्रभा टीका सहित। खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई।

- श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- श्री विद्यानन्द जिज्ञासु, मिश्रपोखरा, वाराणसी।
- श्री सदानन्द झा, अखिलभारतीय संस्कृत परिषद्, हजरतगंज, लखनऊ।

५४- वेदान्तसार: - हिन्दी व्याख्याकार डा० सन्त नारायण श्रीवास्तव्य, पीयूष प्रकाशन, ३१६ सुभाषनगर, इलाहाबाद

५५- वैशेषिकसूत्रोपस्कार: - हिन्दी व्याख्याकार आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।

५६- व्योमवती - चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

५७- शाबरभाष्य - 'मीमांसादर्शनम्' में, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

५८- शास्त्रदीपिका - हिन्दी टीकाकार डा० किशोरदास स्वामी, श्री लाडुकेडा संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी।

५९- शिखामणि - खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई।

६०- श्लोकवार्तिक - मीमांसाश्लोकवार्तिक, हिन्दी व्याख्याकार पं० दुर्गाधर झा, कामेश्वरसिंह-दरभंगासंस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा।

- न्यायरत्नाकर सहित, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी।

६१- सर्वदर्शनसंग्रह - माधवाचार्य, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

६२- सांख्यकारिका - माठरवृत्ति सहित । चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

६३- सांख्यकारिका (गौडपादभाष्यसहित)- चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

६४- सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह - अप्पयदीक्षित कृत । चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी ।

१२- भारतीय दर्शन - राधाकृष्णन

१३- भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - संगमलाल पाण्डेय, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद ।

१४- भारतीय दर्शन की रूपरेखा - प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

१५- भारतीय दर्शन में अनुमान - डा० ब्रज नारायण शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल ।

१६- वेदान्तदर्शन - आशुतोष शास्त्री

१७- वेदान्तज्ञानमीमांसा - घनश्यामदास रजमल महाकाली, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल ।

१८- वैशेषिक दर्शन- तुलनात्मक अध्ययन - डा० बद्री नाथ सिंह, आशा प्रकाशन, गोदौलिया, वाराणसी ।

आंग्ल ग्रन्थ

1. A Critical Survey of Indian Philosophy - Chandradhar Sharma, Moti Lal Banarasi Das, Varanasi.
2. A History of Indian Philosophy - S.N. Dasgupta, Cambridge University Press.
3. An Introduction to 'Sankara Theory of Knowledge - N.K. Devaraja, Moti Lal Banarasi Das, Varanasi.
4. Epistemlogy of the Bhatta School of Purvamimansa -- G.P. Bhatta, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.
5. History of Indian Epistemology -- Jwala Prasad, Delhi 1958.
6. Indian Philosophy -- S. Radhakrishnan, The Mac Millan Company, New York (1951)
7. Indian Psychology Cognition Vol.I -- Dr. J. N. Sinha, Sinha Publishing House, Calcutta.
8. Indian Realism -- Dr. J. N. Sinha, Moti Lal Banarasi Das, Varanasi.
9. Methods of Knowledge - Swami Satprakashananda, George Allen & Unwin Ltd.
10. Negation -- Janki Ballabha Bhattacharya, Indian studies, Calcutta.
11. Nyaya Theory of Knowledge - S.C. Chatterjee, Calcutta, 1950.

12. Outline of Indian Philosophy - M. Hiriyanna; George Allen & Unwin Ltd. London (1932).

13. Philosophy of dwait Vedanata - T. P. Ramachandran.

14. Purva Mimansa & Its Sources - G. N. Jha, Benaras Hindu University.

15. Slokavartika -- G.N. Jha, Sri Satguru Publications, Delhi.

166 Studies in Vedantism -- K. C. Bhattacharya, Calcutta University, 1909.

17. The Essentials of Philosophy -- M. Hiriyanna, George Allen & Unwin Ltd.

18. The Karma Mimansa -- A.B. Keith

19. The Problem of Meaning In Indian Philosophy-

20. The Six ways of Knowing - D.M. Dutta, University of Calcutta.

21. The System of Vedanta - Paul Deussen, Moti Lal Banarasi Das Varanasi.

22. Upamana In Indian Philosophy - Dr. Shiva Kumar, Eastern Book Linkers, Delhi.

23. Vedanta Explained -- V.H. Date, Booksellers Publishing Company, Mohandale Bldg. V.P. Road, Bombay 4 (1954).

24. Vedanta - Paribhasa -- Swami Madhavananda, Advaita Ashram, 5 Delhi Entally Road, Calcutta.